निर्मल वर्मा का रचना संसार

CREATIVE WORKS OF NIRMAL VARMA

THESIS
SUBMITTED TO
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
FOR THE DEGREE OF
DOCTOR OF PHILOSOPHY

By

वासंती जे.

VASANTHI J.

Dr. A. ARAVINDAKSHAN
Professor & Head of the Department

Prof. (Dr.) N. MOHANAN
Supervising Teacher

DEPARTMENT OF HINDI
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
COCHIN - 682 022

2002

CERTIFICATE

This is to certify that this thesis is a bonafide record of work carried out by **Ms.Vasanthi.J** under my supervision for Ph.D (Doctor of Philosophy) Degree and no part of this has hitherto been submitted for a degree in any university

DR.N.MOHANAN
(Professor)
Supervising Teacher

DEPARTMENT OF HINDI
Cochin University of Science and Technology
Kochi – 682 022

PLACE: Kochi
DATE: 30-12-2002

DECLARATION

I hereby declare that the work presented in this thesis is based on the original work done by me under the guidance of **Dr.N.Mohanan** , Professor, Department of Hindi, Cochin University of Science and Technology, Cochin- 682 022, and no part of this thesis has been included in any other thesis submitted previously for the award of any degree in any university

Vasanthi. J

VASANTHI. J

DEPARTMENT OF HINDI
Cochin University of Science and Technology
Kochi – 682 022

PLACE: Kochi
DATE 30-12-2002

पुरोवाक्

हर रचना रचनाकार का अपने परिवेश के साथ के सार्थक संवाद का परिणाम है । इसी संवाद के तहत रचना की जीवन्तता बनी रहती है और वह समग्र रूप में जीवन की व्याख्या बन जाती है । इसलिए हर रचना की तह में कोई न कोई जीवनदृष्टि अवश्य विद्यमान रहती है । गोया कि एक रचना के अध्ययन का मतलब एक जीवनदृष्टि का अध्ययन है । साहित्यिक शोध का मकसद् भी यह पहचानने का परिश्रम होना चाहिए कि किसी रचनाकार की संपूर्ण रचना में या किसी समय-विशेष की रचना में जीवन को किस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है । यह एक प्रकार से बिताए गए जीवन को पुन: जीना है साथ ही उसकी जीवन्तता एवं विशेषता को पकड पाना भी । क्योंकि जीवन निरन्तर बदलता ही रहता है और उसके साथ जीवन यथार्थ भी । इसलिए हर युग के साहित्य के विश्लेषण या विवेचन की अपनी प्रासंगिकता अवश्य रहती है ।

हिन्दी साहित्य जगत में स्वाधीनता परवर्ती परिस्थति की अलग भूमिका है । क्योंकि उसने तमाम जीवन दृष्टि को तथा तत्कालीन साहित्यिक मान्यताओं को आमूल बदल दिया । इसलिए बीसवीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध की साहित्यिक मान्यताओं एवं प्रवृत्तियों को निर्धारित करने में स्वाधीनता परवर्ती भारतीय परिवेश की भूमिका निर्विवाद की है । इसने पूर्ववर्ती साहित्यिक प्रवृत्तियों से भिन्न प्रवृत्तियों को जन्म दिया । यहाँ आधुनिक मनुष्य अपनी तमाम विसंगतियों को झेलते हुए खडा है । यहीं से एक नितांत भिन्न संवेदना की शुरूआत होती है । हिन्दी साहित्य की सभी विधाओं में इस नयी संवेदना की झलक अवश्य दिखायी देती है । उस समय की सृजनात्मक प्रतिभाओं ने इस नयी संवेदना को पूरी गहराई के साथ आत्मसात कर लिया है । अज्ञेय, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, मन्नू भण्डारी, कमलेश्वर, उषा प्रियंवदा, निर्मल वर्मा जैसे प्रतिभाधनी रचनाकारों ने इसको प्रश्रय दिया । इन सभी लोगों ने साहित्य की लगभग सभी विधाओं में अपनी

लेखनी चलायी है और उसे एक नयी दिशा देने की कोशिश भी की है । इनमें निर्मल वर्मा को छोडकर अन्य लगभग सभी रचनाकारों की साहित्यिक देन पर काफी अध्ययन एवं अनुसन्धान हो चुके हैं । पर निर्मल वर्मा की साहित्य –साधना पर अनुसंधानपरक दृष्टि पर्याप्त मात्रा में नहीं पड़ी है । उनका रचना संसार बहुत विशाल है । उपन्यास, कहानी, निबन्ध, यात्रासंस्मरण, डायरी आदि लगभग सभी गद्य विधाओं पर उन्होंने अपनी लेखनी चलायी है । इसलिए उनका साहित्य अवश्य गहन अध्ययन की माँग रखनेवाला है । अत: मैंने अपने शोध-प्रबन्ध का विषय रखा है - 'निर्मल वर्मा का रचना संसार'। अध्ययन की सुविधा को लक्ष्य करके प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को पाँच अध्यायों में विभाजित किया गया है ।

पहला अध्याय है निर्मल वर्मा का कृति-व्यक्तित्व । निर्मल वर्मा आधुनिकता के दौर का रचनाकार है । इस अध्याय में उनके जीवनवृत्त, व्यक्तित्व तथा रचनाव्यक्तित्व को पकड पाने का प्रयास किया गया है। दूसरा अध्याय है –निर्मल वर्मा का कथासाहित्य : उपन्यास । इसमें निर्मल वर्मा के उपन्यासों का प्रवृत्तिगत विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । तीसरा अध्याय है - निर्मल वर्मा का कथासाहित्य : कहानी । इसमें उनकी कहानियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन हुआ है । चौथा अध्याय है - निर्मल वर्मा के निबन्ध । भले ही निर्मल वर्मा एक कथाकार के रूप में जाने जाते हैं तथापि वे एक सशक्त निबन्धकार भी है । उनके निबन्धों में साहित्य, कला, राजनीति, संस्कृति, समाज जैसे विषयों पर उनका प्रौढ चिंतन अभिव्यक्त हुए हैं । इस अध्याय में उनके इस चिंतनपरक रचनाओं का विश्लेषण किया गया है । पाँचवाँ अध्याय है - निर्मल वर्मा के यात्रावृत्त और डायरी । निर्मल वर्मा ने देश-विदेश की यात्रा बहुत की है । इसका प्रभाव उनके रचनात्मक व्यक्तित्व पर भी पड़ा है । हर यात्रा एक अनुभव है । डायरी व्यक्ति के अंतरंग क्षणों का खुलासा है । दोनों आत्मांश से भरपूर रचनाएँ हैं । इस अध्याय में इस आत्मांश से भरी रचनाओं का अध्ययन किया गया है । अंत में उपसंहार है । इसमें

निर्मल वर्मा के व्यक्तित्व तथा साहित्य के अध्ययन के उपरान्त का निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, कोच्चिन के प्रोफेसर डॉ. एन. मोहनन जी के निदेशन एवं निरीक्षण में तैयार किया गया है । समय समय पर उन्होंने जो प्रेरणा मुझे दी है उसके कारण ही मैं आज इस मंजिल तक पहूँच सकी हूँ । इसके लिए मैं उन्हें धन्यवादस्वरूप जो भी कहूँ वह अपर्याप्त ही रहेगा । उन्होंने मुझे जो बहुमूल्य सलाह एवं सुझाव दिए हैं उनसे ही यह कार्य निर्विघ्न संपन्न हो सका है । मैं उनके मंगलमय जीवन की कामना करती हूँ । मेरी यही प्रार्थना है कि आगे भी मेरे जीवन के हर कदम पर उनके आशीष बना रहें । मैं हमेशा उनका आभारी हूँ ।

विभागाध्यक्ष और मेरे इस शोध का विषय विशेषज्ञ प्रोफेसर डॉ. अरविन्दाक्षन जी के प्रति भी मैं अपना आभार प्रकट करती हूँ । उन्होंने अपने उदार एवं प्रतिभापूर्ण मार्गदर्शन से मेरे शोधकार्य को साध्य तक पहुँचाने में बहुत सहायता दी है ।

हिन्दी विभाग के प्रोफेसर डॉ. शशिधरन जी के प्रति भी मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ कि जिन्होंने मेरे इस शोधकार्य की संपूर्ति में वांछित सहयोग दिया है ।

मेरे अन्य सभी गुरुजनों के प्रति भी मैं अपना आभार प्रकट करती हूँ जिनके आशीर्वाद एवं प्रेरणा से मैं आज इसके काबिल बनी हूँ ।

हिन्दी विभाग के कार्यालय और पुस्तकालय के कर्मचारियों के प्रति भी मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ ।

मेरी हर छोटी-मोटी ज़रूरतों के लिए बिना किसी हिचक के सदा उपस्थित मेरे मित्र संध्या, मनोज, जयलक्ष्मी और अंजली को भी मैं अपना धन्यवाद देती हूँ ।

कोच्चिन विश्वविद्यालय के मेरे अध्ययन काल के हर क्षणों में, चाहे वह खुशी का हो या दुःख का, मुझे सान्त्वना एवं प्रेरणा देते रहनेवाली मेरी प्रिय मित्रा सुबिता को भी मैं अपना धन्यवाद प्रकट करती हूँ।

अपने उन समस्त आत्मीय जनों एवं शुभचिन्तकों को भी मैं धन्यवाद देती हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से मुझे सहायता पहूँचायी है।

यह शोध-प्रबन्ध मेरे पूज्य पिताजी और दादीमाँ को समर्पित है जिन्होंने मुझे इसके काबिल बना दिया।

मैं यह शोध-प्रबन्ध सविनय विद्वानों के सामने प्रस्तुत कर रही हूँ। इसकी गलतियों एवं खामियों के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।

सविनय,

वासंती. जे.

हिन्दी विभाग,
कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी
विश्वविद्यालय, कोच्चिन – २२
तारीख : ३० दिसम्बर २००२.

विषय - सूची

पृष्ठ-संख्या

पहला अध्याय 1 - 47

निर्मल वर्मा का कृति - व्यक्तित्व

जीवनवृत्त – प्रभाव की दिशाएँ – सृजन के क्षेत्र में – उपन्यास

वे दिन (१९६४)लाल टीन की छत (१९७४)

एक चिथडा सुख (१९७९) – रात का रिपोर्टर (१९८९)

अंतिम अरण्य (२०००) – कहानी - परिन्दे (१९५९)

जलती झाडी (१९६५)पिछली गर्मियों में (१९६८)

बीच बहस में (१९७२) – कव्वे और कालापानी (१९८३)

सूखा तथा अन्य कहानियाँ (१९९५) – निबन्ध- शब्द और स्मृति (१९७६)

कला का जोखिम (१९८१) – ढलान से उतरते हुए (१९८५)

इतिहास स्मृति आकांक्षा (१९९१) – भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र में

(१९९१)शताब्दी के ढलते वर्षों में (१९९५) – दूसरे शब्दों में (१९९७)

आदि अन्त और आरंभ (२००१) – यात्रावृत्त और डायरी - चीडों पर चाँदनी

(१९६४)हर बारिश में (१९७०) – धुन्ध से उठती धुन (१९९७)

दूसरी दुनिया (१९७८) पुरस्कार- रचनादृष्टि - निष्कर्ष ।

दूसरा अध्याय 48 - 103

निर्मल वर्मा का कथासाहित्य : उपन्यास

स्वातन्त्र्योत्तर परिवेश और उपन्यास साहित्य – अलगाव

स्त्री-पुरुष संबन्धों के बदलते आयाम – मृत्यु का एहसास

संरचनात्मक विशेषताएँ – कथ्यपरक नवीनताएँ

पात्र परिकल्पना - आत्मकथात्मक शैली – पूर्वदीप्ति शैली

पृष्ठ-संख्या

डायरी शैली – स्मृति चित्रों का प्रयोग – भाषा
प्रतीकात्मक भाषा – संकेतात्मक भाषा – काव्यात्मकता
चित्रात्मकता – शब्दात्मकता –निष्कर्ष ।

तीसरा अध्याय 104 - 161

निर्मल वर्मा का कथासाहित्य : कहानी

कहानी की विरासत –नयी कहानी की पृष्ठभूमि – नयीकहानी का परिवेश
नयी कहानी की प्रवृत्तियाँ –यथार्थ का चित्रण – अनुभव की प्रामाणिकता
परिवेश –तटस्थतापूर्ण दृष्टि –मूल्य विघटन – शिल्प और भाषागत नवीनता
नयी कहानी का नयापन और पुरानी कहानी से अलगाव – अकेलापन
मानवीय संबन्धों के बदलते आयाम – विसंगति का बोध
अस्मिता की तलाश - संरचना पक्ष – चेतना प्रवाह व पूर्वदीप्ति शैली
प्रतीकात्मक शैली - प्रलापीय शैली –आत्मकथात्मक शैली
घटना की सूक्ष्मता कहानियों की भाषिक संरचना –संगीतात्मकता
सांकेतिकता - प्रतीकात्मकता – बिम्बात्मकता – निष्कर्ष ।

चौथा अध्यास 162 - 221

निर्मल वर्मा के निबन्ध

साहित्य और समाज – लेखक की स्वतंत्रता – साहित्य की उपयोगिता व
प्रासंगिकता – रचनाकार – उपन्यास सम्बन्धी दृष्टिकोण – आलोचना संबन्धी
मान्यताएँ – संस्कृति संबन्धी अवधारणा – धर्म-संबन्धी अवधारणा
इतिहास और परंपरा – सृजनात्मक क्षण – निष्कर्ष ।

पृष्ठ-संख्या

पाँचवाँ अध्याय 222 - 256

निर्मल वर्मा के यात्रावृत्त और डायरी

युद्ध की स्मृतियाँ – जगहों के स्मृतिचिह्न – आइसलैण्ड – बर्लिन

कोपनहेगन – अमस्टरडम – स्कॉटलैण्ड – रिक्याविक

चेकोस्लोवेकिया – प्रतिभावों की सहस्थिति –लैक्सनेस

काफ्का और चापेक – चेखॅव – डायरी – अकेलेपन का अनुभूति स्तर

आत्मनिरीक्षण - मृत्यु - दर्शन - प्रतिबद्धता – लिखने के पीछे

संगीत और चित्रकला – आस्था –निष्कर्ष ।

उपसंहार 257 - 259

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची 260 - 268

पहला अध्याय

निर्मल वर्मा का कृति - व्यक्तित्व

एक लेखक की असली चुनौती अपने अनुभवों को ईमानदारी के साथ संप्रेषित करने में है । इस चुनौती का, अपनी रचनाओं के ज़रिए, सामना करनेवाले आधुनिकता-दौर के अग्रणी रचनाकार हैं - निर्मल वर्मा । उनके अपने शब्दों में यह बात स्पष्ट हो उठती है कि उनकी रचनाएँ अपने भोगे हुए यथार्थ का आत्मिक संप्रेषण हैं, "मुझे लगता है कि अब तक मैं जो लिखता आ रहा हूँ उसमें मेरा आत्मजीवन ही सबसे अधिक रूपान्तरित होकर आता रहा है ।"[१]

जीवनवृत्त

निर्मल वर्मा का जन्म ३ अप्रैल सन् १९२९ को शिमला में हुआ । उनका बचपन शिमला की पहाडियों में बीता । इसी कारण पहाड उनके अवचेतन में इस तरह बस गया है कि उनके संपूर्ण कृतित्व में पहाडी प्रतीक, पहाडी वातावरण और पहाडी सौन्दर्य प्रतिस्पन्दित है । निर्मल का बचपन बडे लाडचाव में बीता । शरारती होने के बावजूद निर्मल के लिए माता-पिता के लाड की इंतहा नहीं थी ।

निर्मल ने दिल्ली के सेन्ट स्टीफेन्स कालेज से इतिहास में एम.ए. करने के बाद कुछ वर्ष दिल्ली में ही अध्यापन का कार्य किया । उसके बाद सन् १९५९ में चेकोस्लोवाकिया के प्राच्य विद्या संस्थान और चेकोस्लोवाक लेखक संघ के निमंत्रण पर वे चेक गए । वहाँ जाकर उन्होंने चेक साहित्य का अध्ययन किया और कई चेक कथाकृतियों का हिन्दी में अनुवाद भी । यूरोप प्रवास के दौरान कुछ वर्ष लन्दन में 'टाइम्स ऑफ इंडिया' के लिए वहाँ की सांस्कृतिक-राजनीतिक समस्याओं पर लेख और रिपोर्ताज़ लिखते रहे । सन् १९७२ में वे भारत वापस आये । सन् १९७७ में अमेरिका के आयोवा में आयोजित इंटरनेशनल राइटिंग प्रोग्राम में हिस्सेदारी की । सन् १९८१-८३ में भोपाल के निराला

---

१. (सं.) अशोक वाजपेयी - निर्मल वर्मा, पृ.३९

सृजनपीठ का अध्यक्ष पद संभाला । इसी अवसर पर बी.बी.सी. के चैनल-४ ने उनके व्यक्तित्व पर एक फिल्म प्रसारित की । इन्स्टीट्यूट ऑफ कंटेंपरेरी आर्टस (आई.सी.ए.) ने अपने वीडियो संग्रहालय के लिए उनका एक लंबा इन्टरव्यू रिकार्ड किया ।

प्रभाव की दिशाएँ

बचपन से ही निर्मल को अपने परिवार में एक स्वस्थ साहित्यिक वातावरण मिला था । उनके परिवार के सभी सदस्य साहित्य में रुचि रखनेवाले थे । साहित्य में निर्मल की रुचि बढ़ानेवाला पहला व्यक्ति उनके दादाजी ही थे । उन्होंने अपनी गरीबी के दिनों में भी दोनों लडकों को याने निर्मल के बाबूजी और ताया जी को बी.ए. तक पढ़ाया था, जो उन दिनों बहुत बडी बात थी । वे खुद ज़्यादा पढ़े-लिखे नहीं थे, पर किताबों और पत्रिकाओं से उनका गहरा लगाव था । उनकी आँखें भी थोडी कमज़ोर थीं । इसलिए वे अकसर अपने पोते निर्मल से कल्याण-पत्रिका के लेख पढ़कर सुनाने को कहते थे, जो हर महीने आती थी । एक लेख या कहानी पढ़कर सुनाने का पारिश्रमिक एक आना था । वह उनके लिए एक खज़ाने के समान था । लेकिन मुश्किल यह थी कि निर्मल पढ़ते-पढ़ते पत्रिका में इतना रम जाते थे कि सारा हिसाब भूल जाते थे । इस इकन्नी के एवज में निर्मल ने रामायण, महाभारत तथा पुराणों की बहुत सारी कहानियाँ पढ़ ली थीं । इस प्रकार पढ़ने की रुचि उन्हें बचपन से ही प्राप्त हुई थी ।

फिर उनके लिए प्रेरक शक्ति रही उनकी बडी बहिन । वे अब जीवित नहीं हैं । उन्होंने ही पहली बार निर्मल को पुस्तकों, लेखकों तथा अन्य बहुत सारी चीज़ों के बारे में नयी-नयी जानकारियाँ दी थीं । वह बहुत मेधावी छात्रा थी । हर साल पुरस्कार के रूप में उन्हें जो पुस्तकें मिलती थीं उन पर सबसे पहले निर्मल अपना कब्जा जमा लेते थे । वह 'वीणा', 'सरस्वती', 'माधुरी' जैसी पत्रिकाएँ मँगवाती थीं । उस परिवार के सभी सदस्य बडी उत्सुकता से इन पत्रिकाओं की प्रतीक्षा किया करते थे । इस प्रकार परिवार में ही एक

अच्छा साहित्यिक वातावरण मिलने के कारण निर्मल में लिखने-पढ़ने की रुचि बढ़ती रही । सन् १९५० के आसपास दिल्ली का वातावरण भी बहुत उत्साहवर्द्धक था । निर्मल ने जब लिखना शुरू किया तब वे वहाँ की एक छोटी सी स्थानीय संस्था के सदस्य थे । वह संस्था प्रसिद्ध नहीं थी । फिर भी वहाँ नियमित रूप से गोष्ठियाँ होती थीं जिनमें उस समय के उभरते हुए रचनाकार अपनी कहानियाँ, कविताएँ आदि पढ़ा करते थे । तदुपरान्त उनपर चर्चाएँ होती थीं । इन्हीं उत्साहवर्द्धक परिस्थितियों ने मिलकर निर्मल वर्मा के रचनाकार को रूपायित किया था । इन बाह्य तत्वों के अलावा निर्मल जी की प्रतिभा को उद्दीप्त करनेवाले कुछ आभ्यंतर तत्व भी है । उनमें दो घटनाएँ प्रमुख हैं । इसके बारे में उन्होंने स्वयं टिप्पणी की है, "जीवन में दो अन्तर्मुखी अनुभव समय के सुदूर कूलों से उठकर बहते हुए जब एक दूसरे से मिलते हैं तो एक तीसरी सृष्टि का जन्म होता है एक व्यक्ति के भीतर लेखक का जन्म शायद इसी सृष्टि में होता है ।"[२] पहली घटना है शिमला की एक शाम की । वे अपने मित्रों के साथ फुटबॉल खेल रहे थे । डूबते हुए सूरज और इस समय पहाडों में फैली अद्भुत लालिमा को देखकर वे एकदम ठिठक गये । वे उस समय बहुत छोटे थे लेकिन वह दृश्य उनमें आदिम स्मृति की तरह रूढ़ हो गया था । वे देर तक उस दृश्य को देखते रहे । बरसों बाद जब उन्होंने इलाहाबाद के कुंभ मेले में संगम पर उतरते हुए सूरज को देखा तो उन्हें कुछ वैसा ही अनुभव हुआ ।

इसी प्रकार की और एक घटना भी है । शिमला में निर्मल का घर दूसरी मंजिल में था । एक शाम खेलने के बाद निर्मल घर की सीढ़ियाँ चढ़ रहे थे तो किसी की आवाज़ सुनायी पड़ी कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की मृत्यु हो गयी । यह खबर सुनकर उनके मन में एक अनजाना दु:ख छा गया । उस समय उन्होंने ठाकुर की कोई कविता या कहानी पढ़ी थी । उसने नन्हे निर्मल को इतना प्रभावित किया कि उनकी मृत्यु की खबर से बेहद विह्वल हो उठे । वे विह्वल क्षण आज तक वे भूल नहीं पाए । वर्षों बाद जब उन्होंने 'गीतांजली' पढ़ी

---

२. निर्मल वर्मा - आदि अन्त और आरम्भ, पृ.१०८

तो वह उनके लिए अनिर्वचनीय अनुभव ही लगी । रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गद्य कविताओं का निर्मल पर गहरा प्रभाव पड़ा है । क्योंकि हायर सेकेंडरी की परीक्षाओं के बाद जब वे अपने तीन मित्रों के साथ श्रीनगर गये तो 'गीतांजली' भी उनके साथ थी । उन्होंने कुछ दिनों के लिए एक 'हाउस बोट' किराए पर ली थी । दूसरे मित्र जब नीचे सोते रहते तब भी निर्मल जी कॉपी लेकर 'हाउस-बोट' की छत पर जाकर पढ़ा करते थे । चारों तरफ फैली झील और उसमें तैरते बजरे थे । वहीं बैठकर निर्मल ने अपने जीवन की पहली कविताएँ लिखी थीं । ये कविताएँ बिल्कुल 'गीतांजली' के तर्ज पर लिखी गयी थीं । वर्षों बाद जब निर्मल आइसलैंड के एक सुदूर गाँव गए तो एक किसान गृहिणी उन्हें देखकर हैरान हो गयी । वे अपनी ज़िन्दगी में पहली बार एक इंडियन को देख रही थी । उस समय वह दौड कर अपने घर के भीतर से एक किताब ले आयी जिसे वह बहुत ज़्यादा पसन्द करती थी और बाइबिल की तरह रोज़ पढ़ा करती थी । वह 'गीतांजली' का आइसलैंडी अनुवाद था । निर्मल जी से कोई उनके लिखने के स्रोतों के बारे में पूछे तो उन्हें ठाकुर जी की किताबों की याद आती है जिन्होंने उन्हें लिखने की 'तीसरी सृष्टि'[३] प्रदान की थी ।

शिमला में निर्मल के घर की निचली मंज़िल में एक कुमाऊनी परिवार रहता था । उस घर की बिटिया निर्मल की छोटी बहन की सहेली थी । सब लोग उसे बच्ची पुकारते थे । एक दिन बहन से पता चला कि बच्ची ने अपनी एक छोटी सी लाइब्रेरी खोली है और वहाँ से कोई भी किताब ले सकता है । यह सुनकर निर्मल विस्मित रह गए । क्योंकि तब तक उन्होंने स्कूल की लाइब्रेरी ही देखी थी जहाँ हर शनिवार को शास्त्रीजी किताबें बाँटते थे । वह भी प्रेमचन्द, सुदर्शन आदि की कहानियाँ सिर्फ उन लडकों को मिलती थी जिन पर शास्त्रीजी की कृपा दृष्टि पडती थी । बाकी लडके तरसते रह जाते थे । बच्ची की नई लाइब्रेरी निर्मल के लिए सचमुच ही एक विस्मयकारी अनुभव थी । निर्मल अपनी बहन के साथ बच्ची की लाइब्रेरी गए । वहाँ पर किताबों से भरी अलमारी थी और सामने बच्ची

---

३. निर्मल वर्मा - आदि अन्त और आरम्भ, पृ.१०९

बैठी थी । चारों तरफ पडोस के बच्चे बैठकर पढ़ रहे थे । वहाँ कोई भी अपनी पसन्द की किताबें लेकर एक हफ्ते के लिए अपने पास रख सकता था । वहीं से निर्मल ने पहली बार मैक्सिम गोर्की का उपन्यास 'माँ' चेखव और टॉलस्टॉय की कहानियों का हिन्दी अनुवाद, कुप्रिन का 'गाडीवालों का कटरा' आदि पढ़े थे । इस प्रकार साहित्य के विशाल क्षेत्र में उनका प्रवेश हुआ था - "बच्ची की छोटी सी लाइब्रेरी धीरे-धीरे मेरी यूनिवर्सिटी बनती गयी, जिसमें मैं ने साहित्य के जादुई संसार का पाठ पढ़ना सीखा था ।"[४]

अंग्रेज़ी और हिन्दी के कई लेखकों का निर्मल पर गहरा प्रभाव पड़ा है । फ्रांसीसी लेखिका और चिन्तक सीमोन बॉवर की पुस्तकें निर्मल के लिए प्रेरणा स्रोत रही हैं, खासकर उनके निबंध संग्रह 'द नीड फॉर रूट्स' और 'वेटिंग ऑन गॉड' । इसमें आधुनिक युग की जडविहीनता और आध्यात्मिक शून्यता पर गहन चिन्तन किया गया है । फ्रांसीसी अस्तित्ववादी लेखकों में कामू का प्रभाव ज़्यादा पडा है जिन्होंने निर्भीकता से फ्रांस के सुविधापरस्त वामपंथी लेखकों का विरोध किया था । ऑर्वेल का प्रांजल पारदर्शी गद्य उन्हें बरसों बाद आज भी पढ़ते हुए अच्छा लगता है । कथा साहित्य में उन्नीसवीं शती के लेखक टॉलस्टॉय दस्तायेवस्की, तुर्गनेव, चेखव आदि उनके प्रिय लेखक हैं । वर्जीनिया वूल्फ को पढ़ना उनके लिए एक अद्वितीय अनुभव था । निर्मल जी ने जब लिखना शुरू किया तब प्रेमचन्द के उपन्यास, रवीन्द्रनाथ ठाकुर की सभी प्रकार की रचनाएँ, शरद बाबु के उपन्यास आदि ने उन्हें गहरे में प्रभावित किया था । ज़िन्दगी की जटिल वास्वविकताओं से परिचित होने पर अज्ञेय, जैनेन्द्र जैसे लेखकों के रचना-संसार से विशेष सरोकार होने लगा । कहने का मतलब यह हुआ कि विशाल एवं गहन अध्ययन-मनन-चिंतन के परिणामस्वरूप ही निर्मल की प्रतिभा निखर उठी है । विश्व-साहित्य की अद्वितीय प्रतिभाओं से उन्होंने ऊर्जा अवश्य ग्रहण की है ।

---

४. आजकल - जूलाई २०००, पृ.७

सृजन के क्षेत्र में

निर्मल के लेखन से जुडी दो घटनाएँ प्रमुख हैं । निर्मल का स्कूली सहपाठी था अमृत । अमृत फुटबॉल का अच्छा खिलाडी था और हर शाम वे दोनों मिलकर स्कूल के मैदान में फुटबॉल खेलते थे । एक दिन उन दोनों ने मिलकर एक निर्णय लिया कि तीन दिन के बाद वे एक एक कहानी लिख लाएँगे । जिस दिन कहानी दिखाने का वादा था उस दिन अमृत स्कूल नहीं आया । दिन बीतते गए पर वह नहीं आया । निर्मल ने सोचा कि बीमारी का बहाना बनाकर न आया होगा । धीरे-धीरे निर्मल उसकी अनुपस्थिति का आदी होता गया । एक दिन शिमला में मूसलाधार वर्षा हुई । उस दिन वह स्कूल नहीं जा सका । उस दिन किसी ने खबर दी कि अमृत का देहान्त हो गया है । शिमला की वह धुँधली दूपहर और अमृत का किशोर ताज़ा चेहरा वे आज भी भूल नहीं पाये हैं ।

दूसरी घटना उस समय हुई जब निर्मल जी सेन्ट स्टीफेन्स कालेज में इतिहास में एम.ए. कर रहे थे । उन दिनों कालेज से एक हिन्दी पत्रिका निकलती थी । उस पत्रिका की संपादिका मिस. राज़दान थी । वे एक काश्मीरी पण्डित थीं । वे उसी कालेज में संस्कृत में एम.ए. कर रही थीं । तब निर्मल ने अपने भाई रामकुमार, जो कि कहानियाँ लिखा करते थे, के कहने पर और मिस राज़दान के फरमाइश पर जीवन में पहली बार उस पत्रिका में प्रकाशित करने के लिए कहानी लिखी । उसके पहले स्कूल के दिनों में भी कहानियाँ लिखी थीं । पर वे सब अन्य लेखकों की कहानियों से प्रेरित होकर या उनकी नकल में लिखी गयी थी । यह उनकी पहली कहानी थी जो उन्होंने व्यवस्थित रूप में लिखी थी । वह कहानी उस साल कालेज-मैगज़ीन में प्रकाशित हुई । संपादिका के कज़िन निर्मल के बडे अच्छे मित्र थे । बाद में उनसे पता चला कि वह मिरांडा कालेज में संस्कृत की प्राध्यापिका नियुक्त हो गयी है । फिर वह बीमार हो गयी और उसने कालेज से

छुट्टी ले ली । एक दिन उनके कज़िन से ही पता चला कि अब वह नहीं रहीं । ये घटनाएँ निर्मल के सृजनात्मक सन्दर्भों के साथ गहरे में जुडी हुई हैं । शायद इन दो घटनाओं के कारण ही उनकी रचनाओं में मृत्यु की छाया मँडराती हुई लगती है, "मृत्यु की छाया बहुत पहले से एक अनलिखी लिपि की तरह मेरे लिखे शब्दों के बीच मँडराती रही ।"[५]

कुछ अन्य घटनाएँ भी हैं जिन्होंने उनके लेखन को एक विशेष प्रकार के प्रतीकों से भर दिया था । उनके बचपन के दिनों में शिमला के सुदूर कोनों से विचित्र लोग आया करते थे । सिर पर कपडों की गठरी थामे चीनी व्यापारी आते थे । निर्मल की माँ और बहिनें उनसे घंटों बैठकर मोलभाव का खेल खेलती थीं । ऐसे दुपहरों में कभी-कभी तिबत्त की सुदूर ऊँचाइयों से लम्बी जटाओंवाले लोग तिबत्ती मसाले, दवाएँ और जडी बूटियाँ लाते थे । उन्हें 'लामा सिप्पी' कहकर बुलाते थे । ऐसे ही एक मुस्लिम साँई आते थे, जो अकसर लम्बा कोट पहनते थे । उनकी लम्बी कत्थई रंग की दाढ़ी किसी प्राचीन युग के मसीहा की याद दिलाती थी । वे एक दो महीने के लिए निर्मल के घर ठहरते थे । निर्मल और उनकी बहनों के लिए उस फकीर की गोद में बैठना विचित्र गन्धों के बीच उनकी बहुत धीमी आवाज़ को सुनना आदि सुखदायी अनुभव थे । कुछ दिनों के बाद जैसे वे आए वैसे ही गायब हो जाते थे, "पहाड, भिक्षुक, लामा, फकीर, सूनी दुपहरें ये ऐसे बिंब हैं, जिनके बीच मेरी कल्पना ने अपना परिवेश निर्मित किया था .... बचपन के बिंब, जिन्हें शब्दों में ढालते हुए समूचा जीवन बीत जाता है और फिर भी लगता है, जो कुछ बना है, उससे बहुत कम है, जो अछूता, बंजर, आकारहीन पडा है ।"[६]

वैसे तो कॉलेज के दिनों में उन्होंने कुछ कहानियाँ लिखी थीं । लेकिन व्यवस्थित एवं गंभीर रूप से लिखना सन् १९५१-५२ में शुरू किया था । उस समय भैरवप्रसाद गुप्त द्वारा इलाहाबाद से निकलनेवाली पत्रिका 'कहानी' में कहानियाँ प्रकाशित होने लगीं ।

---

५. निर्मल वर्मा - आदि अन्त और आरम्भ, पृ.११३
६. वही, पृ.११३

किन्तु सही अर्थ में निर्मल जी की पहली कहानी 'रिश्ते' हैदराबाद से निकलनेवाली सुप्रसिद्ध पत्रिका 'कल्पना' में प्रकाशित हुई थी । उसके लिए निर्मल जी को पचास रुपये भी मिले जो उन दिनों बडी रकम थी ।

एक गंभीर लेखक बनने का इरादा निर्मल जी के मन में नहीं था । बचपन में वे नौसेना के किसी समुद्री जहाज़ का कप्तान बनने का सपना देखा करते थे । कुछ बडे होने पर उन्हें अपनी सीमाओं का पता चला और किसी सुदूर गाँव में स्कूली टीचर बनने की रोमांटिक आकांक्षा मन में पालने लगे जो उनमें चेखव और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कहानियाँ पढ़कर उत्पन्न हुई थीं । प्राग जाने पर वहाँ पुरानी किताबों की दूकानों में नौकरी करने का विचार कई बार आया । लंदन में भयानक बेरोज़गारी के दिनों में लाइब्रेरियन या लाइब्रेरी असिस्टेंट बनने के अनेक विफल प्रयास किए । पर अनजाने ही सृजनात्मक शक्ति उनके भीतर बढ़ रही थी । धीरे धीरे वे रचनाकार बनते गए, गंभीर रचनाकार ।

उपन्यास

उपन्यास के क्षेत्र में निर्मल वर्मा का सृजनात्मक व्यक्तित्व अधिक निखर उठा है । अब तक उनके पाँच उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं । 'वे दिन' (१९६४), 'लाल टीन की छत' (१९७४), 'एक चिथडा सुख' (१९७९), 'रात का रिपोर्टर' (१९८९) और 'अंतिम अरण्य' (२०००) ।

वे दिन (१९६४)

निर्मल वर्मा का सर्वप्रथम एवं सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है 'वे दिन' । यूरोप के महायुद्धोत्तर पीढ़ी के संत्रास, घुटन, शून्यता, मूल्य हीनता, अकेलापन, मृत्यु का आतंक और संबन्धों की अर्थहीनता आदि को रेखांकित करनेवाला उपन्यास है - 'वे दिन' । उपन्यास के शीर्षक से ही स्पष्ट है कि उसका संबन्ध अतीत की घटनाओं से है, पात्रों के

अतीत से है। यहाँ पात्रों का यह अतीत सुखद स्मृतियों से संबद्ध नहीं है बल्कि युद्ध की अभिशप्त नियति से आक्रान्त है। उपन्यास की कथा भूमि प्राग है और उसका समय तीन दिनों में सिमटा हुआ है। आस्ट्रियन पति-परित्यक्ता युवती रायना अपने एकमात्र पुत्र को लेकर प्राग आती है। वहाँ तीन दिन रहती है। उपन्यास का कथानायक 'मैं' एक भारतीय छात्र है। वह अवकाश के दिनों में विदेशी टूरिस्टों के लिए 'गाइड' का काम करता है। वह तीन दिन रायना के साथ रहता है। वियना लौट जाने के पहले एक रात वह 'मैं' के साथ गुज़ारती है।

'मैं' और रायना की कथा के समानान्तर टी.टी., फ्रांज और मारिया की कहानी भी चलती है। हर एक पात्र अपने परिवेश से कटा हुआ है। उपन्यास में निर्मल जी के जीवन का एक अंश भी जुड़ा हुआ है। अपने यूरोप प्रवास के दौरान निर्मल जी रोम गए थे। ये उनकी बेकारी के दिन थे, इसलिए पैसे की कमी थी। वे एक लुटे पिटे होटल में रह रहे थे। शाम को कॉफी पीने निकले तो इंगलैंड की एक महिला से मुलाकात हुई। बातचीत के दौरान उस महिला ने बताया कि वे एक टूरिस्ट ऑफिस में काम कर रही हैं। एक टूरिस्ट गाइड के रूप में वे वहाँ आयी हैं। भारत आने पर रोम में मिली उस महिला को लेकर प्राग शहर के परिप्रेक्ष्य में एक कथा निर्मल जी के मन में रूपायित होने लगी, उसी का परिणाम है 'वे दिन'। उपन्यास का सीधा संबन्ध न तो उस महिला से है और न ही रोम से। लेकिन इन सब ने मिलकर उसके लिए उपयुक्त रूपबन्ध तैयार किया है। वास्तव में इसका सीधा संबन्ध अपने जीवनानुभव से ही है। निर्मल के ही शब्दों में, ''वे दिन' तीन-चार दिनों की कहानी है। जहाँ एक व्यक्तित्व दूसरे व्यक्तित्व से मिलता है। दोनों अपने अतीत को एक-दूसरे के साथ जीते हैं। उनके बीच एक संबन्ध स्थापित होता है और फिर वे अलग हो जाते हैं। इस समूचे परिवेश में लेखक जो कुछ दिनों के अनुभवों से

जीवन के बारे में सत्य प्राप्त करता है, वही उस उपन्यास की बात है ।''[७] ज्योतिष जोशी के अनुसार - ''वे दिन' में नि:सन्देह युद्धोत्तर यूरोपीय मानवीय नियति की वह सूक्ष्म और पारदर्शी तस्वीर मिलती है जिससे तत्कालीन स्थितियों को न केवल समझने में मदद मिलती है बल्कि महसूस कर सकने की स्थितियाँ भी बनती है ।''[८] इस प्रकार यह उपन्यास तत्कालीन सामाजिक यथार्थ से आतंकित मानव जीवन की भीषणता का सही दस्तावेज़ निकलता है ।

लाल टीन की छत (१९७४)

निर्मल वर्मा का दूसरा उपन्यास है 'लाल टीन की छत' । इस उपन्यास में काया नामक एक छोटी लडकी की कथा है जो किशोरावस्था और यौवन के बीच की वय: सन्धि में है । वह शिमला के एक पहाडी शहर में अपने छोटे भाई, माँ और नौकर मँगतू के साथ लाल टीन की छतवाले मकान में रहती है । उसकी पडोसी है मिस जोसुआ । यह कथा उन दिनों की है जब सर्दियों में काया के बाबु जी काम के सिलसिले में दिल्ली गए हुए थे और उसकी माँ गर्भवती थी । इस स्थिति में काया अपने को बिलकुल अकेला पाती है और अपने चारों ओर एक अलग दुनिया बनाकर भ्रम, आतंक और रहस्य की अनेक अनुभूतियों से गुज़रती है । इस उपन्यास के तीन खण्ड है - 'एक साँस में', 'शहर से ऊपर' और 'तसल्ली से परे' । यह उपन्यास भी निर्मल जी के जीवन से संबन्धित है । बचपन में वे भी काया की मन:स्थिति से गुज़रे हैं, ''काया मेरे बचपन के सब स्मृति अंशों का एक पूंजीभूत चरित्र है ।''[९]

---

७. निर्मल वर्मा - मेरे साक्षात्कार, पृ.१०१-१०२
८. दस्तावेज़ - जूलाई-सितम्बर - १९९९, पृ.२६
९. निर्मल वर्मा - दूसरे शब्दों में, पृ.१५६

निर्मल जी के परिवार की दिक्कत यह थी कि वह निरंतर उन्मूलित रहा । क्योंकि उनके पिता अंग्रेज़ों के ज़माने में सरकारी अफसर थे । अत: उन्हें शिमला और दिल्ली में रहना पडता था । इसलिए उनका परिवार पूरी धार्मिक पीठिका से अलग हो गया, पिता के परिवार से भी और माँ के परिवार से भी । उन्मूलन का यही भाव 'लाल टीन की छत' में भी आया है । उसी प्रकार शिमला में बहुत ऊँचाई पर एक काली मन्दिर था । देवी काली के प्रति उनकी बहन की गहरी आस्था थी । इसलिए हर शाम निर्मल उनके साथ वहाँ जाते थे । उस मंदिर का वातावरण बिल्कुल शान्त था । उनकी बहन वहाँ बैठी रहती और वे छुपा-छुपाई का खेल खेला करते थे । बिल्कुल यही वातावरण हम 'लाल टीन की छत' में भी देख सकते हैं । उसी प्रकार इसमें पहाडिन स्त्री का जो प्रसंग आता है वह भी निर्मल का अपना अनुभव है । वे कहते हैं, "लाल टीन की छत की पहाडिन स्त्री को उसके चाचा उसके गाँव से ले आए थे । वर्षों पहले शहर के लोग पहाडों पर आते थे और हज़ार दो हज़ार रुपये देकर औरतों को खरीदकर ले आते थे । वे औरतें उनकी मिस्ट्रेस की तरह रहती थीं । ऐसा मैंने अपने परिवार में भी कई लोगों के साथ देखा है । उन औरतों का जीवन उस परिवार के साथ संलग्न भी रहता था और उसके बाहर भी । उस परिवार में रहनेवाले बच्चों के लिए इस तरह की औरतें या इस तरह के व्यक्ति हमेशा एक अजीब कौतूहल और वेदना जगाते हैं ।"[१०] बिल्कुल यही स्थिति काया के चाचा के घर में भी है । पहाडिन स्त्री नथवाली औरत के रूप में आती है और चाचा का बेटा बीरू उससे नफरत करता है । इस प्रकार इस उपन्यास में भी निर्मल वर्मा ने अपने अनुभवों को ही अभिव्यक्ति दी है । लेकिन निजी अनुभव के परे अपने समय के जीवन यथार्थ को नए ढंग से नई संवेदना के साथ अभिव्यक्त करने का कार्य भी इस उपन्यास में हुआ है । अत: कुल

---

१०. निर्मल वर्मा - मेरे साक्षात्कार, पृ.७९

मिलाकर यह उपन्यास "उपन्यास के पुराने तंत्र को तोडने की कोशिश है, आधुनिकता धारणा के स्तर पर न होकर संवेदना के स्तर पर है ।"[११]

एक चिथडा सुख (१९७९)

'एक चिथडा सुख' निर्मल वर्मा का तीसरा उपन्यास है । इस उपन्यास का केन्द्र दिल्ली है । उपन्यास की नायिका बिट्टी इलाहाबाद की है । वह स्वतंत्र जीवन बितानेवाली औरत है । वह डैरी के निर्देशन में नाटक करती है । इस उपन्यास के अन्य पात्र हैं इरा और नित्तीभाई । वे भी नाटक में काम करते हैं । इन सबके अलावा एक और पात्र है मुन्नू । वह उपन्यास में आदि से अन्त तक एक नरेटर के रूप में आता है । मुन्नू बिट्टी का कज़िन है और प्राय: बीमार रहता है । इसलिए वह बिट्टी के साथ रहता है । मुन्नू अपने जीवन के हर अनुभव को एक डायरी में नोट करता जाता है । यह उपन्यास उसकी इस डायरी का ही क्रमबद्ध संस्करण है । इसमें लेखक ने मध्यवर्गीय युवापीढी के मन को परखने की कोशिश की है । निर्मल के ही शब्दों में, "समूचा उपन्यास एक ऐसे प्रश्न पर टिका हुआ है, जिसे हर संवेदनशील व्यक्ति कभी-न-कभी अपने से पूछता है । खासकर उच्चवर्ग से आनेवाले वे युवा लोग, जो विशेष सुविधाओं में जीते हैं । क्या इन सुविधाओं को भोगते हुए हम अपने समाज, अपने जीवन, स्वयं अपने आत्म के प्रति ईमानदार और सच्चे रह सकते हैं ? उपन्यास के लगभग सब पात्र भीषण व्यक्तिगत अन्तर्द्वन्द्वों से गुज़रकर इन प्रश्नों को सुलझाने का प्रयास करते हैं । मैं ने इस उपन्यास में जानबूझकर मध्यवर्ग के पढ़े-लिखे पात्रों को लिया था, जो थियेटर में अपने जीवन के ड्रामे को मंचित करते हैं और उन सब सुविधात्मक समझौतों और आत्म-छलनाओं को भेदने का प्रयत्न करते हैं, जिन्होंने उनके अंदरूनी जीवन को इतना खोखला बना दिया है । मेरे विचार में यह वह बिंदु है, जहाँ प्रामाणिक यथार्थ खोजने में ही साहित्य अपनी सार्थक भूमिका संपन्न करता है,

---

११. इन्द्रनाथ मदान - आधुनिकता और हिन्दी उपन्यास, पृ.११४

अप्रामाणिक, झूठे और आत्म-सम्मोहित विकल्पों की खोट को दर्शाता है । ऐसे उपन्यास हमें आत्म-मंथन और आत्मालोचना की उत्पीडित प्रक्रिया में से गुज़रने पर विवश करते हैं ।''[१२] इस प्रकार इस उपन्यास में एक प्रकार से ज़िन्दगी के सुखों और दु:खों के अन्दरूनी रिश्तों एवं जादुओं को परखने के साथ साथ उसके द्वारा जीवन को परिभाषित करने का निरन्तर प्रयास भी है । ''समग्रत: यह उपन्यास आधुनिकता की सर्वव्यापी धुंध में सोते जा रहे, मनुष्य के बुनियादी सुख और उसकी मौलिक इच्छाओं-आकांक्षाओं के बारे में कुछ ज़रूरी सवाल उठाता है ।''[१३]

रात का रिपोर्टर (१९८९)

'रात का रिपोर्टर' निर्मल वर्मा का चौथा उपन्यास है । इसमें रिशी की कथा है जो एक रिपोर्टर है । रिशी से ऊबकर उसकी पत्नी उमा पागल हो जाती है और वह अस्पताल में है । रिशी बिन्दु से प्रेम करता है । उपन्यास में राजनीतिक गतिविधियों में संलग्न अनूप भाई हैं । वह जेल में है । उनका दोस्त दयाल साहब है जिसके द्वारा आपातकालीन स्थिति को उजागर किया गया है । आपातकाल के समय लेखकों और रचनाओं पर जो पाबंदी लगायी गयी थी, उसका शिकार है रिशी । इसमें लेखक ने आपातकालीन स्थिति की अभिव्यक्ति के द्वारा मात्र राजनीतिक हलचल को ही अभिव्यक्त नहीं किया बल्कि समाज में और व्यक्ति में व्याप्त आतंक को भी अंकित किया है । आपातकाल एक ऐसी त्रासद घटना थी जिससे हमारे तमाम अधिकार छीन लिए गए थे । इस उपन्यास के पात्रों में बाह्य एवं आन्तरिक स्तर पर एक प्रकार का डर छाया हुआ है । बाह्य यथार्थ का आतंक व्यक्ति के भीतर को भी समान रूप से आतंकित कर देता अवश्य है, क्योंकि बाह्य और आन्तरिक का भेद ही व्यर्थ है, '' निर्मल वर्मा ने 'रात का रिपोर्टर' में यह दिखलाने का प्रयत्न

---

१२. निर्मल वर्मा - मेरे साक्षात्कार, पृ.२७-२८
१३. सं. डॉ.प्रेमसिंह - निर्मल वर्मा सृजन और चिंतन, पृ.६२

किया है कि बाह्य और आन्तरिक जगत में कोई द्वित्व नहीं । दोनों एक दूसरे से छाया प्रतिछाया की भाँति हिलते मिलते रहते हैं, प्रभावित होते रहते हैं ।''[१४]

अंतिम अरण्य (२०००)

'अंतिम अरण्य' निर्मल वर्मा का पाँचवाँ तथा नवीनतम उपन्यास है । उपन्यास का केन्द्रीय पात्र मेहरा साहब है जो अपने जीवन की तमाम अर्जित क्लान्तियों के साथ मृत्यु के हाशिए पर खडे हैं । उनकी पत्नी दीवा का निधन हो चुका था । दीवा मेहरा साहब की दूसरी पत्नी थी । उपन्यास की और एक पात्रा है तिया जो मेहरा साहब की पहली पत्नी में जन्मी पुत्री है । माँ बाप के प्रेम से वंचित वह हमेशा अकेली रहती है । उपन्यास के आदि से अन्त तक दिखायी देनेवाला पात्र है 'मैं' जो हमेशा मेहरा साहब के साथ रहता है और उनकी बातों को एक नोट बुक में नोट करता रहता है । इसके अन्य पात्र हैं निरंजन बाबू, अन्ना जी, नौकर ननकू, डॉ. सिंह आदि । इसके ज्यादातर पात्र अपने दीर्घकाल के कामकाजी जीवन से सेवानिवृत्त होकर हिमालाय के पहाडी प्रदेश में आकर रहनेवाले हैं । मृत्युबोध और आश्रयहीनता के कारण जो भयानक आकांक्षाएँ मानव मन में उत्पन्न हो जाती हैं उन्हीं का सच्चा चित्रण है इस उपन्यास में । मृत्यु की तरफ धीरे धीरे बढ़ते मेहरा साहब में हम यह विसंगत स्थिति देख सकते हैं, ''यह सिर्फ मृत्यु के आख्यान तक सीमित नहीं हैं । किसी की मृत्यु उसके जीवन की सत्ता का कितना सच्चा और कितना जीवन्त दस्तावेज़ हो सकती है, इस सत्य का सूक्ष्म एवं संवेदनात्मक उद्‌घाटन भी है ।''[१५]

कहानी

निर्मल नयी कहानी के दौर का कहानीकार है । स्वाधीनता परवर्ती भारतीय जन जीवन के बदलते यथार्थ की संवेदना को संप्रेषित करनेवाले अज्ञेय, मोहन राकेश, राजेन्द्र

---

१४. पूर्वग्रह - मार्च-अप्रैल १९९९ अंक ९७, पृ.४२
१५. वागर्थ - जूलाई २००१, पृ.८६

यादव, कमलेश्वर, उषा प्रियंवदा जैसे कहानीकारों की पंक्ति में निर्मल जी को प्रमुख स्थान है । उनके छः कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं । वे हैं -'परिन्दे' (१९५९), 'जलती झाडी' (१९६५), 'पिछली गर्मियों में'(१९६८), 'बीच बहस में' (१९७२), 'कव्वे और कालापानी' (१९८३), 'सूखा तथा अन्य कहानियाँ' (१९९५) । इसके अलावा 'मेरी प्रिय कहानियाँ', 'प्रतिनिधि कहानियाँ' शीर्षक के दो और संकलन भी निकले हैं जिनमें उनकी कुछ चुनी हुई कहानियाँ हैं ।

परिन्दे (१९५९)

'परिन्दे' निर्मल वर्मा का पहला कहानी संग्रह है । इसकी कहानियाँ है - 'डायरी का खेल', 'माया का मर्म', 'सितम्बर की एक शाम', 'तीसरा गवाह', 'अन्धेरे में', 'पिक्चर पोस्टकार्ड' तथा 'परिन्दे' । 'परिन्दे' ही इस संग्रह की सर्वाधिक महत्वपूर्ण कहानी है । नामवर सिंह के अनुसार ''फकत सात कहानियों का संग्रह 'परिन्दे' निर्मल वर्मा की ही पहली कृति नहीं है बल्कि जिसे हम 'नयी कहानी' कहना चाहते है उसकी भी पहली कृति है ।''[१६] 'परिन्दे' कहानी में एक प्रकार की प्रतीक्षा का भाव है । यह भाव हर पात्र में है । यह प्रतीक्षा कहीं कहीं पर मानव की नियती बन जाती है ।

कभी कभी निर्मल वर्मा को कुछ 'विज़ुअल्स' दिखायी पडते हैं । वे धीरे धीरे चिन्तन में बिंबों में बदलने लगते हैं । 'परिन्दे' कहानी के पीछे भी ऐसे ही 'विज़ुअल्स' हैं । एक शाम निर्मल जी रानीखेत में सैर करते हुए एक सडक से गुज़र रहे थे । बहुत निर्जन सडक थी । लेकिन कुछ दूर नीचे एक लंबा सा मकान था जहाँ रेडियो बज रहा था और लडकियाँ हँस रही थीं । यह सुनकर निर्मल जी कुछ देर वहीं ठिठक गये । उस समय वे बिल्कुल अनजान थे कि वह घटना उनके लिए कितना प्रेरणाप्रद बनेगी । हर शाम वे उसी सडक से गुज़रते थे । लडकियों की हँसी और निर्मल जी के विचारों के बीच एक कडी

---

१६. डॉ. नामवर सिंह - कहानी नयी कहानी, पृ.६५

बनती गयी । कुछ दिनों बाद जब वे डाक बंगले में बिल्कुल अकेले थे तो 'परिन्दे' कहानी की रचना हुई । उस दृश्य ने उनके अन्दर 'परिन्दे' जैसी सर्वश्रेष्ठ कहानी को जन्म दिया । पहाडों पर के प्रेम की सहज अनुभूति को प्रतीक्षा, मृत्यु जैसी मानव नियति के गंभीर प्रश्नों के साथ अभिव्यक्त करनेवाली यह कहानी आज भी निर्मल जी की अलग पहचान को बनाए रखती है, "अभी तक जो कहानी सिर्फ कथा कहती थी, या कोई चरित्र पेश करती थी अथवा एक विचार का झटका देती थी, वही निर्मल के हाथों जीवन के प्रति एक नया भावबोध जगाती है; साथ ही ऐसे दुर्लभ अनुभूति-चित्र प्रदान करती है जिन्हें हम कम से कम हिन्दी कहानी के माध्यम से प्राप्त करने के अभ्यस्त नहीं थे ।"[१७]

जलती झाडी (१९६५)

'जलती झाडी' निर्मल वर्मा का दूसरा कहानी संग्रह है । इसकी कहानियाँ हैं - 'लवर्स', 'माया दर्पण', 'एक शुरूआत', 'कुत्ते की मौत', 'पहाड', 'पराए शहर में', 'जलती झाडी', 'दहलीज', 'लन्दन की एक रात' तथा 'अन्तर' । इस संग्रह की 'माया दर्पण' कहानी पर जो फिल्म बनी उसे सन् १९७३ का सर्वश्रेष्ठ हिन्दी फिल्म पुरस्कार प्राप्त हुआ । कहानी तरन नामक एक युवती और उसके बापु की है । दोनों बिल्कुल अकेले हैं, "माया दर्पण का कथानक बहुत-से परिवारों के अनुभव खण्डों से घुला-मिला है, जहाँ लडकियाँ दूसरों के लिए अपना सबकुछ उत्सर्ग कर देती हैं फिर वे लोग चाहे कितने ही आत्मीय संबन्धी क्यों न हो । वह पिता और पुत्री के बीच अजीब यातनाग्रस्त द्विविधापूर्ण संबन्धों की कहानी है, तरन का भावनात्मक कारागृह जिसमें दोनों जीते हैं, और किसीको छुटकारा नहीं मिलता ।"[१८] 'जलती झाडी' भी संग्रह की महत्वपूर्ण कहानियों में से है । "कहानी के सभी पात्र अपने-अपने ढंग से कहानी कहनेवाले के अलग-अलग रूप हैं; लडके के रूप में, प्रेमी के रूप में और वृद्ध व्यक्ति के रूप में वे कहानी कहनेवाले

---

१७. डॉ. प्रेमसिंह - निर्मल वर्मा सृजन और चिंतन, पृ.१३

१८. निर्मल वर्मा - मेरे साक्षात्कार, पृ.८९

का ही प्रतिरूप हैं और वे सभी - मछली पकडनेवाले काँटे के छोर, मुट्ठी भर पत्तियों और कंकड को - चुनौतियों के प्रतीक स्वरूप उसके अन्तर्मन की नदी में फेंकते रहते हैं । अपने बहकते बदलते अहम् में ही बसे रहने से सन्तुष्ट कहानी कहनेवाले को चुनौती दी जा रही है कि वह उसमें से विकसित होकर बाहर आए और अपने आत्म की खोज और घोषणा करे ।''[१९] इस प्रकार कहानी में एक गूढ़ तत्व मौजूद है, जो पाठक को सोचने के लिए विवश करता है । 'लन्दन की एक रात' भी बहुचर्चित कहानी है ।

पिछली गर्मियों में (१९६८)

'पिछली गर्मियों में' निर्मल वर्मा का तीसरा कहानी संग्रह है । इसकी कहानियाँ हैं 'धागे', 'पिता और प्रेमी', 'डेढ़ इंच ऊपर', 'खोज', 'उनके कमरे', 'अमालिया', 'इतनी बडी आकांक्षा' तथा 'पिछली गर्मियों में' । 'डेढ़ इंच ऊपर' इस संग्रह की अत्यन्त प्रभावशाली कहानी है । यह एक शराबी व्यक्ति के प्रलाप की कहानी है । इसमें 'डेढ़ इंच' एक प्रतीक है, ''व्यक्ति को पीने के बाद इतना होश तो अवश्य होना चाहिए कि वह पीने का आनंद उठा सके । जब वह होश गँवा देता है तो जिस आनन्द को वह भोग रहा होता है, उसे भी भुला देता है, या गँवा देता है । न तो उसे इतना अधिक पीना चाहिए कि वास्तविकता को ही भूल जाए, यानी इतना ही पिए कि वह वास्तविकता को ना भूले, साथ ही उससे ऊपर उठकर नए अनुभव लोक में विचरने लगे । ये दोनों ही चीज़ें संभव हो सकती हैं जब मनुष्य की चेतना कायम रहे । इसी अर्थ में मैने 'डेढ़ इंच' को एक प्रतीक के रूप में स्थापित किया ।''[२०]

---

१९. डॉ. प्रेमसिंह - निर्मल वर्मा सृजन और चिंतन, पृ.८७

२०. निर्मल वर्मा - मेरे साक्षात्कार, पृ.१०२

के सहारे, नायिका के अतीत और वर्तमान से जुडी घटनाओं को चित्रित किया है । 'कव्वे और कालापानी' महत्वपूर्ण कहानी है । 'कव्वे और कालापानी' के पीछे लेखक का अनुभव है । एक दिन लेखक के एक मित्र ने उनसे एक बाबा के दर्शन केलिए जाने का प्रस्ताव रखा । निर्मल जी उस समय बिल्कुल खाली थे इसलिए बाबा से मिलने के लिए निकल पड़े । मित्र एक मास्टर जी थे । वे निर्मल जी को एक बहुत ऊँचे मंदिर के उस पार की कुटिया ले गए । वे बाबा बंगाली थे । वर्षों से वहाँ रह रहे थे । उनके व्यक्तित्व को देखकर निर्मल जी बहुत चकित हुए क्योंकि वे बहुत ही शालीन व्यक्ति थे । गोया कि वे ऐसे साधु नहीं थे जो अकसर दिखायी देते हैं । वे परंपरागत साधुओं से बिल्कुल भिन्न थे । बाबा निर्मल जी को लेकर नीचे गए । वहाँ उनका छोटा-सा कमरा था जहाँ पर उनकी कुछ किताबें रखी हुई थीं । उनकी लिखी कुछ कविताएँ भी उन्होंने निर्मल जी को दिखाई/दिया । फिर खाना खिलाया । उसके बाद दो तीन बार निर्मल जी उनसे मिलने गए । इसी अनुभव ने 'कव्वे और कालापानी' जैसी महत्वपूर्ण कहानी को जन्म दिया ।

सुखा तथा अन्य कहानियाँ (१९९५)

यह निर्मल वर्मा का छठा कहानी संग्रह है । 'बूखार', 'टर्मिनल', 'बावली', 'किसी अलग रोशनी में', 'जाले', 'सूखा', 'अंतराल', 'पहला प्रेम', 'खाली जगह से' आदि इस संग्रह की कहानियाँ हैं । 'सूखा' महत्वपूर्ण कहानी है । इस कहानी में डॉ. देव के माध्यम से बुजुर्ग बने लेखकों के जीवन की झाँकी प्रस्तुत की गयी है । यह सूखा बाहरी नहीं आन्तरिक है । याने कि आधुनिक समाज ने मनुष्य को एक प्रकार के सूखे की स्थिति तक पहुँचाया है । वह विसंगतियों को झेलझेलकर एक प्रकार से पत्थर बन गया है । इस कहानी में मध्यवर्गीय जीवन के अन्धकार और घुटन को बडी संवेदनशीलता के साथ अभिव्यक्त किया है । 'अंतराल' में अकेलेपन के मार्मिक अवसाद का चित्रण है । इस संग्रह की कहानियों में निर्मल जी की कथायात्रा के नए मोड देखने को मिलते हैं ।

इनके अलावा 'मेरी प्रिय कहानियाँ' और 'प्रतिनिधि कहानियाँ' (१९८८) नामक दो संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं । ' मेरी प्रिय कहानियाँ' में 'दहलीज', 'परिन्दे', 'अन्धेरे में', 'डेढ इंच ऊपर', 'अन्तर', 'लन्दन की एक रात', 'जलती झाडी' जैसी कहानियाँ संग्रहीत हैं । उसी प्रकार 'प्रतिनिधि कहानियाँ' में 'परिन्दे', 'अन्धेरे में', 'मायादर्पण', 'दूसरी दुनिया', 'अन्तर', 'दो घर', 'एक दिन का मेहमान', 'पिछली गर्मियों में' और 'पिक्चर पोस्टकार्ड', हैं । सभी कहानियों में निर्मल ने अपने जीवन के अंतरंग से जुडे क्षणों को ही अभिव्यक्ति दी है । स्वयं निर्मल जी ने इसकी सूचना दी है, ''हम अपनी कहानियों में उनके श्रेष्ठतम क्षणों में, उसे पुनर्जीवित करने में सफल हो पाते हैं, जिसे हम अतीत कहते हैं लेकिन जो अभी मरा नहीं है । बल्कि हमारे भीतर जीवित है ।''[२२]

निबन्ध

निर्मल वर्मा ने साहित्य-रचना और साहित्य-चिन्तन के साथ-साथ सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक विषयों पर भी अपने विचार प्रस्तुत किए हैं । इनमें कला, जीवन, समाज, संस्कृति से जुडे कई महत्वपूर्ण मुद्दों और सवालों को उन्होंने उठाया है । उनके निबन्ध संग्रह हैं - 'शब्द और स्मृति' (१९७६), 'कला का जोखिम' (१९८१), 'ढ़लान से उतरते हुए' (१९८५), 'इतिहास स्मृति आकांक्षा' (१९९१), 'भारत और यूरोप प्रतिश्रुति के क्षेत्र' (१९९१), 'शताब्दी के ढ़लते वर्षों में' (१९९५), 'दूसरे शब्दों में' (१९९७) तथा 'आदि अन्त और आरम्भ' (२००१) ।

शब्द और स्मृति (१९७६)

'शब्द और स्मृति' निर्मल वर्मा का पहला निबन्ध संग्रह है । 'सृजन में सौन्दर्य और नैतिकता', 'साहित्य और लेखक की आस्था', 'सृजन-प्रक्रिया और मूल्यांकन', 'संप्रेषण का संकट', 'संस्कृति समय और भारतीय उपन्यास', 'लेखक और समाज व्यवस्था', 'अतीत : एक आत्म-मंथन', 'गद्य का पतन', 'साहित्य-सिनेमा; सही रिश्ते की

---

२२. पूर्वग्रह - मार्च-अप्रैल १९९०, पृ.२५

पहचान', 'तीन एकान्त : एक अनुभव', 'मैं कहीं भटक गया हूँ'; लन्दन में बोर्खेस', 'पत्थर और बहता पानी' जैसे निबन्धों के ज़रिए निर्मल वर्मा ने साहित्य, संस्कृति, कला और सृजन प्रक्रिया से सम्बन्धित अनेक विषयों पर अपना विचार प्रस्तुत किया है । निर्मल के अनुसार रचनाकार का असली संघर्ष विचारों से नहीं, शब्द, स्मृति और भाषा से है । स्मृति वह चीज़ है जिससे कलाकार दूसरों से जुड जाता है । इस पुस्तक के प्राक्कथन में निर्मल जी ने अपने आत्ममंथन की ओर इशारा करते हुए लिखा है - ''मैं एक साथ अपने को बाहर और भीतर पाता रहा हूँ - पश्चिम से मुझे एक तार्किक अन्तर्दृष्टि मिली है, जिसके सहारे मैंने अपनी संस्कृति के मिथक-बोध, बिम्बों और प्रतीकों की गैर-तार्किक अन्तर्चेतना को परखने की चेष्टा की है, दूसरी तरफ मैं खुद उस अन्तर्चेतना का अंश हूँ, जिसके आधार पर मुझे आधुनिक तर्कशील तकनीकी सभ्यता के अन्तर्विरोधों का अहसास भी होता रहा हैं ।''[२३] इस प्रकार इसमें शब्द और स्मृति, साहित्य, सौन्दर्यबोध आदि से संबन्धित निर्मल की मूलगामी चिन्ताएँ व्यक्त हुई हैं । ''यह निबन्ध वाद विवाद संवाद, एकालाप, डिसर्टेशन, 'पेपर' या सौन्दर्य बोधात्मक ललित लेख, व्यक्ति-व्यंजक लुभावनी घोषणाएँ भर नहीं हैं - इनमें पूर्व और पश्चिम की परंपराओं की रगड से उपजी आग है ।''[२४]

कला का जोखिम (१९८१)

यह निर्मल वर्मा का दूसरा निबन्ध संग्रह है । इसमें रचना, चिन्तन, रचनाकार और रचना यात्रा के तीन पर्गो में कला जगत को परखा गया है । 'कला, मिथक और यथार्थ', 'परम्परा और इतिहास-बोध', 'रचना की ज़रूरत', 'साहित्य में प्रासंगिकता का प्रश्न', 'संवाद की मर्यादाएँ' जैसे निबन्ध 'रचना-चिन्तन' नामक भाग में है । 'रचनाकार' शीर्षक दूसरे भाग में 'रेणु समग्र मानवीय दृष्टि', 'अज्ञेय आधुनिक बोध की पीड़ा',

---

२३. निर्मल वर्मा - शब्द और स्मृति, पृ.१०

२४. दस्तावेज़ - जूलाई-सितम्बर १९९९, पृ.११

'मुक्तिबोध की गद्यकथा', 'हमारे समय का नायक', 'नाबोकोव : साहित्य-शिक्षक के रूप में' जैसे निबन्ध हैं । इसमें रेणु, मुक्तिबोध, अज्ञेय, नाबोकोव आदि के सृजनात्मक व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला गया है । 'हमारे समय का नायक' शीर्षक निबन्ध में जयप्रकाश नारायण के व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला गया है । 'सुलगती टहनी' में रचना यात्रा की झलक मिल जाती है । "ये निबन्ध किसी न किसी कोने से बराबर एक केन्द्रीय बिन्दु को छूने का प्रयास करते हैं - और वह है आधुनिक सभ्यता में कला का स्थान ।"[२५]

ढलान से उतरते हुए (१९८५)

निर्मल वर्मा का तीसरा निबन्ध संग्रह है 'ढलान से उतरते हुए' । 'शब्द और स्मृति' तथा 'कला का जोखिम' जैसे उत्कृष्ट गद्य निबन्धों में लेखक ने झिझकते हुए जिन विषयों का संस्पर्श मात्र किया था, उन्हें अधिक ठोस और व्यापक फलक पर यहाँ जॉचने परखने का कार्य किया है । निर्मल जी के ही शब्दों में, "वास्तव में यह पुस्तक उस चिंतन श्रृंखला की तीसरी और अंतिम कडी है, जिनके बीज और संकेत पिछली दो पुस्तकों में दिखायी दे जाते हैं ।"[२६] यह पुस्तक भी तीन खण्डों में विभाजित है । 'काल और कलाकृति' नामक पहले खण्ड में छ: निबन्ध हैं - 'काल और सृजन', 'उपन्यास की मृत्यु और उसका पुनर्जन्म', 'कहानी एक शुद्ध विधा?', 'कलाकृति और आलोचना की मर्यादा', 'प्रेमचन्द की उपस्थिति' तथा 'मलयज की मृत्यु पर' । दूसरा खण्ड है 'अवस्थाएँ'। इसमें पाँच निबन्ध हैं - 'शताब्दी के ढ़लते वर्षों में', 'धर्म धर्मतंत्र और राजनीति', 'सिंगरौली - जहाँ कोई वापसी नहीं', 'ढलान से उतरते हुए' तथा 'क्यों भारतीय संस्कृति को जीवित रखना ज़रूरी है ?' । अंतिम खंड 'रास्ते पर' में निर्मल जी की डायरी के अंश संकलित हैं जो उन्होंने अपनी यात्राओं के दौरान लिखी थी । "इन लेखों की विशेषता इस बात में है कि वे कलागत रूप के सवाल को संस्कृति के सवाल की

---

२५. दस्तावेज़ - जुलाई-सितम्बर १९९९, पृ.१५

२६. निर्मल वर्मा - ढलान से उतरते हुए भूमिका

हैसियत में ला देते हैं और संस्कृति की चर्चा को केवल सैद्धान्तिक अमूर्त स्तर पर नहीं बल्कि समकालीन भारतीय परिस्थितियों के ठोस सन्दर्भ से करते हैं । भारतीय परंपरा में पश्चिमी साम्राज्यवादी दृष्टि के हस्तक्षेप के परिणामों को उन्होंने बखूबी रेखांकित किया है ।''[२७]

इतिहास स्मृति आकांक्षा (१९९१)

'इतिहास स्मृति आकांक्षा' निर्मल वर्मा का चौथा निबन्ध संग्रह है । वत्सल निधि द्वारा आयोजित डॉ हीरानन्द शास्त्री स्मारक व्याख्यान माला की दसवी लडी के रूप में इन व्याख्यानों को श्रोताओं के सामने प्रस्तुत किया था । इन तीन व्याख्यानों में मनुष्य के बोध और कलाकृति के सत्य की गंभीर मीमांसा की गयी है ।

भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र (१९९१)

'भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र' निर्मल वर्मा का पाँचवाँ निबन्ध संग्रह है । 'भारतीय संस्कृति और राष्ट्र', 'मानववाद कुछ आत्मछलनाएँ', 'भारत और यूरोप प्रतिश्रुति के क्षेत्र', 'भारतीय जीवन की निराशाएँ', 'संस्कृति के आत्मबिंब', 'साहित्यिक कृति और सत्य की अवधारणा', 'कला की प्रासंगिकता', 'क्या साहित्य समाज से कट चुका है ?', 'आलोचना के भटकाव', 'लेखक की स्वतंत्रता और स्वधर्म', 'भारतीय लेखक का स्वप्न और जिम्मेदारी' जैसे निबन्ध इस पुस्तक में हैं । इनमें कला और साहित्य की प्रासंगिकता के सवाल सांस्कृतिक-परंपराओं के सन्दर्भ में उठाए गए हैं । भारत और यूरोप की अपनी अपनी चिंतन-परंपरा के मूल आधारों को व्याख्यायित करते हुए निर्मल जी आज की रचनात्मकता पर ज़ोर देते हैं जो अपने स्वाभाविक आधारों की उपेक्षा करती हैं । पश्चिम से आयातित समाजवाद, धर्मनिरपेक्षतावाद आदि को वे भारतीय संस्कृति तथा चिंतन परंपरा के विरुद्ध पाते हैं । लेकिन वे भारत और पश्चिम के बीच के आदान प्रदान को नज़र अन्दाज़ नहीं करते, ''एक भारतीय होने के नाते यूरोप मेरी चिंताओं

---

२७. सं. डॉ. प्रेमसिंह - निर्मल वर्मा सृजन और चिंतन, पृ.१२०

के हाशिए पर हमेशा मंडराता रहता है - मुझे विशेष खुशी है, कि 'भारत और यूरोप प्रतिश्रुति के क्षेत्र में' मैने उस पर पहली बार अपने बिखरे विचारों को संयोजित करने का प्रयास किया है ।"[२८] इस प्रकार इस संग्रह में यूरोपीय संस्कृति के प्रभाव के तहत भारतीय संस्कृति को मूल्यांकित करने का प्रयास किया गया है ।

शताब्दी के ढलते वर्षों में (१९९५)

'शताब्दी के ढलते वर्षों में' निर्मल वर्मा का छठा निबन्ध संग्रह है । इसके तीन खंड हैं (१) कला साहित्य सृजन कर्म (२) समाज संस्कृति आधुनिक युगबोध (३) रचनाकार । पहले खण्ड में 'कला की प्रासंगिकता', 'साहित्यिक कृति और सत्य की अवधारणा', 'क्या साहित्य समाज से कट चुका है ?', 'कलाकृति और आलोचना की मर्यादा', 'उपन्यास की मृत्यु और उसका पुनर्जन्म', 'कहानी एक शुद्ध विधा ?', 'संस्कृति समय और भारतीय उपन्यास', 'साहित्य और लेखक की आस्था', 'सृजन में सौन्दर्य और नैतिकता', 'साहित्य में प्रासंगिकता का प्रश्न' जैसे निबन्ध हैं । दूसरे खण्ड में 'भारतीय संस्कृति और राष्ट्र', 'मानववाद कुछ आत्मछलनाएँ', 'अतीत एक आत्म-मंथन', 'शताब्दी के ढलते वर्षों में', 'धर्म धर्मतंत्र और राजनीति', 'क्यों भारतीय संस्कृति को बचाना ज़रूरी है ?', 'संवाद की मर्यादाएँ', 'कला मिथक और यथार्थ', 'भारतीय लेखक का स्वप्न और जिम्मेदारी' जैसे निबन्ध संग्रहीत हैं । अंतिम खण्ड में 'प्रेमचन्द की उपस्थिति', 'अज्ञेय आधुनिक बोध की पीडा', 'मुक्तिबोध की गद्यकथा', 'रेणु समग्र मानवीय दृष्टि', 'नाबोकोव : साहित्य - शिक्षक के रूप में', 'मैं कहीं भटक गया हूँ : लंदन में बोर्खेस', 'आधे रास्ते पर मलयज', 'स्वतंत्रता और स्वधर्म अज्ञेय की स्मृति में', 'लैक्सनेस से साक्षात्कार' और 'चेखॅव के पत्र' आते हैं । इस संग्रह के ज्यादातर निबन्ध अन्य निबन्ध संग्रहों में पहले प्रकाशित हैं । इसमें समाज, संस्कृति और धर्म के अलावा

---

२८. निर्मल वर्मा - भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र - भूमिका, पृ.५

साहित्यिक मसलों को भी विचार-परिधि में समेटा गया है । इसके साथ साथ कुछ विशिष्ट रचनाकारों की रचनादृष्टि पर भी प्रकाश डाला गया है ।

दूसरे शब्दों में (१९९७)

'दूसरे शब्दों में' निर्मल वर्मा का सातवाँ निबन्ध संग्रह है । इस संग्रह के चार खंड है (१) सृजन का परिवेश (२) अस्मिता की खोज (३) कुछ टिप्पणियाँ (४) साक्षात्कार । प्रथम खंड में 'मनुष्यत्व से साक्षात्कार', 'सृजन का परिवेश', 'भाषा और राष्ट्रीय अस्मिता', 'परंपरा-बोध में द्वन्द्व', 'इतिहास और आकाश के बीच', 'कलाकृति समाज और आलोचना', 'लेखक की स्वतंत्रता आज के सन्दर्भ में', 'निरंकुशता और दासता के बीच साहित्य' जैसे निबन्ध हैं । दूसरे खंड में चार निबन्ध है - 'परंपरा का भारतीय सन्दर्भ', 'बीच की एक राह', 'अस्मिता की खोज' तथा 'समाजवाद का स्वप्न और दुःस्वप्न' । तीसरे खण्ड में तीन निबन्ध हैं 'मानसिक गुलामी का शब्दकोश', 'हमारी चुनी हुई चुप्पियाँ' तथा 'तिबत्त संसार का अंतिम उपनिवेश' । अन्तिम खंड में अशोक वाजपेयी, मदन सोनी, ध्रुवशुक्ल, उदयन वाजपेयी, कुलदीप सिंह, विनोद भरद्वाज, कन्हैयलाल नन्दन आदि द्वारा निर्मल वर्मा से किए गए कुछ साक्षात्कार हैं । निर्मल वर्मा के ही शब्दों में "इनमें कुछ ऐसे आलेख, वक्तव्य और टिप्पणियाँ भी शामिल हैं, जिन्हें समय के तात्कालिक दबावों और तकाज़ों के तहत लिखा गया था । विषय लगभग वही है, जो मेरी पिछली पुस्तकों की चिंताओं के केन्द्र में रहे हैं, लेकिन नई परिस्थितियों और सन्दर्भों में उनके कुछ ऐसे अप्रत्याशित पक्ष खुलते हैं, जिन पर 'दूसरे शब्दों में' पुनर्विचार करना ज़रूरी लगता है ।"[२९] इन निबन्धों में निर्मल वर्मा आत्ममंथन की गंभीर प्रक्रिया से गुज़रते हुए भारतीय संस्कृति के समस्त स्मृति-संकेतों और प्रत्ययों पर प्रकाश डालते हैं जिन्हें भारतीय जनता दिन-ब-दिन भूलती जा रही है ।

---

२९. निर्मल वर्मा - दूसरों शब्दों में - प्राक्कथन, पृ.६

आदि अन्त और आरम्भ(२००१)

इस संग्रह के भी चार खण्ड हैं - 'भारत : एक स्वप्न', 'कथ्य की खोज', 'दो स्वीकृतियाँ' और 'इतिहास के खोये हुए पदचिह्न'। पहला खण्ड 'भारत : एक स्वप्न' के निबन्ध है - 'मेरे लिए भारतीय होने का अर्थ', 'आदि और अन्त', 'एक भारतीय बुद्धिजीवी की भूमिका', 'धर्म लोकतंत्र और सांप्रदायिकता', 'पूर्व और पश्चिम', 'भूमंडलीकरण के दौरान भारतीय संस्कृति', 'धर्म और धर्म निरपेक्षता', 'नर्मदा : एक सांस्कृतिक परिक्रमा' । दूसरे खण्ड में 'लिखने के स्त्रोत', 'साहित्य के प्रासंगिक प्रश्न', 'कला का सत्य', 'उपन्यास की परती परिकथा', 'कलाकृति समाज और आलोचना','भारती की कहानियाँ (दुबारा पढ़ने पर)','साहित्य क्या करता है : क्या करती है कलाएँ ?'और 'कथ्य की खोज' जैसे निबन्ध हैं । तीसरे खण्ड में'भारतीय सभ्यता तीसरा महाकाव्य' और 'हिन्दी का आत्मसंघर्ष' जैसे निबन्ध हैं । चौथा खण्ड 'इतिहास के खोये हुए पदचिह्न' में 'चेक त्रासदी की एक भूली बिसरी याद', 'अहिंसा और आज़ादी : आदमी के स्वयं आदमी होने की शर्त (आपातकाल की छाया में)', 'पच्चीस वर्ष बाद अगर उस नैतिक त्रासदी से कुछ सीख सके' जैसे निबन्ध हैं । इसके निबन्धों में सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, साहित्यिक जैसे सभी विषयों पर चर्चा की गयी है । निर्मल वर्मा के ही शब्दों में, "राजनीतिक दमन, तानाशाही, आतंक, आर्थिक विपन्नता कारण कुछ भी रहा हो - पिछले सौ वर्षों के दौरान अधिकांश लोगों को पराये आकाश के नीचे एक दूसरी ज़िन्दगी को चुनने के लिए बाध्य होना पडा । आत्म-उन्मूलन का त्रास अब 'त्रास'भी नहीं रहा, वह हमारे दैनिक जीवन का अभ्यास बन चुका है । इस पुस्तक के अधिकांश निबन्ध विभिन्न कोणों से इस 'अन्धकार' को चिह्नित करने का प्रयास करते हैं ।"[३०] इस प्रकार इन निबन्धों में उत्तर औपनिवेशिक समाज के आत्म-उन्मूलित स्थिति का पर्दाफाश भी किया गया है ।

---

३०. निर्मल वर्मा - आदि अन्त और आरम्भ - प्राक्कथन

इस प्रकार निर्मल जी ने अपने निबन्धों में राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, साहित्यिक, सृजनात्मक, कलात्मक जैसे जीवन के सभी पहलुओं का संस्पर्श किया है । अपने निबन्धों के बारे में वे बताते हैं - "वैसे भी निबन्ध लिखना - मेरे लिए चिंताओं को सुलझाना उतना नहीं जितना बदलते हुए परिप्रेक्ष्य में उनका नए सिरे से सामना करना है । जहाँ पहले पके हुए विश्वास थे, वहाँ अब संशय के कांटे दिखायी देने लगते हैं ।"[३१] उनके प्रवासी जीवन का प्रभाव उनके चिन्तनपरक साहित्य पर ज्यादा पडा है, "मेरे चेक प्रवास का अनुभव मेरी कहानियों और उपन्यासों पर उतना नहीं, जितना मेरे निबन्धों पर पडा था, जो मैने अपने देश लौटकर लिखे थे । पश्चिमी सभ्यता विशेषकर समाजवाद के बारे में मेरी विचारदृष्टि में एक तरह का रैडिकल परिवर्तन आया, जिसने मेरे बहुत-से भ्रमों और सम्मोहनों को तोड दिया । वह इतिहास की गूढ़ विडम्बना ही कही जाएगी कि जब चेक लोगों ने कम्यूनिस्ट तानाशाही से छुटकारा पाकर समाजवाद के मानवीय चेहरे से साक्षात् किया तभी उस चेहरे को इतनी क्रूरता से कुचल दिया गया । मेरे लिए यह कुछ वैसा ही कटु अनुभव था, जैसा कुछ वर्षों बाद भारत में हुआ, जब इंदिरा जी ने हमारी लोकतांत्रिक परंपराओं की उपेक्षा करके समूचे देश पर इमर्जेन्सी लागू कर दी थी । इन सब घटनाओं ने मुझे भारतीय संस्कृति, राष्ट्रीय अस्मिता, भारत और पश्चिम के अन्तर्संबन्धों के बारे में पुन: सोचने के लिए विवश किया, जिसकी कुछ झलकें मेरे निबन्ध संग्रहों 'शब्द और स्मृति', 'कला का जोखिम', 'ढलान से उतरते हुए' में देखी जा सकती है ।"[३२]

चेक जीवन के दौरान जो अनुभव उन्हें सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक क्षेत्रों से मिला था उनके मुताबिक वर्तमान भारतीय समाज, साहित्य और संस्कृति को पुन: मूल्यांकित करने का कार्य उन्होंने अपने इन निबन्धों में किया है । देश विदेश की जीवन

---

३१. *निर्मल वर्मा - दूसरे शब्दों में - प्राक्कथन, पृ.५*
३२. निर्मल वर्मा - मेरे साक्षात्कार, पृ.२८

पद्धतियों के साम्य वैषम्य को बडी ही बारीकी के साथ चिंतन का विषय बनाने के कारण उनके निबन्ध समकालीन जीवन यथार्थ के दस्तावेज़ बन चुके हैं, "उनका चिन्तन एक रचनात्मक मस्तिष्क द्वारा प्रस्तुत चिन्तन का बेहतरीन नमूना है । कला, जीवन, समाज, संस्कृति से जुडे महत्वपूर्ण और ज़रूरी मुद्दों और सवालों को उन्होंने उठाया है । और समुचित गहराई से अपना विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए निष्कर्षों की मंज़िल तय की है ।"[३३]

यात्रावृत्त और डायरी

निर्मल वर्मा बडे यायावर प्रकृति का व्यक्ति है । सन् १९५९ में वे पहली बार चेक गए थे । वहीं से उनके प्रवासी जीवन की शुरुआत होती है । 'चीडों पर चाँदनी' (१९६४), 'हर बारिश में' (१९७०) तथा 'धुन्ध से उठती धुन' (१९९९) में उन्होंने जिन जिन जगहों की यात्रा की है, वहाँ उन्होंने जो कुछ अनुभव किया है उन सबका सूक्ष्म चित्र प्रस्तुत किया है । वे पाठकों के मन की गहराइयों को छू लेनेवाले अवश्य हैं । इसलिए ये सब यात्रावृत्त और डायरी की अपेक्षा निर्मल जी के अन्तरतम का खुलासा ही हैं ।

चीडों पर चाँदनी (१९६४)

यह निर्मल वर्मा का पहला यात्रावृत्त है । इस किताब के तीन खण्ड हैं - 'उत्तरी रोशनियों की ओर', 'चीडों पर चाँदनी' तथा 'देहरी के बाहर' । पहले खण्ड में 'ब्रेख्त और एक उदास नगर', 'रोती हुई मर्मेड का शहर', 'उत्तरी रोशनियों की ओर', 'सफेद रातें और हवा' जैसे संस्मरण आते हैं । दूसरे खण्ड में 'लिदीत्से : एक स्मरण', 'बर्त राम्का एक शाम', 'पेरिस : एक स्टिल लाइफ', 'वियना', 'चीडों पर चाँदनी' हैं । तीसरे खण्ड में 'लैक्सनेस : एक इण्टरव्यू', 'काफ्का और चापेक : समकालीन चेक साहित्य', 'देहरी के भीतर : चेखॅव के पत्र' हैं । निर्मल के शब्दों में - "इन यात्राओं में अनेक ऐसी घडियाँ आयी थी जिन्हें शायद मैं आज याद करना नहीं चाहूँगा .... लेकिन घोर निराशा और दैन्य

---

३३. डॉ. प्रेमसिंह - निर्मल वर्मा सृजन और चिंतन, पृ.१३१

के क्षणों में भी यह खयाल कि मैं इस दुनिया में जीवित हूँ, हवा में साँस ले रहा हूँ हमेशा एक मायावी चमत्कार सा जान पडता था । महज़ साँस ले पाना - जीवित रहकर धरती के चेहरे को पहचान पाना - यह भी अपने में सुख है - इसे मैंने इन यात्राओं में सीखा है । हर चमत्कार के पीछे ज़रूर कोई-न-कोई 'एंजिल' छिपा रहता है -ऐसा मैं विश्वास करने लगा हूँ । यदि इस समय मुझे स्वामीनाथन, बरेन रॉय और आइसलैण्डी कवि थोर्गियेर थोर्गियरसौन याद आते हैं - तो उनके प्रति सिर्फ अपना आभार प्रकट करने नहीं - बल्कि इसलिए कि उनके बिना शायद कोई भी चमत्कार संभव न हो पाता ।''[३४]

हर बारिश में (१९७०)

यह निर्मल वर्मा का दूसरा यात्रासंस्मरण है । इसमें 'केन्द्रीय मानवीय स्थिति', 'दो संस्कृतियों के बीच', 'यूरोप में भारतीय अंग्रेज़ों की खोज में', 'अन्धेरे में चीख', 'प्राग का आधुनिक रंगमंच', 'प्राग - एक स्वप्न', 'अंधेरे के खिलाफ', 'परम्परा और प्रतिबद्धता- एक बातचीत', 'रॉब्ब ग्रिये के साथ एक शाम', 'सौन्दर्य की छायाएँ' जैसे संस्मरण संकलित हैं । इसमें निर्मल ने भारतीय समाज की अमानुषिकता, बीभत्सता, आत्मतुष्टि और आत्म-विडम्बना के ऐतिहासिक कारणों पर विचार किया है और पाया है कि जिस दिन हम अकुण्ठित भाव से, बिना किसी जातीय दम्भ का सहारा लिए, अपनी सदी के गवाह बन सकेंगे, उसकी समस्त पीडाओं अन्तर्विरोधों और संभावनाओं समेत, उस दिन हम सहज रूप से आधुनिक हो सकेंगे, उसी अर्थ में जिसे रवीन्द्रनाथ ने सहज रूप से भारतीय बनना कहा है ।

धुंध से उठती धुन (१९९७)

इसमें निर्मल के डायरी, नोट्स, जर्नल्स, यात्रासंस्मरण आदि संग्रहीत हैं । इसके दो खण्ड हैं । पहला खण्ड 'धुंध से उठती धुन' में 'पीडा में पक्षी - शिमला : १९७३-

---

३४. निर्मल वर्मा - चीडों पर चाँदनी, पृ.८

१९७४', 'बर्फ पर दो छायाएँ - मुक्तेश्वर से आयोवा तक १९७५-७७', ''ईश्वर अगर फूल और वृक्ष है ....'' रानीखेत १९७५, 'ढलदी शती का शोक - मॉस्को-कीव-बुदापेस्त : १९८०', 'धुन्ध से उठती धुन - दिल्ली - मनाली - मणिकर्ण : १९८०-१९८४', 'दो ताल - भोपाल : १९८०-१९८२', 'यह मौसम नहीं आएगा फिर - दिल्ली-पंचमढ़ी - रानीखेत : १९८८-१९९५' जैसे संस्मरण हैं । दूसरा खण्ड 'बहता पानी निर्मला' में 'महुए की मुस्कुराहट - रायपुर - बस्तर : १९८३', 'माई का मर्म - स्रोत - अमरकंटक - कान्हा किसली : १९८४', 'दो दुनियाओं के बीच - मणिपुर-नगालैंड १९७८', 'जहाँ कोई वापसी नहीं - सिगरौली : १९८३', 'सुलगती टहनी - प्रयाग : १९७६', 'हार्वर्ड डायरी - १९९२-१९९३', 'रास्ते पर - १९८५' आदि हैं । इसमें यात्रासंस्मरण से भी ज्यादा निर्मल जी की डायरियाँ हैं । ये डायरी के अंश पिछले बीस-बाईस वर्षों (सन् १९७३-१९९५) के दौरान अलग अलग स्थानों में लिखे गए थे । ये सचमुच लेखक के अन्तरंग से साक्षात्कार हैं । निर्मल जी के ही शब्दों में - ''अगर ये यात्रा हैं तो वे स्थानों की न होकर 'मन' की है, अन्त:प्रक्रियाओं का लेखा - जोखा जिन्हें मैं ने कच्चे माल की तरह ही प्रस्तुत करना चाहा है । जो मेरा अतीत है, वह इन डायरियों का वर्तमान है, इसलिए पुरानी पोथियों से उतारकर इन्हें दुबारा से टीपते हुए मेरा काल-बोध बार बार हिचकोले खाने लगता है ।''[३५]

इस प्रकार इनमें लेखक ने अपने वैयक्तिक एवं सृजनात्मक जीवन के विभिन्न पडावों को इतने स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है जिनमें उनका व्यक्तित्व प्रतिस्पन्दित है । वास्तव में इस पुस्तक में संग्रहीत सामग्री न तो संस्मरण है न डायरी । इन सबसे बढ़कर हिन्दी साहित्य जगत के लिए एक नई विधा की शुरुआत है जिसको कोई अभी तक नाम ही नहीं दे सका । एक नितांत भिन्न नई विधा । यह परंपरागत रूढ़ विधाओं की सभी सीमाओं का उल्लंघन करनेवाले आत्मसाक्षात्कार की एक नई विधा है । मदन सोनी ने इस नयी शुरूआत को लेखक का खेल कहा है, 'इस पुस्तक का पाठ (जैसे कि निर्मल वर्मा की ही चीडों पर

---

३५. निर्मल वर्मा - धुंध से उठती धुन, पृ.७

चाँदनी और हर बारिश में का भी कुछ पाठ) हिन्दी में उस विधा का एक तरह से उद्‌घाटन करता है जिसमें उसका लेखन हुआ है । वह किसी प्रदत्त विधा की सीमाओं के साथ छेडछाड नहीं करता (जैसे कि निर्मल वर्मा की कहानियों में होता है) बल्कि एक नये खेल की शुरुआत करता है । एक खेल जिसे एक व्यक्ति खेलता है, एकाकी, बिना किन्हीं वास्तविक या कल्पित व्यक्तियों की मदद के; जहाँ कुछ खास बौद्धिक कोटि की स्मृतियाँ हैं - जगहों, वस्तुओं और लोगों की, लेखकों और लेखनों की, उनसे उद्भूत या संयुक्त कुछ अनुभूतियाँ, कुछ विचार स्फुलिंग है । पर ये तमाम चीज़ें किसी कल्पना या प्रमाण - व्यापार का विषय नहीं है, इसलिए वे इस खेल में हमारी हिस्सेदारी को उत्प्रेरित नहीं करती, इसके विपरीत वे एक ऐसे नज़ारे का हिस्सा है जिसमें वे इस एकाकी खिलाडी के नितान्त निजी अवबोध और संवेदन के रंग में रंगी हुई - कुछ इस तरह कि 'साफ छुपती भी नहीं; सामने आती भी नहीं' । आत्मनिष्टता और वस्तुनिष्ठता की धुंध में तथ्यों का एक अनाख्यात्मक प्रगटन ।''[३६]

स्पष्ट है कि ये पुस्तकें निर्मल जी के व्यक्तित्व के अनछुए पहलुओं से साक्षात् करानेवाली हैं । एक लेखक का अपनी डायरी के साथ कितना आत्मीय रिश्ता है इसका पता उन्हीं के शब्दों से मिलता है, ''अभी उपन्यास लिखते हुए - आधे वाक्य के बीच मेरी नज़र डायरी पर पड गयी । एक अजीब सा सुख और कृतज्ञता का भाव उमग आया । यह डायरी मेरी कितनी यात्राओं और यातनाओं में साथ रही है; अच्छे-बुरे समय में मेरा साथ निभाती रही है; पिछले कई दिनों से मैने इसे छुआ भी नहीं, फिर भी आँखों के सामने पडते ही एक आत्मीय, अवसाद-भरा रिश्ता जग जाता है; कौन कहता है कि अचर चीज़ें अजीवंत होती हैं ।''[३७] स्पष्ट है कि डायरी उनकी ज़िन्दगी का अटूट हिस्सा है । वह उनके सृजन का अजस्र स्रोत है ।

---

३६. मदन सोनी - कथा पुरुष, पृ.९९-१००

३७. पूर्वग्रह, पृ.६८

दूसरी दुनिया (१९७८)

'दूसरी दुनिया' निर्मल वर्मा का गद्य संकलन है । इसमें उनके निबन्ध, कहानियाँ, नाट्य-कथा, यात्रासंस्मरण, साक्षात्कार और डायरी संकलित हैं । यह ग्रन्थ गद्य-लेखन में उनकी अद्‌भुत क्षमता का निशान है । इसमें निबन्ध के अन्तर्गत 'अतीत एक आत्ममंथन', 'संप्रेषण का संकट', 'सृजन में सौन्दर्य और नैतिकता', 'सौन्दर्य की छायाएँ' आते हैं । कहानियों में 'अन्धेरे में', 'मायादर्पण', 'पिछली गर्मियों में', 'जलती झाडी', 'बीच बहस में', 'दूसरी दुनिया' हैं । नाट्य-कथा के अन्तर्गत 'वीकएंड' नामक कहानी का नाट्य रूपान्तर है । यात्रासंस्मरण में 'सफेद रातें और हवा', 'अंग्रेज़ों की खोज में', 'सुलगती टहनी' हैं । साक्षात्कार में 'रॉब्ब ग्रिये के साथ : एक शाम', 'मैं कहीं भटक गया हूँ : लन्दन में बोर्गेस' आते हैं । डायरी में 'शिमला से आयोवा तक' संग्रहीत है । निर्मल वर्मा के ही शब्दों में - ''यह पुस्तक मेरी अभी तक लिखी नयी और पुरानी रचनाओं का चयन है - किताबों की किताब - जिसे अंग्रेज़ी में 'ओमनीबस' का नाम दिया जाता है; एक ऐसी माल-गाडी, जिसमें किसिम-किसिम की चीज़ों को लादा जाता है, निबन्ध कहानी यात्रासंस्मरण और कुछ ऐसी अनाथ सामग्री जो किसी विधा में फिट नहीं बैठती जिसे बस के खाली कोनों में समेट दिया जाता है । पुस्तक में मैं ने केवल उन कहानियों निबन्धों को चुना है, जो मेरे आज को या जो मैं आज हूँ, उसे किसी न किसी रूप में परिभाषित करते हैं ।''[३८]

इस प्रकार साहित्य की ऐसी कोई विधा नहीं जिसमें निर्मल वर्मा का सान्निध्य न हुआ हो । वे दरअसल चिंतक तथा सृजनकार दोनों हैं नहीं तो दोनों का मिला जुला रूप है । वे माँग पर नहीं लिखते । अपने जीवन में उन्होंने जो कुछ अनुभव किया, देशी-विदेशी जीवन क्रम में जिन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, साहित्यिक विचारों और चिन्ताओं ने उन्हें प्रभावित किया उन्हीं को उन्होंने उपन्यास, कहानी, निबंध, यात्रा संस्मरण

---

३८. निर्मल वर्मा - दूसरी दुनिया, पृ.९-१०

जैसी विभिन्न विधाओं में रूपांतरित किया हैं । सृजन की इस क्षमता ने उन्हें हिन्दी के वरिष्ठ लेखकों की पंक्ति में अग्रणी बना दिया ।

पुरस्कार

निर्मल वर्मा को अपने लेखकीय जीवन में कई महत्वपूर्ण पुरस्कार प्राप्त हुए हैं । उनकी 'मायादर्पण' कहानी पर जो फिल्म बनी उसके लिए सन् १९७३ का सर्वश्रेष्ठ हिन्दी फिल्म पुरस्कार प्राप्त हुआ । सन् १९८५ में निर्मल वर्मा को 'कव्वे और कालापानी' शीर्षक कहानी संग्रह के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला । संपूर्ण कृतित्व के लिए सन् १९९३ का साधना सम्मान दिया गया । सन् १९९५ में उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान का सर्वोच्च पुरस्कार 'राम मनोहर लोहिया अतिविशिष्ट सम्मान' के लिए वे चुने गए । सन् १९९६ में अमेरिका के यूनिवर्सिटी ऑफ आकलाहोमा की पत्रिका 'द वर्ल्ड लिटरेचर' के बहुसम्मानित पुरस्कार न्यूस्ताद् अवार्ड के लिए भारत से मनोनीत किए गए । सन् १९७७ में वे भारतीय ज्ञानपीठ के मूर्तिदेवी पुरस्कार से सम्मानित हुए । आखिर सन् १९९९ में उन्हें भारत का सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार 'ज्ञानपीठ' दिया गया । हिन्दी साहित्य जगत् को उनकी महत्वपूर्ण एवं अविस्मरणीय देन को ध्यान में रखते हुए यह पुरस्कार दिया गया है । इस प्रकार निर्मल जी निरंतर सम्मानित होते हुए दिखायी देते हैं । यह उनकी ओजस्वी सृजनात्मकता की व्यापक स्वीकृति को सूचित करता है ।

रचनादृष्टि

निर्मल वर्मा आधुनिक युग के अद्वितीय लेखक हैं । उनके लेखन के पीछे गंभीर मनन चिंतन से ओतप्रोत सूक्ष्म रचना व्यक्तित्व है । उनकी पैनी रचनादृष्टि ही उनके लेखन को गंभीर बनाती है । वे द्रष्टा हैं । मानव जीवन के यथार्थ को तलाशनेवाली है उनकी रचनाएँ । वे मानवीय संबन्धों के समर्थक है । जहाँ उन सम्बन्धों में विघटन होता है वहाँ एक अनजानी बेचैनी पैदा होती है । उस बेचैनी से मुक्त होने के लिए वे निरंतर अपने आसपास के लोगों से संबन्ध जोडने का प्रयत्न करते रहे हैं । इसलिए उनकी रचनाओं में

संबन्धों के लिए संघर्षरत पात्र दिखायी देते हैं, "कभी ऐसा ज़रूर होता है कि मैं किसी रेस्ट हाउस, किसी ट्रेन में होता हूँ तो मेरा वास्ता सचमुच ऐसे दम्पतियों से पड जाता है कि जिनके साथ मिलकर मुझे महसूस होता है कि जो मेरी बौद्धिक और अमूर्त परेशानी थी,उसकी एक मूर्ति इन दोनों के रिश्तों, संकेतों, बातचीत के द्वारा उद्घाटित हो रही है । तब पहली बार अनुभव दबाव के उस मान पर पहूँचता है जब मुझे लगता है कि मैं इस तैयारी में हूँ कि अब इसकी कोई कथा बुनी जा सकती है ।"[३९]

कहानी या उपन्यास लिखते समय वे अपने को उस समय से तथा आसपास के लोगों से जुडा हुआ पाते हैं । इससे उनके सृजनात्मक तथा वैयक्तिक जीवन में एक प्रकार की एकनिष्ठता दिखायी देती है । क्योंकि एक लेखक अपने तथा अपने समय के जीवन को कुरेदते हुए जीवन सत्य की तलाश में लगा रहता है । रचना में वह उस जीवन को पुन: जीवित कर लेता है, "जितना भी लेखन या सृजन है वह अपने जीवन में हुई मृत्युओं की श्रृंखलाओं को कविताओं या कहानियों के जीवित क्षण में रूपायित करने की कोशिश है ।"[४०]

निर्मल जी की दृष्टि मध्यवर्गीय है । वह उनके लिए चिरपरिचित माहौल है । उस जीवन यथार्थ को, जीवन दृष्टि को उन्होंने अपनी रचनाओं में परिभाषित करने का कार्य किया है । यद्यपि उनका संपर्क विदेशी भाषा, साहित्य एवं संस्कारों से अधिक रहा है तथापि वे हिन्दी भाषा तथा अपनी सांस्कृतिक विरासत पर गर्व करते हैं । वे उस पर अडिग भी रहते हैं । इसलिए उनकी रचनाएँ मध्यवर्गीय जीवन की गहराई के पर्त दर पर्त खोलनेवाली हैं । उनमें एक दार्शनिक अन्दाज़ भी है, "हिन्दी के ज़रिए मैं अपनी मध्यवर्गीय चिंताओं और सरोकारों से अधिक गहन स्तर पर परिचित हो सका । हिन्दी

---

३९. निर्मल वर्मा - दूसरे शब्दों में, पृ.१५३
४०. निर्मल वर्मा - मेरे साक्षात्कार, पृ.७०

भाषा जो स्वयं अनेक विशेष अधिकारों से वंचित थी, ने मुझे ऐसे लोगों के अंतरंग जीवन में झाँकने का अवसर दिया, जो स्वयं विपन्न और अधिकारहीन थे ।"[४१]

निर्मल वर्मा ने गद्य की लगभग सभी विधाओं में अपनी लेखनी चलायी है । फिर भी वे कहानी के साथ सबसे ज़्यादा जुडे हुए नज़र आते हैं, "एक बिल्कुल व्यक्तिगत स्तर पर अपने भावनात्मक संसार में घुसने की सुविधा कहानी ज़रूर मुझे देती थी ।"[४२] उनके लिए कहानी की 'थीम' चुनने का कोई लगा बँधा नियम नहीं है । कुछ अनुभव उनकी स्मृतियों को उघाडते हैं; और वे अपनी एक निजी सृष्टि रूपायित करते हैं । कहानी में वे इसी सृष्टि को प्रामाणिकता एवं संपूर्णता से पाने का प्रयास करते हैं । इसके लिए उन्हें कोई पूर्वग्रह नहीं है । उन्हें अपने भीतर के सत्य को उद्घाटित करने की जिज्ञासा मात्र है । उनकी कहानियों का तंतुजाल सशक्त भावनाओं से बुना हुआ है । वे उनसे बहुत गहरे में उलझें हुए भी हैं । लेकिन यह उलझन उतना प्रत्यक्ष नहीं । क्योंकि वे अपने लेखन को अपने जीवन का पर्याय बनाना नहीं चाहते, "मैं प्राय: उन चीज़ों के बारे में नहीं लिखता, नहीं लिख पाता, जिनसे मैं घिरा हूँ, आवेष्टित हूँ क्योंकि तब मेरा लेखन उस चीज़ का पर्याय बन जाएगा,जिसे मैं जीना चाहता हूँ । मैं अपना लेखन किसी भी चीज़ का पर्याय नहीं बनाता । अपने विषय के प्रति भावनात्मक लगाव रहना तो स्वाभाविक है - उसके बिना मैं कुछ भी नहीं लिख सकता । किन्तु एक तरह की दूरी ठंडापन तटस्थता भी होनी चाहिए । लिखते हुए हमें एक 'न्यूट्रल ग्राउंड' तटस्थ भूमि पर रहना चाहिए ।"[४३]

'परिन्दे' कहानी के प्रकाशन से नयी कहानी के शीर्षस्थ लेखकों में उनका नाम भी गिना जाने लगा । क्योंकि इस कहानी से ही नयी कहानी का स्वरूप स्पष्ट होने लगा था । पर उन्होंने कहानी के प्रचलित रूप बन्ध पर जान-बूझकर कोई प्रहार करने की कोशिश नहीं की थी । फिर भी यह कहानी एक बहुत बडे परिवर्तन का कारण बनी । वे कोई

---

४१. निर्मल वर्मा - मेरे साक्षात्कार, पृ.२६
४२. वही, पृ.१०
४३. निर्मल वर्मा - दूसरे शब्दों में, पृ.१६६

आन्दोलन चलाना या उसका नेतृत्व लेना नहीं चाहते थे, "मै ने हमेशा अपने को नई कहानी के आन्दोलन और उसके जो नेता है, उनसे अलग पाया है । सिर्फ इसलिए नहीं कि आन्दोलन में कभी मुझे दिलचस्पी नहीं रही, बल्कि इसलिए भी कि मैंने कभी जानबूझकर यह कोशिश नहीं की कि मैं अपनी परंपरा से कोई चीज़ अलग कर रहा हूँ या उसे तोड़ने की कोशिश कर रहा हूँ ।"[४४] क्योंकि उनका लक्ष्य अपने अनुभवों को प्रामाणिक स्तर पर व्यक्त करना ही था । इससे स्पष्ट है कि वे अपने अनुभव एवं अनुभूति तथा उसके ईमानदार संप्रेषण में दत्तचित्त थे । अपनी परंपरा में खडे होकर नए को संप्रेषित करते समय वह रचना नई कहानी लगे या नहीं वह उनका विषय नहीं था । अगर उनकी कहानी नयी लगी तो भी वह आकस्मिक है । इस प्रकार पूर्णत: अपने रचना कर्म से प्रतिबद्ध रचनाकार है निर्मल जी ।

उनके उपन्यासों का फलक सीमित है । फिर भी अपने अनुभव क्षेत्र को उन्होंने औपन्यासिक धरातल पर प्रस्तुत करने का कार्य किया है । कहानी और उपन्यास के अन्तर को अपने नज़रिए में स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि कहानी का एक अंत होता है पर उपन्यास का अन्त नहीं । वह एक तलाश है, खोज है अपने मन में अव्यक्त रूप में वर्तमान तथ्यों एवं सत्यों को परिभाषित करने का निरन्तर प्रयत्न है । इसलिए उन्हें प्रिय कैनवास उपन्यास का है । उसमें उन्हें अपने को अपने समय को तथा जीवन के नए सत्य को तलाशने का अवसर मिलता है - "इसलिए मेरे लिए उपन्यास लिखना एक तरह का एक 'ब्रॉडर क्लेरिफिकेशन' है । उन चीज़ों को जिनके बारे में खुद मैं अपने भीतर बहुत धुँधला हूँ । मेरे लिए उपन्यास कभी यह नहीं रहा कि उसका ज़्यादा बडा कैनवास हो, या उसमें ज़्यादा चरित्र हों, या उसके मुद्दे अपने में अधिक जानदार (वाइटल) हों । बल्कि एक उपन्यास के ज़रिए मैं अपनी शंकाओं के रेगिस्तान को आलोकित करना चाहता हूँ । मैं अगर लिखता और लिखता चला जाऊँ तो शायद इन शंकाओं को पार कर सकता हूँ और

---

४४. निर्मल वर्मा - दूसरे शब्दों में, पृ.१८१

कभी-कभी इस तरह से लिखने का नतीजा एक उपन्यास होता है, जबकि कहानी में आप एक जगह पर पहुँच जाते हैं और कहते हैं कि लो यहाँ पर खत्म हो गयी । कहानी कुछ पाने का भ्रम देती है, उपन्यास ढूंढने की लम्बी यात्रा है ।''[४५]

निर्मल जी मध्यवर्गीय मानसिकता का कलाकार है इसलिए उनकी रचनाओं में अपने वर्ग को याने कि समाज के उच्च मध्यवर्ग को ही केन्द्रीय तत्व बनाया गया है । निम्न मध्य वर्ग या आम आदमी की अवधारणा उनके साहित्य में देखने को नहीं मिलती । कृष्णा सोबती ने निर्मल जी के साहित्य के इस पहलु पर ध्यान आकर्षित किया है, ''निर्मल का साहित्य आम आदमी-साधारण दिल-दिमाग का साहित्य नहीं है - निर्मल का रचना संसार सोफिस्टिकेटेड, मानसिक रूप से अति परिष्कृत वर्ग का साहित्य है । ऐसा कहना निर्मल की रचनात्मक सीमाओं की ओर इशारा करना नहीं हैं, बल्कि उसकी विशेषताओं का जायज़ा करना है ।''[४६] इस अतिपरिष्कृत वर्ग की बाहरी समस्याएँ बहुत कम हैं । इसलिए अन्धेरे बन्द कमरे, रेस्तराँ, सन्नाटा आदि उनके कथा-संसार में अहमियत पाते हैं । वे मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी की दुनिया को नकली मानने के पक्ष में नहीं हैं । वे इसका समर्थन करते हैं, ''मेरा और मेरे वर्ग का धागा चाहे कितना ही कमज़ोर क्यों न रहा हो, वह धागा हमेशा रहा है लेकिन उस धागे की जितनी गाँठे हैं; वह किसी 'टिपिकल' मध्यवर्ग के लोगों की विशेषताओं के द्वारा उद्‌घाटित न होकर बहुत कुछ मेरे अपने ढंग - जैसे मैं उन्हें देखता हूँ या जैसे उसके द्वारा मैं उसकी ज़िन्दगी में अपने अस्तित्व को पाता हूँ, वैसे अभिव्यक्त करने की कोशिश की है - शायद इसे ही हम 'आंतरिक यथार्थवाद' कहते हैं - जहाँ यथार्थ भीतर और बाहर की सीमाओं को तोडता है ।''[४७] इस आन्तरिक यथार्थ को संप्रेषित करना ही कला का सबसे बडा जोखिम है । रचना के स्तर पर उन्होंने इस जोखिम को उठाया भी है ।

---

४५. निर्मल वर्मा - मेरे साक्षात्कार, पृ.१५
४६. कृष्ण सोबती - सोबती एक सोहबत, पृ.२२२
४७. निर्मल वर्मा - दूसरे शब्दों में, पृ.१८२

उन्होंने जान-बूझकर ही अपने आपको परंपरा से चली आ रही ज़मीन्दार-किसान, वर्ग-संघर्ष, शोषण जैसी समस्याओंवाली कथा-परिपाटी से दूर रखा । क्योंकि वह उनका अनुभव क्षेत्र नहीं रहा । जो लेखक ग्रामजीवन के नब्ज को पकडने में सफल है वे ही ऐसी रचनाएँ कर सकते हैं । रेणु ऐसा कथाकार हैं । इसीलिए वे 'मैला आंचल' लिख सके हैं । निर्मल जी का वातावरण शहरी है । इसका मतलब यह नहीं कि ग्रामीण परिवेश में लिखी रचनाएँ उन्हें पसन्द नहीं । प्रेमचन्द की कहानियाँ रेणु के उपन्यास आदि उन्हें बहुत पसन्द हैं । "हम उन्हीं चीज़ों के बारे में अंतरंगता और प्रामाणिकता के साथ लिखते हैं जिन का बोध या ज्ञान हमें बहुत निकट से व्यक्तिगत रूप में मिला होता है ।"[४८]

निर्मल जी के पात्र तनावग्रस्त है । यह तनाव उनके अनुसार मनुष्य जीवन की एक अनिवार्यता है । यह तनाव किसी एक वर्ग का नहीं । वह संपूर्ण मानव जाति की नियति है । उनके अनुसार "यह एक तरह की अनुभव राशि है जो हमारे साथ रहती है । मेरी कथा में जिस अदृश्य किस्म के तनाव की बात आपने कही है, वह मुझे बिल्कुल सही और सटीक जान पडती है । अगर इसे मैं दो शब्दों में कहूँ तो मुझे यह लगता है कि मनुष्य होना अपने में ही एक तनाव की स्थिति में जीना है ।"[४९] यह तनाव किसी खास सामाजिक परिस्थिति या व्यक्तियों के बीच में अलगाव के कारण उत्पन्न होनेवाला तत्व नहीं । यह मनुष्य की संरचना के साथ जुडा हुआ है । इसलिए मनुष्य का मनुष्य के रूप में जीना ही तनाव है । क्योंकि वह चिन्तनशील प्राणी है । निर्मल जी ने अपने निबन्धों में इसका ज़िक्र किया है । यह तनाव एक पशु अपने पशुवत् जीवन में महसूस नहीं करता । क्योंकि वह अपने में बिल्कुल आत्मनिष्ठ जीवन बिता रहा है । उसी प्रकार देवता भी इस तनाव को महसूस नहीं करते क्योंकि उनकी भी एक संपूर्णता उनमें है । अलगाव और अकेलेपन का यह तनाव दुनिया के पशु पक्षी या प्रकृति का कोई भी दूसरा अंश उतना

---

४८. निर्मल वर्मा - मेरे साक्षात्कार, पृ.३८
४९. दस्तावेज़ - मार्च-अप्रेल १९९०, पृ.२६

महसूस नहीं करता जितना मनुष्य करता है, "मैं सोचता हूँ कि अगर मनुष्य का पहला पतन (फॉल) यह हुआ कि वह प्रकृति से अलग हुआ तो उसका दूसरा पतन तब हुआ जब वह 'मनुष्य' से 'व्यक्ति' में बदला । यह अलगाव की दूसरी सीढी थी - मनुष्य जाति से ही अपने को विलगित रूप में पाना - एक अकेले जीवन के आत्मचेतन के रूप में ।"[५०] इसलिए मनुष्य में यह तनाव वास्तव में प्रकृति से, दूसरों से तथा आखिर अपने से अलग होने की स्थिति का परिणाम है । मनुष्य जब बाहरी जगत् से अपने में सीमित हो जाता है तब एक विशेष प्रकार के तनाव को महसूस करने लगता है । यह तनाव वास्तव में अकेले होने की स्थिति से उत्पन्न नहीं दूसरों से अनजाने ही कटे होने के बोध से उत्पन्न तनाव है ।

आज के औद्योगिक समाज में व्यक्ति सचमुच ही अपने पारिवारिक संबन्धों से अलग हो गया है । पहले परिवार में सुरक्षा का भाव था । पर अब यह भाव मिट गया है । पुरानी आत्मीयता नष्ट हो गयी है । आज व्यक्ति के लिए अपना होना एक बोझ बन गया है । इस यातना को लेकर वे संबन्धों के बीच में अपने को अकेला महसूस कर रहे हैं । इसी विसंगति को निर्मल जी ने अपनी कहानियों में विन्यस्त किया है । उनका मकसद किसी समस्या को सुलझाना नहीं बल्कि वास्तविकता को जताना है - "एक समस्या से कभी भी कोई कहानी न तो जन्म लेती है और न अपना आकार ग्रहण करती है और न ही वह मेरी बुनियादी प्रेरणा का स्रोत है । यह अवश्य है कि जब कोई अनुभव बहुत व्यक्तिगत स्तर पर मुझे त्रस्त करता है तो उस अनुभव को मैं हमेशा ठीक समझता रहा हूँ ।"[५१] यह अनुभव दरअसल जीवन का सत्य है । यह अनुभव इस सत्य को पहचानना है । रचना में रचनाकार इस अनुभव सत्य को संप्रेषित करता है । अनुभव की यह तपिश ही निर्मल जी की कहानियों को जीवन्तता प्रदान करती है । अपनी वैयक्तिक और अमूर्त से

---

५०. निर्मल वर्मा - मेरे साक्षात्कार, पृ.५८
५१. वही, पृ.७६

अमूर्त व्यथा को ठोस परिवेश में चरितार्थ करने की कोशिश के कारण ये रचनाएँ कहीं न कहीं वैयक्तिक लगने पर भी पाठकीय संवेदना को जगाने में सक्षम सिद्ध हुई हैं ।

साहित्य के बारे में उनकी जो मान्यताएँ हैं उन्हें उन्होंने अपने निबन्धों में व्यक्तकरने की कोशिश की है । उन मान्यताओं को उन्होंने राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में परिभाषित करने का कार्य भी किया है। उन्होंने यह स्पष्ट भी किया है, "वे मेरे राजनीतिक और सामाजिक अनुभवों की यात्रा का ब्यौरा रहे है ।"[५२] उन्होंने जो कुछ अपने अनुभवों से सीखा है, जो भी गलतियाँ उन्होंने की हैं, अपने देश को लेकर उनकी जो आशाएँ और आशंकाएँ हैं उन सबको आत्ममंथन के ज़रिए चिंतन के स्तर पर प्रस्तुत किया है । वर्तमान समाज में व्यक्ति की आत्मलिप्त स्थिति, पराएपन की पीड़ा, आश्रयहीनता का बोध, अमानवीय व्यवहार, मनुष्य के मनुष्य न बनते जाने की स्थिति, आतंक, भय आदि को जैसे कहानियों उपन्यासों में प्रस्तुत किया था उसको सीधे और स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत करने का कार्य उन्होंने अपने निबन्धों में किया है, "हमारे तथाकथित महानगरों में लोगों की वैयक्तिक संबन्धों में जो रिक्तता और आत्म-उन्मूलन-बोध आया है - अर्थ पाने की प्यास किसी दिव्य सत्ता के अभाव में एवं निर्वासित अनाथावस्था की पीडा - ये सब परोक्ष रूप से मेरी कहानियों में व्यक्त हुई है - किन्तु अधिक सीधे और समस्यामूलक स्तर पर उनकी अभिव्यक्ति मेरे निबन्धों और लेखों में हुई है, जो मैं पिछले वर्षों में कहानी उपन्यास के साथ लिखता रहा हूँ ।"[५३]

निर्मल जी के मुताबिक हर रचना हमें एक नये सत्य से साक्षात् कराती है । यही साहित्य को अनिवार्य बनाने का तत्व है, "हम एक ऐसे सत्य से साक्षात् करते हैं, जो सत्य हमें न फिलोसफी दे सकता है, न धर्मशास्त्र दे सकता है, न राजानीती दे सकती है । जिस दिन हम समझ लेंगे कि 'देयर इज़ नो सब्स्टीट्यूट फॉर लिटरेरी ट्रूथ' उस दिन हमें साहित्य

---

५२. निर्मल वर्मा - मेरे साक्षात्कार, पृ.६९

५३. वही, पृ.१४७

की अनिवार्यता का पता चलेगा ।''[५४] कलाकृति के प्रति उपयोगितावादी दृष्टि नहीं अपनानी चाहिए । किसी भी साहित्यिक विधा का सत्य उसके शब्दों में निहित है । उन शब्दों की तह में निहित सत्य को पकड पाना कोई आसान कार्य नहीं है । पाठक उसका कुछ अंश ग्रहण कर लेता है । कुछ रचना में ही रह जाता है । मनुष्य के परिष्कृत होने के साथ रचना में निहित अनपहचाने पहलुओं को प्राप्त करने की क्षमता वह हासिल कर लेता है । याने कला में जो 'एक्स्ट्रीम सिचुवेशन' होता है वह हमें अपने औसत जीवन से कभी प्राप्त नहीं हो सकता, ''साहित्य हमें किसी अनुभव की अन्तिम परिणति तक ले जाता है । उस अन्तिम परिणति पर ले जाकर हमारे सामने अपना समूचा जीवन,जीवन की विसंगतियाँ, जीवन की पीडा, जीवन का सुख सब एक फिल्म की तरह घूम आता है । मैं मृत्यु के पास नहीं जाता, लेकिन मृत्यु से पहले टॉलस्टॉय मुझे एक पाठक को यन्त्रणा भरे एक पूरे अनुभव से गुज़ार ले जाने में समर्थ होते हैं । ये क्या छोटी बात है ?''[५५]

साहित्य का यथार्थ कोई पूर्व निश्चित यथार्थ नहीं है । साहित्य यथार्थ के विभिन्न पहलुओं को अपने में समेट लेता है । इसको पहचानना कोई आसान कार्य नहीं इसके लिए विशेष क्षमता की ज़रूरत है । आजकल साहित्य में अभिव्यक्त यथार्थ पर भी चर्चाएँ खूब हो रही हैं । साहित्य का यथार्थ उसका स्थूल यथार्थ नहीं । उसकी तह में निहित सूक्ष्म यथार्थ है, 'यथार्थ की किसी एक परिभाषा पर आग्रह करना समूचे यथार्थ की विराट संभावनाओं को संकुचित कर देना है । एक लेखक के लिए यह बहुत ज़रूरी है कि वह यथार्थ के पीछे जो सत्य है, ऊपर से दिखनेवाले भ्रमों के पीछे जो यथार्थ है, उसकी परतों को खोल सकें । तब आप देखेंगे कि कहानी जिस यथार्थ को उद्घाटित करती है, वह न

---

१४. निर्मल वर्मा - आदि अन्त और आरम्भ, पृ.१३३

१५. वही, पृ.१७६

तो आकाश मेंबहते बादलों का यथार्थ है, न गली में घूमते सुअरों का बल्कि एक ऐसा सत्य है जो दोनों को अपने में समेटकर भी अपनी अलग सत्ता कायम रखता है ।''[५६]

निर्मल जी ने लेखक की स्वतंत्रता पर भी गंभीर विचार किया है । लेखक की स्वतंत्रता उसकी अन्य नागरिक स्वतंत्रताओं के साथ वैचारिक स्वतन्त्रता से जुड़ी रहती है । उनकी राय में ''वैयक्तिक स्वतंत्रता को वैचारिक स्वतंत्रता से अलग रखना असंभव हैं ।''[५७] वैचारिक स्वतंत्रता नागरिक अधिकारों की रक्षा में सब से सशक्त ढाल का काम करती है । इसीलिए एक स्वेच्छाचारी शासन व्यवस्था में सबसे पहली और सीधी चोट वैचारिक स्वतंत्रता पर लगती है । बीसवीं शती में सबसे अधिक चोट लगा मानव मूल्य एवं वैचारिक स्वतंत्रता पर । इतिहास, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, दर्शन आदि मनुष्य को विभिन्न अवधारणात्मक कोटियों में परिभाषित करते हैं । कला में तो मनुष्य अपने को समूची समग्रता में परिभाषित करता है । वह यह तभी कर पाता है जब उसमें 'दूसरे' तक पहूँचने की अबाध छूट विद्यमान रहती है । लेखक के लिए लिखने की स्वतन्त्रता सबसे प्रमुख है, क्योंकि रचना संवाद है, ''लिखने की स्वतंत्रता समाज के भीतर ऐसे संवाद की संभावना खोलती है, जो किसी बाहरी दबाव से परिचालित न होकर स्वयं मनुष्य के 'आत्मबोध' से उन्मेषित होती है ।''[५८]

संवाद का सबसे शक्तिशाली माध्यम भाषा है । उससे ही मनुष्य अपने को दूसरे तक पहूँचा सकता है । भाषा मनुष्य के मनुष्यत्व की प्रतीकात्मक पहचान है; इसीमें उसकी स्वतंत्रता काम करती है । मनुष्य होने के नाते व्यक्ति को कई अधिकार और स्वतंत्रता पहले से ही प्राप्त होते हैं । संविधान सिर्फ उस स्वतंत्रता को बनाए रखती है । जब भी कोई शासन-व्यवस्था किसी व्यक्ति को उसकी आत्माभिव्यक्ति के अधिकारों से वंचित करती है तो वह संवाद की मूल प्रतिज्ञा को ठेस पहुँचाती है ।

---

५६. निर्मल वमा - मेरे साक्षात्कार, पृ.३९
५७. निर्मल वर्मा - दूसरे शब्दों में, पृ.६५
५८. वही, पृ.६८

निर्मल जी किसी राजनीतिक दल का सदस्य नहीं है। सन् १९५६ में जब हंगरी में सोवियत हस्तक्षेप हुआ तब से उनका किसी राजनीतिक दल से कोई नाता नहीं है। लेखक को एक सतर्क नागरिक की हैसियत से समाज की हर समस्याओं को परखना चाहिए। यह तभी संभव है जब वह स्वतंत्र रूप से अपना रचनाकार्य संपन्न करें। किसी राजनीतिक दल विशेष के आइने से समाज को देखने पर उसका सही रूप पकड पाना मुश्किल हो जाता है। इसलिए उसको तटस्थ होना ज़रूरी है। तब उसका देखना और परखना एकांगी नहीं होगा। इस प्रकार वह एक अच्छे नागरिक और सफल लेखक दोनों की भूमिका निभा सकता है। निर्मल जी के अनुसार -"असली लेखक शायद वह होता है, जो गहराई में जाकर चीज़ों, घटनाओं, व्यक्तियों के अर्न्तसंबन्धों की थाह पा सके। उसे पीडायुक्त, पेचीदा प्रश्नों को अपने से पूछना होगा जैसे क्या हमारे जीवन में कोई चीज़ पवित्र है ? या 'हम क्यों दूसरों के प्रति इतना निर्मम, इतना क्रूर होते हैं ?' या ऐसे ही प्रश्न जो जीवन के अन्धेरे पहलुओं को उजागर करते हैं।"[५९]

एक लेखक जीवन में जो कुछ भोगता है, जिन प्रभावों को ग्रहण करता है, जिन घटनाओं से उद्वेलित होता है, वे उत्तरोत्तर उसके भीतर के ऐसे स्थलों को आलोकित करते हैं जिनके प्रति वह लेखक तब तक अचेत रहा, "लिखते हुए मुझे ऐसा नहीं लगता कि मैं किसी नये, अजीब स्थान की ओर जा रहा हूँ, बल्कि ऐसा लगता है कि मैं बार-बार हर कहानी और उपन्यास में उसे पाने की चेष्टा कर रहा हूँ, जिसके यथार्थ को मैं ने खो दिया है, किन्तु जिसकी स्मृति की छाया अब भी बची है। मैं शब्दों द्वारा भोगे हुए यथार्थ को नहीं भूले हुए यथार्थ को पुनर्जीवित करना चाहता हूँ। हमें किसी अंजाने अजीब स्थान में जाकर या किसी निपट नये अनुभव से गुज़रते हुए ऐसा भ्रम होता है कि हम यहाँ पहले भी आ चुके हैं, या हमारे साथ ऐसा पहले भी हो चुका है।"[६०] हर महत्वपूर्ण कलाकृति हमें

---

५९. निर्मल वर्मा - मेरे साक्षात्कार, पृ.९१

६०. साक्षात्कार - नवम्बर-दिसंबर १९९५, पृ.११

स्मृतियों, संकेतों, बिम्बों आदि के द्वारा जीवन के प्राथमिक अनुभवों का साक्षात् कराती है ।

वे रचनाशीलता में समीक्षा को महत्वपूर्ण नहीं मानते । उनके अनुसार किसी अच्छे लेखक को अपनी कृति के मूल्यांकन के लिए किसी आलोचक का मुँह नहीं ताकना चाहिए । एक अच्छा लेखक खुद अपना निर्मम एवं कठोर आलोचक भी हो सकता है । उसे वैसा होना ही चाहिए । हर रचनाकार अपनी रचना-प्रक्रिया में अपने अनुभव के विशाल क्षेत्र में से कुछ को चुनता है और कुछ को छोड़ देता है । वह उन केन्द्रीय तत्वों या बिंबों को रेखांकित करता है जो उसके जीने, देखने, मरने के क्षणों को आलोकित करता है । वही रचना में परिणत होता है। अन्तत: लेखक उस कसौटी का निर्माण करता है जहाँ रचना स्वयं अपने को अपने मूल्यों के आधार पर आँकती है । निर्मल की राय में एक लेखक आत्मालोचन की जिस जंगल से गुज़रकर रचना का सत्य हासिल करता है उसे एक पेशेवर आलोचक शायद ही समझ पाता हो ।

साहित्य में ज़िन्दगी को प्रमुखता देनी चाहिए । लेकिन फिलहाल विचारधारा साहित्य पर हावी होती जा रही है । वे इस के पक्ष में नहीं है कि साहित्य विचारधारा पर हावी हो जाये, ''रचना हमें जीवन के उतार-चढ़ावों, लहरों आँधियों, हर तरह के चोटों और ठोसों से साक्षात्कार कराती है । रचनाकार इन्हें तभी अभिव्यक्त कर सकता है जब उसने अपने से बाहर निकल कर दूसरों की ज़िन्दगी में पैठने का प्रयास किया हो । ज़िन्दगी जैसी है, वैसी जस की तस, चाहे तो कितनी ही कुरूप, निर्मम, भद्दी क्यों न हो उसके सारे पहलुओं को छूने का साहस दिखाया हो । इन्हीं से रचना की शक्ति का विकास होता है । विचारधारा अपने आप में कोई बुरी चीज़ नहीं, लेकिन एक लेखक को किसी खास विचारधारा का गुलाम नहीं होना चाहिए । विचारधारा तो ऊपर की चीज़ है । ज़िन्दगी में जितनी दृष्टियाँ हैं,दर्शन हैं उन्हीं को लेकर विचारधारा बनती है । उनके अलग-अलग अनुभवों को लेकर ही लेखक को इन दृष्टियों के भीतर जाने की कोशिश करनी चाहिए, जो

मूल है ।"[६१] ज़ाहिर है कि निर्मल जी किसी विचारधारा का समर्थन या प्रसारक नहीं बल्कि वे सभी प्रकार की विचारधाराओं से गुज़रते हुए अपनी अलग मानसिकता रूपायित कर लेते हैं और उसी के तहत रचनारत हो उठते हैं । अत: निर्मल वर्मा सही अर्थ में प्रतिबद्ध रचनाकार है । पर उनकी प्रतिबद्धता किसी विचारधारा से नहीं बल्कि अपनी रचना से है । वे सत्य के पक्षधर हैं; सत्य के संप्रेषक है; सत्य का अन्वेषी है और सत्य के प्रवाचक भी ।

निर्मल जी के लिए लिखना रिस्क को मोल लेना है । क्योंकि वे रचना के ज़रिए गंभीर दायित्व को निभा रहे हैं । इसलिए रचना के लिए वे बहुत मेहनत भी करते हैं । बार बार काट-छांटकर बदल बदल कर लिखते थे । इसमें उन्हें कोई संकोच नहीं है बल्कि सम्मान का भाव है । इसलिए कि वे रचना के ज़रिए नए सत्य को संप्रेषित करने का गौरवपूर्ण कार्य कर रहे हैं । कृष्णा सोबती ने निर्मल जी के सृजनात्मक व्यक्तित्व की इस विशेषता की ओर प्रकाश डाला है - "निर्मल अपनी कहानियों, उपन्यासों के अकसर तीन ड्राफ्ट करते हैं । पैदायिशी जीनियस उनसे सबक सीखें । निर्मल लिखते हैं तो पढ़ते भी खूब हैं । हमने उनकी शेल्फों को देखकर कई नाम याद किए । निर्मल के कमरे में ढेरों किताबें हैं । फर्श पर उनका बिस्तर है । कोने में छोटी सी रैक है । चाय-काफी, चीनी, कुछ बिस्कुट, चीज़, डबल रोटी और छोटी सी चौकी पर हाट-प्लेट । मेहमानों के लिए कुर्सी । एक कोने में पढ़ने की टेबल । दरवाज़े पर ढ़िलाई से लटकता परदा । कमरे की पूरी बनावट और बुनावट देखकर हमें बहुत अच्छा लगा । कहीं कुछ दिखावटी या चौंकानेवाला नहीं । साधारण सादगी रहने को सिर्फ जुगाड भर।"[६२]

निर्मल वर्मा के उपन्यासों - कहानियों में यद्यपि भारतीय परिवेश का अभाव दिखायी देता है तथापि वे फणीश्वरनाथ रेणु के बहुत बड़े प्रशंसक हैं । स्वयं निर्मल जी इस विरोधाभास पर यों बताते हैं - "मैं शायद उनके लेखन को इसलिए बहुत अधिक पसन्द

---

६१. निर्मल वर्मा - दूसरे शब्दों में, पृ.१९३

६२. कृष्ण सोबती- सोबती एक सोहबत, पृ.२२४

करता हूँ क्योंकि वे अपने लेखन में एक ऐसी दुनिया (ग्रामीण दुनिया) उद्घाटित करते हैं, जिसमें मैं वाकिफ नहीं हूँ ।''[६३] यह कथन निर्मल जी की लेखकीय ईमानदारी को व्यक्त करनेवाला है ।

निर्मल जी अपनी ज़िन्दगी में घटी किसी भी साधारण से साधारण घटना को भी महत्वपूर्ण मानते हैं । कुछ व्यक्ति, कुछ किताबें, रेल की यात्राएँ, प्राग का पतझड, गुज़रे हुए मित्र, देखे हुए चित्र, कुछ अन्तनियोनी, बर्गमान और तारकोवस्की की फिल्में, पुराने सुने हुए रिकार्ड, मल्लिकार्जुन मंसूर को कभी किसी भी समय गाते हुए देखना, प्रूस्त का उपन्यास, चेखव की कुछ कहानियाँ, गर्मी की लम्बी दोपहरें, दिल्ली शहर, अपना कमरा और वे सब घटनाएँ और अनुभव है जिन्होंने उन्हें प्रभावित किया है । इन सबका निर्मल के जीवन में कोई अन्त नहीं । इसी विशाल अनुभव संपदा ने ही निर्मल को एक सजग लेखक बनाया था ।

मदन सोनी के अनुसार निर्मल जी की कथाओं की सफलता इस बात में है - ''वे हमेशा एक अन्तर्निहित कथा का विन्यास करने की कोशिश में, या उसको उजागर करने की कोशिश में लिखी जाती है और ऐसा करते हुए वे अदृश्य हो जाती हैं, जैसा कि उस दिशासूचक चिह्न के साथ भी होता है कि वह हमेशा दिशा बताकर खुद अदृश्य हो जाता है । करानेवाला है । इस अर्थ में आप की कहानियाँ अदृश्य होती हुई कहानियाँ हैं - पाठक को उस दिशा में छोडती हुई जहाँ कहानी की संभावना है ।''[६४]

ध्रुवशुक्ल कहते हैं - ''निर्मल वर्मा हिन्दी के प्रथम गद्य कवि हैं । निर्मल का गद्य पढते हुए लगता है कि वह आत्मा का गद्य है - आधुनिक मनुष्य के आत्म का नया

---

६३. माया - १५ मई २०००, पृ.७७

६४. निर्मल वर्मा - दूसरे शब्दों में, पृ.१६४

छन्द ।''[६५] यह कथन निर्मल जी की सृजनात्मकता और सृजन-प्रक्रिया से सही पहचान करानेवाला है ।

निर्मल जी का व्यक्तित्व और रचना व्यक्तित्व अलग नहीं । दोनों एक दूसरे के पूरक तत्व है, जिसको अलगाना मुशकिल है । वे हिन्दी के कतिपय श्रेष्ठ गद्यकारों में अग्रणी है । वे आत्मबोध से संपन्न रचनाकार हैं । साथ ही साथ उनका विश्व-बोध भी उतना ही प्रखर और परिपक्व है । इसकी झलक हमें उनकी रचनाओं में मिल जाती है । उनका साहित्य अपने समय के यथार्थ को उसकी पूरी गहराई के साथ भोगने और पहचानने का परिणाम है । इसमें अनुभव एवं अनुभूति की तपिश है। इन सबसे बढ़कर वे रचना को और रचना-कर्म को महत्वपूर्ण स्थान देनेवाले रचनाकार हैं । वे ज्ञानी है पर अदना आदमी है, अहंग्रस्त नहीं बल्कि सरल एवं विनत है । हर कहीं, रचनाओं में, जीवन में, यात्राओं में मानव जीवन के नए नए सत्य को तलाशनेवाले मनीषी हैं ।

६५. (सं.) अशोक बाजपेयी - निर्मल वर्मा, पृ.१२८-१२९

दूसरा अध्याय

निर्मल वर्मा का कथासाहित्य : उपन्यास

हिन्दी साहित्य में उपन्यास-विधा की अपनी एक सुदीर्घ परंपरा है । एक शतक की कालावधि में इसने कई उल्लेखनीय कृतियों से हिन्दी साहित्य को सँवारा है । उपन्यास जीवन की समग्रता को चित्रित करने में सक्षम विधा है । युग जीवन के स्पन्दनों को अपने विस्तृत कलेवर में समेटते हुए उपन्यास विधा ने कालजयी रचनाओं से हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाया है । स्वाधीनता परवर्ती युग में उपन्यास का दायित्व बहुआयामी तथा उसका क्षेत्र संघर्ष भरा दिखाई देता है । इस संघर्ष को आत्मसात करते हुए सक्रिय सृजन कार्य में संलग्न रचनाकार हैं निर्मल वर्मा । वे स्वाधीनता परवर्ती उपन्यासकारों में अग्रणी हैं । उनके उपन्यास अपने समय का सही प्रतिनिधित्व करनेवाले हैं ।

स्वातन्त्र्योत्तर परिवेश और उपन्यास साहित्य

सन् १९०० से अब तक का समय भारत वर्ष के लिए ही नहीं समस्त विश्व केलिए भी अत्यधिक महत्वपूर्ण है । द्वितीय विश्वयुद्ध की भीषण घटनाओं से मानवीयता का जो ध्वंस हुआ था उसके साथ पुरानी दुनिया, उसके मूल्य तथा जीवनमान भी ध्वस्त हो गए । साम्राज्यवादी, पूँजीवादी, तानाशाही तथा धार्मिक व्यवस्थाओं का ढाँचा धीरे-धीरे निर्बल होने लगा था । सन् १९४७ में एक सुदीर्घ प्रयत्न के फलस्वरूप भारतवर्ष जब दौ सौ वर्षों की अंग्रेज़ी दासता की श्रृंखलाओं को तोड़कर स्वतंत्र हुआ तो उसी के साथ नई समाज रचना और मानव-मुक्ति की नई चुनौतियाँ उत्पन्न हुईं । इसके साथ स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य में विविध भंगिमाएँ, नई मानसिकताएँ, सामाजिक चेतना तथा युगबोध, नए परिवेश एवं मूल्यबोध के मुताबिक विकसित होने लगे । हिन्दी साहित्य और उसकी संवेदना बदलने लगी । नए लेखक एक ओर अपने परिवेश से सीधा प्रभावित हैं तो दूसरी ओर भारत की अन्य भाषाओं के साहित्य से तथा विदेशी साहित्य से भी प्रभावित होते रहे हैं । वे वैश्विक परिवर्तनों के दबावों को भी झेलते हुए दिखायी देते हैं । स्वतंत्र भारत की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक परिस्थितियों ने उसे एक रचनाकार की हैसियत से पुनः

चिंतन की प्रक्रिया के लिए विवश कर डाला । युद्धोत्तर यूरोप के जीवन तथा साहित्य उन्हें आदर्श बन गए ।

भारत के विभाजन की त्रासदी ने मनुष्य के तमाम संबन्धों को खौफनाक, दहशत भरा और सन्देहपूर्ण बना दिया । उसे अपनी इस बदहाली में न सिर्फ अपनी भूमि से बल्कि इन्सानियत से भी निर्वासित होना पड़ा । अखंड भारत के स्वप्न में डूबी जनता स्वप्नभंग के शिकार बन गयी । ईश्वर पर लोगों का विश्वास भी उठ गया । इस ईश्वरहीन विश्व में मनुष्य ने जिस मानवीयता पर पनाह ढूँढी थी, उसमें भी दरारें पड़ गयीं, ''वह त्यागी पीढ़ी जो चौदह अगस्त की रात के ग्यारह बजकर उनसठ मिनट तक बहुत संयमी, आदर्शवादी, स्वप्नदर्शी, सच्चरित्र और साधु थी, एक मिनट बाद ही स्वार्थलोलुप अत्याचारियों में बदल गयी । चारों तरफ एक नया राजनीतिक वर्ग पनपने लगा जो जोंक की तरह जनता का रक्त चूसने लगा और अपने लिए सुविधाएँ बटोरने में लग गया । स्वार्थपरता, जातिवाद, भाई-भतीजावाद, कालाबाज़ारी, बेइमानी आदि का जो दौर चला उसने जनता को मोहभंग की स्थिति में ज़बरदस्ती खड़ा कर दिया ।''[१] इन सबके कारण पूर्ववर्ती मान्यताओं से भिन्न एक मानसिकता पूरे साहित्य में दृष्टिगत होने लगी । यह नयी मानसिकता भारतीय साहित्य में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ही दिखायी देती है । पर यूरोपीय साहित्य में इस संवेदना की लहरें विश्वयुद्धों के उपरान्त दिखायी देती हैं । इसे साहित्यिकों ने आधुनिक भावबोध की संज्ञा दी । आधुनिक भावबोध के तहत मनुष्य को तथा मानव जीवन को नए सिरे से समझने और व्याख्यायित करने का प्रयत्न उन्होंने शुरू किया ।

आधुनिक भावबोध एक अर्थ में समसामायिकता से अपनाया गया यथार्थ बोध है । इसने प्राचीन रूढ़ी परंपरा एवं प्राचीनता के अंध मोह से मुक्त होकर वर्तमान मूल्यों, उपलब्धियों, आस्थाओं तथा आकांक्षाओं पर नया प्रश्नचिह्न लगाया । वर्तमान विसंगत स्थिति ही इस आधुनिकता बोध का मूल आधार है । उन्नीसवीं शताब्दी की इस संक्रान्ति-

---

१. कमलेश्वर - नयी कहानी की भूमिका, पृ.५९

पूर्ण परिस्थिति के परिप्रेक्ष्य में ज्ञान-विज्ञान तथा टेकनालॉजी के विकास ने अनेक प्रकार के ऐसे सत्यों को जन्म दिया, जिनके परिणामस्वरूप जीवन एवं जगत् के प्रति एक नया दृष्टिकोण अपनाया गया। इस संक्रान्त स्थिति में मनुष्य जीवन की चेतना अत्यन्त जटिल होने के साथ साथ सर्वथा उलझी हुई रूखी एवं निस्तेज-सी हो गयी। आधुनिक मानव तनाव, कुंठा और संत्रास में डूबने लगा। वह विश्वास और अविश्वास के बीचों बीच डवाडोल होने लगा। आदर्श एवं परंपरागत मूल्यों का इस आधुनिक मानव के जीवन में कोई महत्व नहीं रहा। एक प्रकार की अनिश्चितता ने उसके जीवन को ग्रस लिया था। इसलिए वह अपने आप को अकेला एवं अजनबी महसूस करने लगा।

स्वाधीनता-परवर्ती भारतीय परिवेश ने बुद्धिजीवियों को इस नए यथार्थ पर सोचने-विचारने को विवश कर दिया। इसके परिणाम स्वरूप हिन्दी साहित्य में अजनबी अकेले एवं कुंठित पात्रों का यथार्थ अनावृत होने लगा। अत: स्वाधीनता परवर्ती हिन्दी साहित्य की लगभग सभी विधाएँ इस नयी संवेदना से संपन्न हैं। अन्य साहित्यिक विधाओं की बनिस्बत उपन्यास का संबन्ध जीवन से सीधा और प्रत्यक्ष है। इसलिए इस आधुनिक भावबोध ने उपन्यास साहित्य में अपना सान्निध्य ज़्यादा सशक्त बनाया है। इस नयी संवेदना को भारतीय जनमानस ने अपना ही यथार्थ पहचान लिया और उसे स्वीकृति दी। इस संवेदना के संप्रेषण के संदर्भ में चिरस्मरणीय व्यक्तित्व है - अज्ञेय, मोहन राकेश, कमलेश्वर, उषा प्रियंवदा, राजेन्द्रयादव, मन्नू भण्डारी, निर्मल वर्मा आदि।

आधुनिक भावबोध से संपृक्त इन के उपन्यासों में कथानक तथा चरित्र की निर्धारित रेखाएँ नहीं के बराबर हैं। उनके मूल में विचार, बौद्धिकता तथा खुद के अनुभव ही सक्रिय रहे हैं। इसने वास्तव में आधुनिक हिन्दी उपन्यास तथा उसकी संरचना को विशिष्टता प्रदान की है। यह परंपरागत औपन्यासिक रचनाविधान से सर्वथा नया है। क्योंकि इन उपन्यासकारों ने जीवन की विराटता की अपेक्षा उसके छोटे-छोटे टुकडों तथा उलझनों को प्रमुखता देकर जीवन की समग्रता को अभिव्यक्त करने का कार्य किया है,

'विराट जीवन के छोटे-छोटे टुकडे लेकर इस ज़िन्दगी का चित्र उपस्थित करने में उपन्यासकारों को अपनी समूची शक्ति लगानी पड़ रही है । क्योंकि ज़िन्दगी के छोटे टुकडों की असंख्य जटिल समस्याएँ उसे एक साथ प्रस्तुत करनी पड़ती है - छोटा-सा टुकडा भी अपनी सघन बुनावट को लेकर लेखक के सामने खडा होता है क्योंकि लेखक की समझ बदलीन काल की माँग के परिणाम-स्वरूप अधिक शक्तिशाली बनी है ।''[२]

हिन्दी उपन्यास साहित्य में आधुनिकता की पहली पहचान देनेवाली रचना प्रेमचन्द का 'गोदान' ही है । मानव जीवन के यथार्थ से असंपृक्त, कल्पना जगत में विचरण करनेवाले रंजक साहित्य को मनुष्यकी इहलौकिक चिंता से संबद्ध करनेवाला प्रथम सशक्त उपन्यासकार है प्रेमचन्द । उन्होंने इस साहित्यिक-विधा को एक नया मोड़ देने का कार्य किया । 'गोदान' में प्रेमचन्द की सृजनात्मक मानसिकता ने निस्सन्देह एक नया मोड़ लिया है । उन के रचना व्यक्तित्व में अपने समय को पहचानने और उसके साथ गतिशील रहने की व्याकुलता दिखायी देती है । एक पराधीन समाज की जड़ता से अवगत होकर उन्होंने भारत के शोषितों, दलितों, श्रमिकों तथा पीड़ित उपेक्षित एवं शोषित नारी वर्ग को दबाकर रखनेवाली गलत व्यवस्था पर प्रहार शुरू किया । उनके अंतिम दौर के उपन्यासों तथा कहानियों में एक विशेष प्रकार की मानसिकता दिखाई देती है जिसे आधुनिकता की शुरूआत मानी जानी चाहिए । यह मानसिकता कथा की विरामहीनता तथा प्रश्नात्मक पर्यवसान है । यह उनकी बदली हुई सृजनात्मक मानसिकता को सूचित करनेवाले तत्व है, ''इसलिए 'पूस की रात' (१९३४), 'कफन' (१९३६) और 'गोदान' जिसका रचनाकाल १९३६ तक का है, आदि के अन्त में विरामचिह्न की जगह प्रश्नचिह्न लगा हुआ है, इनमें समाधान का सन्तोष न होकर समस्या का असन्तोष है जो आधुनिकता की चुनौती का साक्षात्कार हैं ।''[३] हिन्दी साहित्य की आधुनिकता के नए दौर को परखते हुए इन्द्रनाथ मदान ने इसके तीन मोड़ों पर संकेत किया है । ये मोड़ दरअसल उस संवेदना के विकास

चन्द्रकान्त बांदिवडेकर - आधुनिक हिन्दी उपन्यास सृजन और आलोचना - भूमिका, पृ.८

डॉ. इन्द्रनाथ मदान - समकालीन साहित्य एक नयी दृष्टि, पृ.६०

ो तीन सीढ़ियाँ ही है, "आज के हिन्दी उपन्यास में आधुनिकता को विभिन्न स्तरों पर ाभिव्यक्ति मिली है, जिसकी शुरुआत गोदान (१९३६) से की जा सकती है । ाधुनिकता की दृष्टि से इसका दूसरा मोड़ 'शेखर : एक जीवनी' (१९४१, १९४४) में ौर तीसरा निर्मल वर्मा के 'वे दिन' (१९६४) में लक्षित होता है ।"[४]

अज्ञेय का 'शेखर : एक जीवनी' उपन्यास आधुनिकता बोध के दूसरे मोड़ को ित करता है । इसमें शेखर किसी सत्य या मूल्य को उसके चरम या शाश्वत रूप में ीकार नहीं करता । उसका विद्रोही व्यक्तित्व जीवन के बदले हुए यथार्थ की सही ह्चान का याने कि आधुनिक भावबोध का परिणाम है । वह उन मान्यताओं का स्वीकार करता है जो शेखर के व्यक्तित्व के विकास में बाधक हैं । शेखर की दुविधा, ानसिक उद्वेलन, निराशा, टूटन और मृत्यु की भयावह स्थितियाँ आदि ऐसे तत्व हैं जो ाधुनिकता बोध को गहराते हैं । इस उपन्यास का आत्मकथात्मक विधान बार बार यह ान कराता है कि मैं कौन हूँ ? मेरे अनुभव का आन्तरिक रूप क्या है ? मेरे व्यक्तित्व की ावट में किन सहज प्रवृत्तियों का, किन व्यक्तियों के संपर्क का, किन किन घटनाओं का तना और कैसा प्रभाव पड़ा है और यह सब अन्त में किस परिणति पर ले जाता है ? उस रिणति में आकस्मिकता का हाथ है तो कितना ? मेरा असली स्वत्व क्या है ? यह स्वत्व ी खोज एक प्रकार से व्यक्ति स्वातन्त्र्य की खोज है । ये तमाम प्रश्न ही वे मुख्य घटक है ानसे शेखर का व्यक्तित्व विकसित हुआ है, "यह व्यक्तिवादी मनोवैज्ञानिक उपन्यास हिन्दी हित्य में संपूर्णत: एक नयी प्रबुद्ध रचनात्मक मानसिकता और तेजस्विता लेकर ानाकर्षक रूप में प्रस्तुत हुआ ।"[५] आधुनिकता का तीसरा दौर हम निर्मल वर्मा के ान्यास 'वे दिन' (१९६४) में देख सकते हैं । "समकालीन उपन्यास की शुरुआत अगर दिन' (१९६४) से की जाए तो असंगत न होगा । यह इसलिए कि संवेदना और शैली

इन्द्रनाथ मदान - समकालीन साहित्य एक नयी दृष्टि, पृ.६०

डॉ. विवेकी राय - समकालीन हिन्दी उपन्यास,पृ.११८

की दृष्टि से यह नयी ज़मीन तोड़ता है ।"[६] 'वे दिन' की मूल संवेदना अकेलापन है । उपन्यास के सभी पात्र रायना, जाक, मीता, फ्रांज, मारिया, टी टी सब अकेले हैं । इनका यह अकेलापन और अपने परिवेश से कट जाने का भाव द्वितीय महायुद्ध की भीषण परिणति है । महायुद्ध के उपरान्त का डर या आतंक पूरे उपन्यास पर छाया हुआ है । इसके सभी पात्रों में एक प्रकार का रीतापन है, उदासीनता है, तटस्थता है । इसीलिए एक दूसरे को जानना पहचानना उन्हें बेकार लगता है । इंसान कहाँ से आया है, कहाँ जा रहा है, मानव नियति क्या है - इन सबके बारे में कोई पता नहीं हैं । आधुनिक मानव की यह नियति आधुनिकता में उजागर होती है । इस उपन्यास का अन्त अन्तहीन है, "इसका अन्त भी शायद इसलिए अन्तहीन है कि जीवन वास्तव को किसी निश्चित अन्त में बन्द नहीं किया जा सकता, अनुभूति की धारा उपन्यास के बाहर जाने को विवश है । इस अन्त-बोध में आधुनिकता का बोध उजागर होने लगता हैं ।"[७] इस प्रकार हम देखते है कि 'गोदान', 'शेखर : एक जीवनी' और 'वे दिन' आधुनिकता के तीन महत्वपूर्ण पडाव है । इनके साथ ही कुछ ऐसे महत्वपूर्ण उपन्यास लिखे गए है जिनमें आधुनिकता की झलक पूर्ण रूप से दिखायी देती है । अज्ञेय के उपन्यास 'नदी के द्वीप' (१९५१), 'अपने अपने अजनबी' (१९६१) मोहन राकेश का 'अन्धेरे बन्द कमरे' (१९६१), 'न आनेवाला कल' १९६८), नरेश मेहता का 'यह पथ बन्धु था' (१९६२), शरद देवड़ा का 'टूटती इकाइयाँ' १९६४), राजकमल चौधरी का 'शहर था शहर नहीं था' (१९६६), रमेश बक्षी का बैसाखियों वाली इमारत' (१९६६) महेन्द्र भल्ला का 'एक पति के नोट्स' (१९६६), उषा प्रियंवदा का 'रुकोगी नहीं राधिका' (१९६७), श्रीकान्त वर्मा का 'दूसरी बार' (१९६८), मन्नू भण्डारी का 'आपका बंटी' (१९७१), कृष्णा सोबती का 'सूरजमुखी अंधेरे के' १९७२), बदी उज़्ज़माँ का 'एक चूहे की मौत' (१९७१) आदि । इनमें आधुनिक संवेदना के विभिन्न पहलुओं को उजाकर किया गया है ।

इन्द्रनाथ मदान - समकालीन साहित्य एक नयी दृष्टि, पृ.८५
वही, पृ.८६

आधुनिकता नगरीकरण और औद्योगिक क्रान्ति से भी जुड़ी हुई है । किसी में यह ाधुनिकता अजातीयता और परिवेश से कट जाने के परिणामस्वरूप दिखायी देती है तो ासी में मृत्यु के स्तर पर, किसी में नियति के स्तर पर तो किसी में यौन विकृति के रूप । गोया कि आज उपन्यास-साहित्य मनोरंजनवादी आद्यप्रयोजन से अलग होकर ौद्धिकता के ठोस धरातल पर अवस्थित है । इसलिए विचार प्रधान है । क्योंकि ाधुनिक जीवन तथा जगत इतना जटिल एवं उलझा हुआ है कि उसे किसी विशिष्ट सूत्र में ारो लेना मुशकिल हो गया है । पुराने उपन्यासों में जहाँ सिर्फ मनोरंजन को प्रमुखता दी ाती थी, वहाँ इन नये उपन्यासों में व्यक्ति जीवन और उसकी विसंगतियों पर बौद्धिक नज़र ालने की कोशिश की गयी है, "महायुद्ध, वैज्ञानिक उपलधियाँ तथा यांत्रिक जीवन की ात्यंतिक विवशता ने मानवीय संवेदनशीलता का जो हनन किया है उसकी तीखी तिक्रिया नये उपन्यासकारों ने अपनी कृतियों के माध्यम से व्यक्त की है, परिवेश की यावहता, जीवन निरर्थकता तथा मूल्यहीनता से आक्रान्त ये रचनाकार विद्रोही एवं ाक्रामक होकर परंपरागत मानों रूढ़ियों तथा संवेदना की जड़ता को तोड देना चाहते ।"[८] इस नये जीवन सत्य के संप्रेषण के लिए उपन्यासकार को नयी शैली और नयी ाषा को भी तलाशनी पडी है । गहनतम अनुभूति क्षणों की अभिव्यक्ति के अनुरूप रचना क्रिया में प्रयोगधर्मिता का रुख अपनाना लाज़मी होगा ।

निर्मल वर्मा के पाँचों उपन्यास 'वे दिन' (१९६४), 'लाल टीन की छत' (१९७४), ़क चिथडा सुख' (१९७९), 'रात का रिपोर्टर' (१९८९) तथा 'अंतिम अरण्य'(२०००) ा नयी संवेदना और आधुनिक भावबोध के दस्तावेज़ है । इसकी प्रवृत्तियाँ हैं ालगाव, स्त्री पुरुष संबन्धों के नए यथार्थ, मृत्यु का एहसास आदि । ये सारी प्रवृत्तियाँ ासल आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ भी हैं । ये प्रवृत्तियाँ निर्मल वर्मा के उपन्यासों ो मर्म हैं । उसको समझने और विश्लेषित करने का प्रयास आगे किया गया है ।

---

८ डॉ. दंगल झाल्टे - नये उपन्यासों में नये प्रयोग, पृ.१२१

अलगाव

अलगाव युद्धोत्तर पाश्चात्य साहित्य का तथा स्वाधीनता परवर्ती भारतीय साहित्य का अनिवार्य तत्व है । अलगाव की चर्चा के बिना कोई भी साहित्यिक चर्चा पूर्ण नहीं होती । क्योंकि आधुनिक साहित्य का मर्म व्यक्ति का अकेलापन है । "पाश्चात्य साहित्य की मूल चेतना ही अकेलापन है ।"[९] आज के वातावरण में व्यक्ति शून्यता का अनुभव करता है । यह अनुभव उसके स्वत्वबोध का परिणाम है याने कि उनके गहन चेन्तन का । विश्वयुद्ध ने जिस प्रकार पाश्चात्य मानस में शून्यता या विसंगति का एहसास कराया उसी प्रकार भारतीय मन को आन्दोलित किया स्वाधीनता परवर्ती भारतीय सामाजिक यथार्थ और विभाजन की विभीषिका ने ।

प्रथम विश्वयुद्ध में हिटलर ने लाखों लोगों की हत्या की । उस समय से मनुष्य अपने प्रति होनेवाले अमानुषिक व्यवहारों को देखकर खुद को असहाय पाने लगा था । अब दूसरा विश्वमहायुद्ध भी छिड गया । इसने फ्रान्स और जर्मनी को दहसनहस कर डाला, और इसका आतंक विश्व भर में छाया हुआ था । इसने मानव जीवन को तथा उसके मूल्यों को खण्डित कर दिया । परिणामत: युद्धोत्तर परिस्थिति में कुंठा, संत्रास, निराशा, दहशत जैसे नकारात्मक भाव उभरने लगे । मनुष्य अपने आपको अकेला एवं आश्रयहीन महसूस करने लगा, "गत महायुद्धों की विभीषिका ने उसके तन मन को ऐसा पराजित कर दिया कि उसे न तो सनातन मूल्यों में विश्वास रहा और न ही आदर्शों की वीरता और ईमानदारी में । आज वह अकेले है या अकेले रहने के लिए अभिशप्त है ।"[१०]

भारत में ऐसी स्थिति स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की है । १९४७ में भारत स्वतन्त्र हुआ । जनता अत्यन्त सन्तुष्ट थी । उनके मन में स्वतन्त्र भारत को लेकर कई आकांक्षाएँ थीं । पर विभाजन तथा उसके उपरान्त की स्थितियों को देखकर उसके मन की सारी

The basic feeling that runs through the major portion of western literature is the feeling of loneliness..
Modernity and contemporay Indian literature, Pg.87
कुबेरनाथ राय - विषादयोग, पृ.१५२

आकांक्षाएँ बिखर जाती हैं और वे अपने को विसंगत परिस्थिति में असहाय तथा अकेला ाते हैं, "अभावों से पीडित निराशा से क्षुब्ध होकर वह अकेलेपन - अलगाव की ज़िन्दगी ीने को विवश हुआ ।"[११] इस विसंगति को, अलगाव को अपनी रचनाओं के द्वारा ातिफलित किया निर्मल वर्मा ने । निर्मल वर्मा के अनुसार यह अलगाव मनुष्य की ंरचना के साथ जुडा हुआ तथ्य है, "पशुओं को जो ग्रेस प्रकृति के सान्निध्य से प्राप्त होता ै और देवदूतों (एंजल्स) को जो उज्ज्वलता ईश्वर के पास होने से मिलती है, मनुष्य इतना भागा है कि दोनों से वंचित होकर वह एक अभिशप्त आलगाव में ठिठुरता रहता है । नुष्य का यह लावारिस अलगाव और अधूरापन कोई आधुनिक पश्चिम बोध की देन नहीं ै - वह मनुष्य के मनुष्यत्व के बीच एक कीड़े की तरह विद्यमान है, धरती पर उसके महज़ होने' के बोध में निहित है ।"[१२]

'वे दिन' उपन्यास का घटनास्थल चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग है जो द्वितीय वेश्वयुद्ध की विभीषिकाओं से गुज़रा हुआ है । 'मैं' और रायना के बीच की प्रेमकथा ही ुसमें प्रमुख है । 'मैं', फ्रांज, टी.टी. जैसे सभी पात्र अपने घरों से दूर प्राग में आकर ाढ़ रहे हैं । 'मैं' भारतीय है और तीन वर्षों से प्राग में रह रहा है । उनके लिए घर एक ाकार की विसंगति है। इसलिए घर और परिवार के प्रति वे उदासीन हैं । कभी कभी पीते मय ये तीनों पात्र अपने अपने घरों के बारे में बातें तो करते है लेकिन उसके प्रति किसी ी प्रकार का नॉर्मल दृष्टिकोण अपना नहीं पाते, "हम ऐसे वर्षों में घर को छोड़कर चले ाये थे जब बचपन का संबन्ध उससे छूट जाता है और बड़प्पन का नया रिश्ता जुड़ नहीं ाता । अब घर बहुत अवास्तविक-सा जान पड़ता था, जैसे वह किसी दूसरे की चीज़ ो, दूसरे की स्मृति । पहले जो भी मतलब रहा हो; वह दिन, महीनों, वर्षों के साथ ुँधला पड़ता गया था । वह अब अर्थहीन था - और किंचित् हास्यास्पद ।"[१३] टी.टी.

---

१. *प्रकर - मई-जून १९७३ में प्रकाशित स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास, पृ.३९*
२. निर्मल वर्मा - कला का जोखिम,पृ.४१
३. निर्मल वर्मा - वे दिन, पृ.२६

तीन साल तक यहाँ रहते हुए भी अपने को अजनबी ही पाता है । वह अपने देश के बियर और अखबार को ही पसन्द करता है, "बियर और अपने देश के अखबार - इनके बाहर उसे कोई चीज़ ज़्यादा आकर्षित नहीं करती थी । लेकिन वह घर वापस जाने के लिए भी उत्सुक नहीं है । अपना देश उसे इस देश से भी कम आकर्षित करता है ।"[१४]

रायना का अलगाव अलग स्तर का है । रायना एक आस्ट्रियन युवती है । वह अपने पति जॉक से अलग हो चुकी है । रायना को अपने पति के साथ के दिनों की अपेक्षा यह अलगाव ही बेहतर लगता है, "मैं उसके साथ रहती थी मुझे कभी कभी लगता था, जैसे हम दोनों अब भी किसी कान्सन्ट्रेशन कैम्प में रह रहे हैं ।"[१५] पुत्र के अलगाव को भी रायना अत्यन्त सहज भाव से झेलती है । 'मैं' जब इसके बारे में पूछता है तो वह अत्यन्त सहज और शान्त स्वर में जवाब देती है - "हम उसे बाँट लेते हैं ।"[१६] वह अपने पुत्र के बँटे जाने में किसी भी प्रकार की अस्वाभाविकता महसूस नहीं करती । इसीलिए इतना छोटा होते हुए भी मीता अपनी माँ से अलगाव महसूस करता है । वह साधारण बच्चों जैसा व्यवहार नहीं करता । यहाँ तक कि साधारण बच्चों की तरह उसमें ज़िद्द भी नहीं है । जहाँ ज़िद्द न हो वहाँ बचपन नहीं हो सकता । यह देखकर 'मैं' को कुछ अस्वाभाविक सा लगा, "वह अनिश्चित-सा उसकी ओर देखने लगा मानो तय न कर पा रहा हो कि वह किस बात से ज्यादा प्रसन्न होगी - उसके जाने से, या न जाने से । मुझे यह कुछ अजीब-सा लग रहा था । मैं अकसर बच्चों की जिद्द देखता आया था। जहाँ जिद्द न हो, वहाँ बचपन हो सकता है - यह मुझे अस्वाभाविक-सा लगता था ।"[१७] स्पष्ट है कि वह बच्चा भी परिस्थिति के दबाव में आकर अपने नन्हेपन को छोड़कर एक प्रकार का यांत्रिक याने असहज जीवन बिता रहा है ।

---

१४. निर्मल वर्मा - वे दिन, पृ.२५
१५. वही, पृ.१६३
१६. वही, पृ.६४
१७. वही, पृ.३४

'मैं' और रायना तीन दिनों में ही आपस में इतना घुल-मिल जाते हैं कि वे शारीरिक स्तर पर भी जुड जाते हैं । इतनी निकटता के बावजूद उनके बीच एक प्रकार की रिक्तता बनी रहती है, "उस रात पहली बार मुझे लगा कि एक व्यक्ति दूसरे के लिए अंधेरा है - जैसे वह मेरे लिए थी, मैं उसके लिए ।"[१८]

फ्रांज और मारिया भी आपस में प्रेम करते हैं । लेकिन वे भी एक प्रकार का अलगाव महसूस करते हैं उनके संबन्ध में 'मैं' की यह उक्ति बिलकुल सही है, "हम उन दोनों को जितना अलग-अलग जानते थे उतना साथ जोड़कर नही ।"[१९]

टी.टी. कभी भी अपने घर जाने की बात नहीं सोचता । माँ की दूसरी शादी की खबर मिलने पर वह दु:खी हो जाता है । क्योंकि उसकी माँ किसी दूसरे की बन जाने की बात वह सोच नहीं पाता । इसलिए 'मैं' टी.टी. को अकेले छोड़ने से भी डरता है, "टी.टी. में कहीं बहुत गहरी अधीरता है .... वह कभी गिनता नहीं । वह उन लोगों में से है, जिन्हें पीछे अकेला छोड़ते समय हमेशा एक भय जकड़ लेता है । लगता है जैसे तुम किसी घायल को दुश्मन की लाइन में छोड़कर भाग रहे हो । तुम न भाग सकते हो, न अपने साथ ले जा सकते हो ।"[२०] इसी अलगाव और अकेलेपन से दूर भागने के लिए ही रायना हमेशा अलग अलग देशों की सैर करती रहती है । फिर भी यह अलगाव और अकेलापन उसका पीछा नहीं छोड़ता, "अगर तुम बार-बार ट्रेन बदलते रहो, तब इतना नहीं लगता । इसीलिए मुझे सर्दियों में बाहर जाना अच्छा लगता है । तब टूरिस्ट नहीं होते और मुझे लगता है जैसे मैं अपने शहर में ही घूम रही हूँ ।"[२१]

उपन्यास के पात्रों में ही नहीं परिवेश में भी अलगाव का सान्निध्य महसूस होता है, "वह फ्रांज को बहुत पहले से जानता था .... मैं यहाँ पहली बार टी.टी. और फ्रांज के साथ आया था - पिछले साल । वे गर्मियों के दिन थे । जब दूसरे सब बियर-पब बन्द हो

---

१८. निर्मल वर्मा - वे दिन, पृ.१५५
१९. वही, पृ.४९
२०. वही, पृ.८२
२१. वही, पृ.८९

जाते थे, हम यहाँ आते थे । यहाँ ठण्डक थी और अंधेरा था । सौभाग्यवश यहाँ न कोई ऑरकेस्ट्रा था, न कोई नाचने आता था । दिन के समय भी एक उनींदा-सा अलगाव रेंगता हता । लगता था जैसे लडाई के दिनों में हवाई हमलों से बचने के लिए इसे बनाया गया हो ।''[२२] गोया कि इस उपन्यास के सभी पात्र अपने से तथा परिवेश से कटे हुए हैं । वे न देश के रह पाते हैं - न विदेश के । ये अलगाव के आदी हो गये हैं ।

'लाल टीन की छत' में यौवन की सीमारेखा पर खड़ी लडकी काया भी इसी अलगाव से त्रस्त पात्र है । काया का परिवार शिमला में है । उसके पिता अपने काम के सिलसिले में दिल्ली में रहते हैं । घर में उसकी माँ है जो गर्भवती है । काया अपनी माँ की इस गर्भिणी स्थिति को समझ नहीं पाती । इस खास स्थिति के कारण माँ हमेशा एक कमरे में बन्द रहती है । वहाँ उसका छोटा भाई है जो बिलकुल छोटा है । इसलिए उससे उसकी संगति नहीं बैठती । फिर उस घर में नौकर मँगतू है जो हमेशा अपने कामों में व्यस्त रहता हैं । गर्मी के दिनों उस पहाडी प्रदेश में आनेवाले लोग बर्फ पडने पर उस छोटे परिवार को और अधिक अकेला छोडकर चले जाते हैं । तब उनका साथ देती है लाल टीन के छतवाले मकान की मालकिन मिस. जोसुआ । वह भी कुछ अनजाने कारणों से अपने पति से अलग उस पहाडी प्रदेश में अकेली रहना पसन्द करती है ।

काया अपने अकेलेपन का कारण तो नहीं जानती । लेकिन वह उससे मुक्त होने के लिए बुआ की लडकी लामा, छोटा भाई छोटे, कुतिया गिन्नी, नौकर मँगतू, दाई का लडका भोलू, देवी काली माता, फाक्सलैण्ड का कज़िन भाई बीरू, चाचा के बंगले के क्वार्टर में रहनेवाली नथवाली औरत, उसका लडका पहाडी आदि के साथ किसी न किसी प्रकार जुडे रहने की कोशिश करती रहती है । क्योंकि वह अपने इस अलगाव से इतना त्रस्त है कि ''दिन भर का अकेलापन, गुस्सा, तृष्णा, हताशा, आपस में गूँथकर एक धुँध का गोल सा बन जाते, जो न इतना कोमल होता कि .... वह उसकी पकड में आकर किसी

---

२. निर्मल वर्मा - वे दिन, पृ.७१

सूझ, किसी समझदारी की सान्त्वना में बदल सके ।''[२३] इस अभिशप्त अकेलेपन से छुटकारा पाने के लिए ही उसको अपने चाचा के परिवार भेज दिया गया था । पर वह पूरा परिवार अकेलेपन से ग्रस्त था, ''एक दूसरे के प्रति संवेदना से परिपूर्ण होते हुए भी ये कुछ ऐसे आभिजात्य से मंडित लोग हैं कि साथ रहकर भी अलग अलग रहना ही पसन्द करते है ।''[२४]

बीरू की माँ अपने अस्तित्व की एकमात्र निशानी बीरू को अकेलेपन के समुद्र में छोड़कर चली गयी । माँ की मृत्यु के उपरान्त बीरू अपने पिता से एक प्रकार का अलगाव महसूस करता है । क्योंकि पिता अपने अकेलेपन से छुटकारा पाने के लिए नथवाली औरत को घर के क्वार्टर ले आये है । बीरू यह सह नहीं पाता । इसीलिए वह अपने पिता से मानसिक तौर पर अलग हो जाता है । चाचा से भी वह सन्तुष्ट नहीं है, काया को उसका चाचा ''अकेले, आत्मलिप्त, किसी दूसरे लोक के प्राणी ''[२५] लगता है।

माँ जानती है कि काया को कोई ऐसी पीड़ा है जो उसे हमेशा सताती रहती है । लेकिन वह उसे समझ नहीं पाती, उसे आश्वस्त भी नहीं कर पाती । इसका कारण उन दोनों के बीच का अलगाव ही है, ''कुछ देर तक वह काया को देखती रही - उनके भीतर हमेशा इस लडकी के लिए धुँधली-सी पीड़ा उठती थी, लेकिन वह कभी उस पर अंगुली नही रख पाती थी, समझ नहीं पाती थी, यह कौन-सी पीडा है ? सिर्फ एक सूनापन-सा घिर आता था - जैसे वह कोई बाहर की लडकी है, इस घर में शरणार्थी की तरह रहती है - और वह उसकी कोई मदद नहीं कर सकती ।''[२६] इस हालत में भी उसकी सहायता करनेवाला कोई नहीं था । रात भर वह अपने घर के सामने अँधेरे में रहे तो भी उसका अभाव किसी को महसूस नहीं होता, ''उन दिनों काया ने पहली बार अपने अकेलेपन को देखा था - साफ-साफ अँधेरे में । उसे डर नहीं लगा था । सिर्फ एक अजीव सा कौतूहल था, जैसे

---

२३. निर्मल वर्मा - लाल टीन की छत, पृ.३५
२४. डॉ.चन्द्रकान्त बांदिवडेकर - उपन्यास स्थिति और गति, पृ.४०१
२५. निर्मल वर्मा - लाल टीन की छत, पृ.१५९
२६. वही, पृ.६०

अकेलापन कोई बीमारी है, जो भीतर पनपती है, और जिसे बाहर से कोई नहीं देख सकता - न छोटे, न माँ, न मिस जोसुआ ।''[२७]

बीरू के साथ बात करते हुए भी वह अलगाव महसूस करती है । उसे लगता है, ''बीरू शायद उसका मन रखनेके लिए हर दुपहर चला आता है, वरना उसे काया की कोई ज़रूरत नहीं । उसके साथ रहकर भी वह अकेला रहता था । उसे याद नहीं आता, कभी उसने काया से अपने-आप बात की हो - न चाचा के बारे में, न उस औरत के बारे में, जो क्वार्टर में अकेली रहती थी ।''[२८]

यही अलगाव काया के परिवार और उसके चाचा के परिवार के बीच में भी है । वे दोनों भाई उस सुनसान शहर में एक साथ न रहकर बिलकुल अलग एक ही शहर के दो कोनों में रह रहे हैं, ''सबसे दूखद आश्चर्य की बात यह थी, कि इस उजाड जंगली शहर में भी दोनों अलग रहते थे, अलग भी इतना कि एक ऊपर, दूसरा नीचे ।''[२९] इस प्रकार इस उपन्यास के हर पात्र में अलगाव दिखायी देता है । यह अलगाव उन्हें किसीसे जुड़ने नहीं देता । इसलिए सभी पात्र अपनी अपनी दुनिया में विचरण करनेवाले एकान्तजीवी लगते हैं ।

'एक चिथडा सुख' का नरेटर मुन्नू भी इसी अलगाव से पीडित पात्र है । उपन्यास का प्रमुख नारी पात्र बिट्टी उसकी कज़िन है । उसको नाटक में काम करने का शौक है । इसके लिए वह इलाहाबाद से दिल्ली आ जाती है । मुन्नू हमेशा बीमार रहता है । उसका स्वास्थ्य ठीक करने के लिए पिता उसे बिट्टी के साथ दिल्ली भेजता है । जाते वक्त बाबु ने याद दिलाया, ''देखो, तुम बिट्टी के घर जा रहे हो, वहाँ सबसे अलग रहना । बिट्टी की अपनी ज़िन्दगी है, अपने दोस्त वहाँ ऐसे रहना जैसे तुम हो ही नहीं ।''[३०]

---

२७. निर्मल वर्मा - लाल टीन की छत, पृ.५२
२८. वही, पृ. १३९
२९. वही, पृ.३७-३८
३०. निर्मल वर्मा - एक चिथडा सुख, पृ.८६

बिट्टी के दोस्त इरा, डैरी, नित्ती भाई आदि बीच बीच में उसके घर आते रहते हैं । पर मुन्नू को उनसे कोई लगाव नहीं है, "वे एक ऐसी दुनिया से आते थे, जिसका उससे कभी वास्ता भी नहीं पडा था । वे उससे हँसी-मज़ाक भी करते तो भी लगता यह भ्रम है, यह सतह है; उसके नीचे गढ़हा-सा दिखायी देता ।"[३१]

इन सबके होने पर भी बिट्टी जब अपने काम पर जाती तो वह अपने को बिलकुल अकेला महसूस करता है क्योंकि वह कहीं लिख रखती कि उसका इन्तज़ार न करे, "कागज़ की हर चिप्पी पर उसका एक खाली दिन चिपका रहता - उसके अकेलेपन का कैलेंडर - जिसे वह अपने साथ इलाहाबाद ले जाना चाहता था ।"[३२] मुन्नू के अनुसार "अकेले लोग कभी-कभी अपने से बोलने लगते हैं । उन्हें कुछ भी पता नहीं रहता, सिर्फ यह पता रहता है, कि वे सुरक्षित हैं ।"[३३] मुन्नू को बिट्टी बहुत पसन्द है । बिट्टी के अभाव में वह अत्यन्त अकेला हो जाता है और दु:खी भी । बिट्टी भी उससे बहुत प्यार करती है । उसके इलाहाबाद लौट जाने की खबर सुनकर वह चिढ़ती भी है । बिट्टी एक प्रकार का अलगाव हमेशा बनाए रखती है, "बिट्टी, जो इतनी पास थी, उसे अकेला छोड देती थी । उसे यह अच्छा लगता था कि कोई उसके आसपास नहीं मँडरा रहा - हालाँकि वे एक ही बरसाती में रहते थे; फिर भी उसे पता नहीं चलता था कि वह क्या कर रही है, क्या सोच रही है ।"[३४]

ये सभी पात्र अपने अपने अकेलेपन में भटकते हुए लगते हैं । स्टिनबर्ग के नाटकों में अभिनय करने में, बियर पीने में, रेकार्ड से संगीत सुनने में, आपस में बहस करने में और पुस्तकों को पढ़ने में अपने आप को लगाकर वे एक दूसरे को जानना चाहते हैं, समझना चाहते है । लेकिन वहाँ भी वे सिर्फ समझने का बहाना मात्र करते हैं । स्पष्ट है कि इस उपन्यास के पात्रों के बीच आपसी प्रेम के होते हुए भी आत्मीयता नहीं है । बिट्टी डैरी से

---

३१. निर्मल वर्मा - एक चिथडा सुख, पृ.३२
३२. वही, पृ.४५
३३. वही, पृ.७२
३४. वही, पृ.१२

प्रेम करती है । डैरी नाटकों का निर्देशन करता है । डैरी से प्रेम करते हुए भी वह ज़िन्दगी से बहुत जल्दी ही ऊब जाती है । वह दिल्ली से बाहर जाना चाहती है । लेकिन यह नहीं जानती कि कहाँ जाए और क्या करे । वह डैरी से प्रेम तो करती है लेकिन उसके बन्धन में बँधकर रहना नहीं चाहती । इरा नित्ती भाई से प्रेम करती है । वह इंग्लैंड वापस जाना चाहती है । वास्तव में सभी पात्र अपने अपने अन्धेरे में भटक रहे हैं जिससे बाहर निकलना उनके लिए नामुमकिन है ।

'रात का रिपोर्टर' का रिशी इस विसंगति को कुछ भिन्न ढ़ंग से झेलनेवाला पात्र है । वह एक बुद्धिजीवी रिपोर्टर है । उसकी माँ है । उसकी पत्नी का नाम है - उमा । वह अर्द्धविक्षिप्तावस्था में है । इसलिए हमेशा अस्पताल में रहती है । इस उपन्यास का परिवेश आपातकाल का है । अत: रिशी के चारों और आतंक और संत्रास से भरा हुआ एक वातावरण छाया हुआ है । वह अपने परिवार से भी एक प्रकार का अलगाव महसूस करता है । उसे लगता है कि वह अपने ही घर में शरणार्थी है, "अचानक एक दिन ऐसा आया था कि मकान वही था, किन्तु कमरे सब खाली पडे थे । सिर्फ उनके पुराने नाम अब भी बाकी रह गये थे, बाबु का कमरा अलग, बहनों के कमरे अलग और उनमें कनाडावाली बहन का कमरा मरी हुई बहन के कमरे से सटा हुआ वह और माँ उन कमरों में कुछ वैसे ही रहते थे जैसे पार्टीशन के बाद उसने दिल्ली के परित्यक्त उजाड घरों में शरणार्थियों को रहते देखा था .... हाँ, ऐसा होता है । दो-तीन पीढियों के बाद लोग अपने पिता-पितामहों के घरों में शरणार्थियों की ही तरह रहने लगते हैं - और इसमें उन्हें ज़रा भी आश्चर्य नहीं होता ।"[३५]

रिशी शादीशुदा होते हुए भी पब्लिशिंग हाउस की लडकी बिन्दु से प्रेम करता है। उनके बीच शारीरिक संबन्ध तक हो चुका है । फिर भी बिन्दु के लिए कभी कभी वह एक हद तक अजनबी ही है । बिन्दु कहती है, उस रोज़ जब तुम स्टेशन पर चाय लेने

---

३५. निर्मल वर्मा - रात का रिपोर्टर, पृ.२६

गए थे, मैं तुम्हें रेल की खिडकी से देख रही थी । मैं यह सोचने का बहाना करने लगी कि यह आदमी जो प्लाटफार्म पर खडा है, पता नहीं कौन है । मुझे लगा, मैं किसी अजनबी को देख रही हूँ, और तब मुझे इतना खौफ लगा, और इतनी खुशी हुई कि मैं तुम्हें जानती हूँ और जब तुम चाय लेकर लौटे, तो मुझे यह चमत्कार लगा कि जिसे मैं ने अजनबी माना था, वह और कोई नहीं, तुम थे ।''[३६] रिशी बिन्दु को प्रेम के बन्धन में जकड लेना तो चाहता है परन्तु उसे अपने दु:ख में सम्मिलित करना नहीं चाहता । इसी कारण उन दोनों के बीच अलगाव की स्थिति बनी रहती है । रिशी की माँ बहु के साथ अस्पताल में है । इसलिए माँ होते हुए भी रिशी की परेशानियों से वह अनजान है । रिशी अपने झमेलों में माँ को ले आना भी नहीं चाहता । इसलिए उन दोनों के बीच आदि से अन्त तक एक दूरी बनी रहती है, ''कभी-कभी उसे अपनी माँ एक जादूगरनी - सी दिखायी देती थीं - असंख्य झुरियों के बीच एक भेद फँसा रहता, मकडी के जाले में झूलता हुआ एक अंधेरा सत्य, जो सहसा उसे अपने उन झूठों की याद दिला देता जो उसने माँ से छिपाकर रखे थे ।''[३७]

'अंतिम अरण्य' में इस स्थिति को झेलनेवाला पात्र है मेहरा साहब । उनकी पत्नी दीवा की मृत्यु हो गयी है । बेटी तिया डाक्टर है लेकिन अपने पिता से अलग रहती है । 'मैं' नामक एक पात्र है जो उनके साथ रहकर उनकी बातों को लिख लेता है । इन दोनों के अलावा उपन्यास के अन्य पात्र हैं - डॉ. सिंह, अन्ना जी और निरंजन बाबु । ये सब अपने जीवन के अन्तिम दिनों को हिमालय के इस पहाडी इलाके में बिताने आए हुए हैं । मेहरा साहब कलक्टर थे । 'मैं' एक बेकार नौजवान है । समाचार पत्र का विज्ञापन देखकर अपने जीवन के 'क्राइसिस ऑफ मिडिल एज' को दूर करने वहाँ आया हुआ है । वह अकेला है । पिता की मृत्यु के बाद माँ अपने छोटे बेटे को लेकर आस्ट्रेलिया चली गयी । 'मैं' अपने घर में अकेला है । उसने शादी नहीं की । उसका कोई परिवार नहीं । इस प्रकार वह अपनी ज़िन्दगी में बहुत जल्दी ही अकेला पड़ गया था । इसीलिए निरंजन

---

३६. निर्मल वर्मा - रात का रिपोर्टर, पृ.१००
३७. वही, पृ.२९

बाबु उससे कहते हैं, "यहाँ सब लोग अपनी ज़िन्दगी के अंतिम सिरे पर आते हैं .... तुम शुरू में ही आ गए ।"[३८]

मेहरा साहब भी अपनी ज़िन्दगी में अलगाव महसूस करते हैं । उनकी दूसरी पत्नी दीवा की मृत्यु से वह अकेलापन काफी गहरा हो जाता है, "कोई हमेशा उनके पास रहे .... आसपास भले ही मँडराता रहे .... लेकिन उनसे चिपका न रहे । यह बात सब पर लागू होती थी वह उनकी बेटी हो, या मेहमान, या नौकर .... इससे कोई अंतर नहीं पड़ता था ।"[३९]

अपनी बेटी तिया को वे बहुत चाहते हैं । पर यह चाह उनके आचरणों में नहीं । तिया भी पिता को चाहती है पर बाहर प्रकट नहीं करती । वह बिल्कुल आत्मसीमित है । वह कुछ दिन मेहरा साहब के साथ रहकर अचानक चली जाती है, जिससे साहब का स्वास्थ्य बिगड जाता है और उनको स्ट्रॉक आ जाता है । उस समय साहब के पास सिर्फ 'मैं' रहता है । वहाँ बैठे हुए मैं सोचता है, "इससे ज़्यादा भयानक बात क्या हो सकती है कि कोई आदमी अकेलेपन के अंजाने प्रदेश की ओर घिसटता जा रहा हो और उसके साथ कोई न हो । कोई आखिर तक साथ नहीं जाता, लेकिन कुछ दूर तक तो साथ जा सकता है ।"[४०]

तिया के मन में अपने बाबुजी को लेकर प्यार एवं सम्मान का भाव तो अवश्य है । लेकिन वह उनसे अलगाव भी महसूस करती है । उसका कारण उसकी माँ है । वह मेहरा साहब की पहली पत्नी थी । बहुत साल पहले ही वह अपनी बेटी को अकेली छोड़कर कहीं चली गयी थी । तिया अब भी अस्पताल की तरफ से सुदूर गाँवों की डिस्पेन्सरियों में जाती है तो अनजाने ही वह उस चेहरे को ढूँढने लगती है । अब भी वह दुःख, वह अभाव उसे सालता रहता है । इसलिए वह घर आकर भी घर से दूर कॉटेज में

---

३८. निर्मल वर्मा - अंतिम अरण्य, पृ.४२
३९. वही, पृ.१३
४०. वही, पृ.१७६

रहना पसन्द करती है । मेहरा साहब के मना करने पर वह कहती है, "यहाँ सबके साथ रहकर भी अलग रह सकती है ।"[४१]

निरंजन बाबु का परिवार भरापूरा है । उन्हें सेबों का एक बगीचा है । उनका परिवार जयपुर में है और वे इस पहाड में अकेला जीवन बिता रहे हैं । पहले वे यूनिवर्सिटि के अध्यापक थे । अब अपने अकेले संसार में जी रहे हैं । अन्ना जी एक जर्मन महिला है जो दूसरी लड़ाई के पहले ही भारत आयी थी । उनका बचपन ब्लैक फारेस्ट में बीता । वे कुछ वर्ष फरीदकोट के राजपरिवार में गवर्नेस रही थी; फिर राजस्थान चली गयीं । आखिर वे हिमालय के इस डेरे पर आ बसी । वह पिछले कई वर्षों से अकेली रह रही है । अपना देश लौट जाना नहीं चाहती । क्योकि अलगाव की स्थिति उसके मन में बनी हुई है । निरंजन बाबु के साथ का संवाद यह साबित करता है, "क्या कभी आपका मन नहीं होता घर लौटने का ? हाँ मैं गयी थी, कोलोन में, जहाँ मेरे माता-पिता रहते थे वे तब भी जीवित थे लेकिन हमारा घर, वह कहीं नहीं था पडोस के सारे मकान लड़ाई में ढह गए थे .... और तब मुझे पहली बार पता चला कि जिन स्थानों में हम रहते हैं, अगर वे न रहें .... तो उनमें रहनेवाले प्राणी, वह तुम्हारे माँ-बाप ही क्यों न हो .... बेगाने हो जाते है जैसे उनकी पहचान भी कहीं ईंटों के मलबे में दब जाती हो ।"[४२] लडाई ने उस परिवार को इस तरह तहस नहस कर डाला था । अब अन्ना जी हिन्दुस्तान को ही अपना घर अपना सबकुछ मानती है - "मेरे लिए तो यह पहाडी शहर ही सब कुछ है यह मेरा घर है .... ।"[४३]

ऐसा ही एक अकेला जीव है डॉ. सिंह । उस पहाड पर उनका एक क्लिनिक है । वे पहले आर्मी में डाक्टर थे । इसलिए उनकी पोस्टिंग बहुत से शहरों में हुई है । वे मेहरा साहब के दोस्त हैं और उनसे मिलने के लिए बराबर आते रहते हैं । पर वे भी अकेले

---

४१. निर्मल वर्मा -अंतिम अरण्य, पृ.१३७
४२. वही, पृ.३८
४३. वही, पृ.३९

हैं । वे अपनी अलग दुनिया को लेकर घूमते रहते हैं, "दुनिया के आदमी थे, लेकिन उसके साथ नहीं थे - अपनी दुनिया अपने साथ लेकर चलते थे ।"[४४] स्पष्ट है कि इस उपन्यास के सभी पात्र अकेले हैं । अपनी ज़िन्दगी के अंतिम समय के अकेलेपन से पीड़ित एवं संत्रस्त हैं । उससे मुक्त होने के लिए वे यहाँ आ बसे हुए हैं । लेकिन उनका अकेलापन संत्रास कुंठा सब दूर होने के बदले और गहराते हुए दिखायी देता है । ये पात्र इनसे लडते भिडते अंतिम अरण्य को प्राप्त करने के लिए अभिशप्त हैं ।

ज़ाहिर है कि निर्मल वर्मा के पात्र एक दूसरे से जुडे हुए भी बिल्कुल कटे हुए हैं । ये पात्र एक प्रकार से अकेले होने की नियति को झेलनेवाले हैं, "वह नियति के स्तर पर अकेला है ।"[४५] इसीलिए ये पात्र जुड़ने की चाह रखते हुए भी जुड न पाते ।

स्त्री-पुरुष संबन्धों के बदलते आयाम

स्वाधीनता परवर्ती रामाज में स्त्री पुरुष संबन्धों में एक विशेष प्रकार का परिवर्तन दिखायी देता है । पारिवारिक जीवन में, दाम्पत्य जीवन में, काम के क्षेत्र में, राजनीतिक क्षेत्र में, नये सामाजिक सन्दर्भों में स्त्री-पुरुष की भूमिका बदल गयी है । इस बदली हुई स्थिति को उपन्यासकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया हैं । परिवर्तन का सबसे प्रमुख कारण सवत्वबोध है । आज स्त्री और पुरुष दोनों पहले से अधिक अपने स्वत्वबोध से सचेत है । वे परंपरागत रूढ़ियों एवं बन्धनों के सामने प्रश्नचिह्न डालते हैं । नयी मानसिकता के तहत उन्हें नकारने या पुनर्मूल्यांकित करके स्वीकारने में वे संक्षम हैं । वे अपने संबन्धों को बनाए रखने या तोड़ने में अधिक स्वतंत्र हैं । अत: आज के सन्दर्भ में नर-नारी का संबन्ध-विच्छेद एक प्रमुख समस्या बन गयी है ।

---

४४. निर्मल वर्मा - अंतिम अरण्य, पृ.५४

४५. इन्द्रनाथ मदान - समकालीन साहित्य : एक नयी दृष्टि, पृ.६९

निर्मल वर्मा के 'वे दिन' में इन बदले हुए संबन्धों की नयी परिकल्पना प्रस्तुत की गयी हैं । यहाँ स्त्री और पुरुष परंपरागत अर्थ के प्रेमी-प्रेमिका नहीं बल्कि दो अलग इकाई है । इसमें भिन्न परिवेश में पले दो व्यक्तियों का मिलन होता है । इसका 'मैं' भारतीय है और रायना रैमान आस्ट्रियन है । दोनों अपने व्यक्तित्व की समग्र संकुलताओं के साथ एक दूसरे से मिल जाते हैं और अपने-अपने अकेलेपन में खो भी जाते हैं। मिलन के सन्दर्भ में वे एक दूसरे के इतने करीब आ जाते हैं कि उनके बीच शारीरिक संबन्ध तक हो जाता है । फिर भी उनके बीच एक प्रकार की निस्संगता बनी रहती है, उनके बीच" न पास होने का कौतूहल, न दूर होने का ठंडापन ।"[४६] परिचय के बावजूद यह अपरिचय उपन्यास के अंत तक बना रहता है ।

उपन्यास में कई बार 'मैं' को रायना अजनबी लगती है । इस अपरिचय के मूल में रायना का व्यक्तित्व है । वह द्वितीय विश्वयुद्ध के आतंक से ग्रस्त है । इसके कारण वह जीवन में किसी के भी साथ आत्मीयता से जुड नहीं पाती । 'मैं' और रायना एक बन जाना चाहते हैं । लेकिन रायना का अतीत मीता के रूप में उन दोनों के बीच विद्यमान है । यह उन्हें हमेशा अलग होने के लिए विवश करता है, "पहली बार उस शाम मुझे आभास हुआ मानो हम तीनों के अलावा कोई और व्यक्ति है, जो हमेशा हमारे बीच में है । उसे हम देख नहीं सकते, किन्तु वह हमसे अलग नहीं हो सकता वह नहीं है, इसलिए वह शायद हम सबसे अधिक है ।"[४७] इतना पास आने पर भी एक दूसरे को समझते हुए भी मैं को लगता है, "उस रात पहली बार मुझे लगा कि एक व्यक्ति दूसरे के लिए अंधेरा है - जैसे वह मेरे लिए थी, मैं उसके लिए ।"[४८]

---

४६. निर्मल वर्मा - वे दिन, पृ.५८
४७. वही, पृ.१०१
४८. वही, पृ.१५५

रायना इन्दी के होटल के कमरे में जाती है । एक रात साथ रहने पर भी उनके बीच अनजाना अजनबीपन बना रहता है, "हम बाहर अकेले भी रहते थे तब भी पूरा अकेलापन नहीं आता था, किन्तु उस रात कमरे में लगा था जैसे हम एक-दूसरे के सामने सहसा सूने-से - पड गये हो ।"[४९] रायना से परिचय होने पर 'मैं' को पता चलता है कि वह शादीशुदा औरत है । फिर भी 'मैं' को कुछ अजीब सा लगा क्योंकि "अँगुलियाँ खाली थी - बिना एक भी अँगूठी के; जो एक विवाहित स्त्री के लिए कुछ विचित्र सा था ।"[५०] वह अपने वैवाहिक जीवन के सारे संबन्ध एवं रस्मों को तोडकर स्वतंत्र रहना चाहती है । इसलिए शादी से संबन्धित कोई निशाना उसके जीवन में नहीं है ।

जाक के साथ अपने संबन्ध के बारे में रायना कहती है - "हम दोनों साथ रहते थे लेकिन हमें लगता था जैसे हमने कोई चीज़ हमेशा के लिए खो दी है मुझे कभी कभी अजीब सा डर लगता था । कोलोन में हमने कभी नहीं सोचा था कि हम जीवित रहेंगे । मरना तब बहुत पास था और आसान भी । हम शायद इसीलिए साथ रहने लगे थे .... लडाई में बहुत लोग मरते हैं - इसमें कुछ अजीब नहीं है .... लेकिन कुछ चीज़ें हैं जो लडाई के बाद मर जाती हैं - शान्ति के दिनों में .... हम उनमें से थे ।"[५१] युद्ध ने ही उन दोनों को अलगाया था । वह एक प्रतीक है । उसने सारे मूल्यों को तहस नहस कर डाला था । इसीलिए रायना कहती है, "वे लोग घरेलु ज़िन्दगी में खप नहीं पाते । जाक ऐसा ही था । जब मैं उसके साथ रहती थी मुझे कभी-कभी लगता था, जैसे हम दोनों अब भी किसी कान्सन्ट्रेशन कैम्प में रह रहे हैं .... एक ही घर में । उसके बाहर जाक .... वह जीवित नहीं था.... मैं भी नहीं । हम सिर्फ उसमें रहकर जी सकते थे लेकिन मैं नहीं रह सकी । एक दिन मैं बाहर आ गयी .... यह जानते हुए भी कि बाहर मैं किसी काबिल नहीं रह गयी हूँ .... नॉट ईवन फार लव । पीस किल्ड इट ।"[५२] इस प्रकार युद्ध तथा उसके उपरान्त की परिस्थिति ने उन दोनों के बीच के रागात्मक संबन्ध को मिटा दिया । पर वह अकेले रहने में असमर्थ भी है । इसलिए कहती है, "मैं ज़्यादा

---

४९. निर्मल वर्मा - वे दिन, पृ.१५८
५०. वही, पृ.४१
५१. वही, पृ.१६२
५२. वही, पृ.१६३

दिन अकेले नहीं रह सकती ।''[५३] प्राग में तीन दिन रहने के बाद वह वापस वियना जाती है । 'मैं' को लगता है कि ''शुरू के क्षणों में जो शून्यता आयी थी, वह अब भी थी ।''[५४]

फ्रांज और मारिया के बीच भी इसी प्रकार का संबन्ध है । वे दोनों एक होना चाहते हैं । फिर भी ' मैं' को लगता है - ''हम उन दोनों को जितना अलग अलग जानते थे, उतना साथ जोडकर नहीं ।''[५५] वे दोनों शादी करना चाहते हैं । फ्रांज बर्लिन जाना चाहता है । लेकिन मारिया उसके साथ बर्लिन जा नहीं सकती । क्योंकि वहाँ का नियम है कि कोई भी चेक लडकी तभी प्राग से बाहर जा सकती है जब वह किसी विदेशी की पत्नी जन जाए । नहीं तो उसे वीसा नहीं मिल सकती । उन्हें शादी करने की इच्छा है । लेकिन कर नहीं पाते । क्योंकि प्यार के बावजूद उनमें आत्मीयता नहीं है ।

'लाल टीन की छत' की काया अपने पारिवेशिक दबाव के कारण अकेली हो जाती है । उसका अकेलापन उसे अपनी ज़िन्दगी में आनेवाले हर पुरुष के साथ संबन्ध जोडने के लिए विवश कर देता है । जैसे मोहन राकेश के नाटक 'आधे अधूरे' की सावित्री करती है । मँगतू काया के घर का नौकर है । वह काया को बचपन से जानता है । काया अपने अकेलेपन से मुक्त होने के लिए मँगतू से जुड़ने का प्रयत्न करती है । जब भी वह अकेली हो जाती है वह मँगतू के क्वार्टर जाती है । वह उसके साथ सो जाना चाहती है, ''वह सो नहीं रही थी, लेकिन उसके बहुत पास थी । वह एकदम मँगतू से सट जाना चाहती थी, लेकिन मँगतू की देह की गन्ध एक दीवार की तरह बीच में खडी हो जाती । वह इस गन्ध को पहचानती थी .... वह सरकती गयी, अपनी रजाई से मँगतू की कम्बल तक ।''[५६]

काया का अकेलापन दूर करनेवाला एक अन्य साथी है भोलू । भोलू दायी का लडका है । काया उसके प्रति भी आकर्षित होती है । भोलू ने उसका जो प्रथम स्पर्श

---

५३. निर्मल वर्मा - वे दिन, पृ.१६१
५४. वही, पृ.१७६
५५. निर्मल वर्मा - वे दिन, पृ.४९
५६. निर्मल वर्मा - लाल टीन की छत, पृ.७०

किया उसे वह भुला नहीं पाती, "वह कुछ देर उसके सामने खडा रहा - आमने-सामने - एक-दूसरे की साँसों को सुनते-हुए फिर उसने टटोलते हुए हाथ आगे बढ़ाये, और काया वहीं खडी रही, पहली बार किसी पराए पुरुष की अंगुलियाँ उसके चेहरे को छू रही थी, सहला रही थी ।"[५७]

यह उसका प्रथम अनुभव था । फिर भी उसने उसमें कई प्रकार की नई अनुभूतियाँ उत्पन्न कर दीं, "उसे थोडा सा आश्चर्य हुआ कि अचानक भोलू के जाने के बाद अँधेरा बहुत चमकीला हो आया था ।"[५८]

काया के बाबु दिल्ली में रहते हैं । कभी कभी छुट्टियों पर ही आ जाते थे । काया की माँ घर में है लेकिन बिलकुल अकेली रहती है । वह अन्दर ही अन्दर इस बात से खुश है कि उसके पति उसके पास नहीं है । गर्भावस्था में भी वह अकेली हो जाती है । उपन्यास में वह एक निर्वासित पात्र है । काया की चाची मर चुकी थी । अपने अकेलेपन को मिटाने के लिए चाचा नथवाली औरत को लाए हैं । वे अपनी पत्नी को भूल नहीं पाते । पर वे नथवाली औरत के पास रात को जाते हैं सिर्फ अपना कर्तव्य पूरा करने के लिए । पहली बार नथवाली औरत के मूँह से चाचा शब्द सुनकर उसे कुछ अजीब सा लगा था, "क्योंकि उनकी ज़ुबान पर वह मर्द का नाम था - एक औरत के मूँह पर मर्द की छुअन-सा ।"[५९] बीरू को उस औरत से नफरत है । वह कहता है, "जादूगरनी - जो कहती है, हो जाता है । उसकी निगाह से कुछ भी नहीं बचता - न पेड, न आकाश, न झाडियाँ ।"[६०]

मिस जोसुआ की हालत इससे कुछ अलग है । वह पहली लडाई के बाद भारत आयी थी । लडाई के बाद उसके पति अपना देश लौट गए । मिस जोसुआ को यह पहाडी शहर इतना अच्छा लगा कि वह हमेशा के लिए यहीं टिक गयी । फिर

---

५७. *निर्मल वर्मा - लाल टीन की छत, पृ.५७-५८*
५८. वही, पृ.५८
५९. वही, पृ.१४५
६०. वही, पृ.१६९

अचानक पति का आना बन्द हो गया । उनकी जगह विलायत से बहुत अखबार चिट्ठियाँ और बुलेटिन आने लगे । फिर धीरे धीरे उन चिट्ठियों के प्रति भी मिस जोसुआ की दिलचस्पी खत्म हो गयी, "उनकी जगह अब विलायत से बहुत-से अखबार, चिट्ठियाँ और बुलेटिन आते थे - जिनसे उनका लेटर-बॉक्स खचाखच भरा रहता था । उनकी दिलचस्पी इतनी भी न थी कि उन्हें बटोरकर घर ले आयें । लोग कहते थे जैसे भंगी हरिया हर रोज़ उनका कमोड साफ करने आता है, वैसे ही वह उनका लेटर-बॉक्स भी साफ कर जाता है ।"[६१] पति-पत्नी के संबन्ध में जो विघटन, उदासीनता और ठंडापन उभर आया है वे इन शब्दों में स्पष्ट हैं ।

'एक चिथडा सुख' में 'मुन्नू बिट्टी के पास रहता है । वह अपनी बीमारी के कारण इलाहाबाद छोड़कर बिट्टी के पास रहने लगा था । बिट्टी उसकी कज़िन है । फिर भी मुन्नू के मन में बिट्टी के प्रति विशेष प्रकार का लगाव था । इसलिए बिट्टी को किसी और के साथ देखने पर वह दु:खी हो जाता है । खासकर जब बिट्टी और डैरी पास पास बैठते हैं, तब उसके, "भीतर एक कमीनी-सी ईर्ष्या उमडने"[६२] लगती है ।

बिट्टी और डैरी आपस में प्रेम तो करते हैं । उनके बीच गहरा लगाव भी है । फिर भी किसी दूसरे की उपस्थिति में वे इसे बाहर दिखाना पसन्द नहीं करते थे, "बिट्टी के बालों की लट कभी ढीली होकर डैरी के गालों को छूने लगती, और वह उसे छूने देते, ड्राइंग्स पर कुछ समझाती हुई डैरी की अँगुलियाँ कागज़ पर थमें बिट्टी के हाथों पर ठिठक जाती और - बिट्टी उन्हें ठिठके रहने देती, यह नहीं कि इसका उन्हें पता नहीं था, किन्तु इस पता होने का सुख और जब वे कागज़ों से अपनी आँखें उठाकर एक-दूसरे को देखते, तो सुख नहीं, इस चमक को देखते थे, जिसमें एक अजीब-सी उदासी और विस्मय छिपा रहा करता था उन्हें खयाल आया, मैं भी वहाँ हूँ । और तभी शायद यह खयाल भी

---

६१. निर्मल वर्मा - लाल टीन की छत, पृ.१९
६२. निर्मल वर्मा - एक चिथडा सुख, पृ.३६

आया - कि वे एक-दूसरे के साथ थे । वे अलग हो गये, हालाँकि वे एक ही जगह बैठे थे ।''[६३]

दोनों का सान्निध्य इस प्रकार एक दूसरे को सान्त्वना देता है । पर दोनों के भीतर की अनुभूति को समझ पाने में वे असमर्थ दिखायी देते हैं । बिट्टी एक दिन नाराज़ होकर डैरी को अपने घर से निकाल भी देती है, ''लेकिन अभी कुछ देर पहले वे एक-दूसरे के साथ बैठे थे इन दस मिनिट में क्या हुआ, कि अचानक दोनों एक दूसरे से इतना दूर छिटक गए हैं, कि सारी दुनिया उनके बीच से निकल सकती है ।''[६४]

इरा नित्ती भाई से प्रेम करती है । वे दोनों एक नहीं हो पाते क्योंकि नित्ती भाई शादीशुदा आदमी हैं । वे पूरे उपन्यास में इरा और अपनी पत्नी के बीच झूलते रहते हैं । वे एक दूसरे को छोड़ नहीं पाते और अपना भी नहीं सकते । अपने अपराध बोध से कुंठित नित्ती भाई अन्त में आत्महत्या कर लेते हैं ।

इस प्रकार उपन्यास के लगभग सभी पात्र संबन्धों को बनाए रखने के प्रयत्न में बेहद पराजित तथा बिखरा हुआ दिखाई देते हैं । 'रात का रिपोर्टर' का रिशी भी घर ग्रहस्थीवाला आदमी है । उसकी पत्नी है, उमा । वह अपनी अर्धविक्षिप्तावस्था के कारण कभी पति के घर रहती है, कभी भाई के घर और कभी अस्पताल में । उमा अपने पति से प्यार तो बहुत करती है पर शक भी । रिशी जब कुछ दिनों के लिए बस्तर जाने की तैयारी करता है तब उसे पहला दौरा पडा था । रिशी कभी समझ नहीं पाता कि उमा को क्या हुआ । डाक्टर भी उन दोनों के बीच के संबन्ध के बारे में जानना चाहती थी, ''वे कुछ और जानना चाहती थी - कुछ ऐसा - जो पति - पत्नि के रिश्तों में एक भूखे प्रेत की तरह चिपका रहता है - दोनों के रक्त-मांस को अपनी अपनी अदृश्य जिह्वाओं से चूसता रहता है और पता भी नहीं चलता, ऐसा कब से शुरू हुआ ।''[६५] उमा के अस्पताल जाने

---

६३. निर्मल वर्मा - एक चिथडा सुख, पृ.५४
६४. वही, पृ.५६
६५. निर्मल वर्मा - रात का रिपोर्टर, पृ.४२

के बाद बिन्दु और रिशी के बीच शारीरिक भोग तक हो जाता है । फिर भी उन दोनों के बीच एक फासला है जो उन्हें आत्मीयता के प्रगाढ बन्धन के लिए अनुमति नहीं देता । इन पात्रों में आत्मीयता का अभाव है इसलिए ये एक दूसरे से कटकर अपने में सीमित रहने की विवशता भोग रहे हैं । 'अंतिम अरण्य' के मेहरा साहब के जीवन में पहली पत्नी तथा उसके साथ के असफल संबन्ध का बोझ छाया हुआ है । इसलिए दूसरी पत्नी के साथ सुखमय जीवन बिताने पर भी उनके भीतर ही भीतर विघटन की पीडा घुमडकर रहती है । पर उपन्यास के आदि से अन्त तक वे अपनी दूसरी पत्नी दीवा की स्मृतियों में रहते हैं, "वह भूल जाते हैं कि वह अब इस दुनिया में नहीं है ।"[६६] वे अपनी बेटी तिया की माँ का स्मरण तक करना नहीं चाहते । लेकिन बिगडे हुए संबन्ध की तीक्ष्णता वे भोग रहे हैं । उपन्यास में सिर्फ एक ही बार मेहरा साहब उनकी ज़िक्र करते हुए दिखायी देते हैं - "पहली बार उन्होंने अपनी पहली पत्नी का ज़िक्र किया था - वह भी भूले से - अनजाने में - जैसे कोई चलते-चलते अचानक बन्द दरवाज़े के आगे चला आता है और वह मुद्दत बाद खुल जाता है, अपने आप, बिना कुंडी खटखटाए .... जैसे उसे पैरों की आहट पहले से ही मालुम हो ।"[६७] इस अलगाव के कारण तिया भी उनसे कुछ दूर दिखायी देती है । वह बातों बातों में अपने पिता को मेहरा साहब नाम से पुकारती है तो यह अजीब-सा लगता है, "जिसमें रिश्ते की आर्द्रता नहीं, एक क्लिनिकल किस्म का सूखापन था ।"[६८]

निरंजन बाबु का सारा परिवार जयपुर में है । फिर भी वे अपनी पत्नी और बच्चों से दूर रहना ही पसन्द करते हैं - "सोचकर अचानक बहुत खुशी हुई कि मैं कितनी मुद्दत बाद इस शहर में क्यों न लौटूँ .... हमेशा आप के पास आ सकता हूँ .... आप हमेशा यहाँ रहेंगी जब मैं जयपुर जाता हूँ, तो वहाँ ऐसा नहीं लगता .... हालांकि वहाँ मेरा परिवार है, मेरी पत्नी, बच्चे सब ।"[६९] उपन्यास का 'मैं' एक अकेला पात्र है । उसकी

---

६६. निर्मल वर्मा - अंतिम अरण्य, पृ.३५
६७. वही, पृ.१३२
६८. वही, पृ.१२०
६९. वही, पृ.३८

ज़िन्दगी में आगे पीछे देखनेवाला भी कोई नहीं है । उसकी न पत्नी है, न बच्चे । 'मैं' से एक बार निरंजन बाबु विवाहित न होने का कारण पूछते हैं तो 'मैं' कहता है - "जो चीज़ कभी हुई नहीं, उसका अभाव कैसा ?"[७०]

इस प्रकार इस उपन्यास में स्त्री-पुरुष संबन्धों का नया यथार्थ अभिव्यक्त हुआ है । एक मेहरा साहब है जो अपनी पहली पत्नी को मानते नहीं और दूसरी पत्नी को इतना चाहते हैं कि उनकी मृत्यु हो जाने पर पूर्ण रूप से निराश हो जाते हैं। दूसरी तरफ निरंजन बाबु है जो अपने घर और परिवार से अलग रहने में ही सुकून पाते हैं । इन दोनों के बीच है 'मैं' जिसको कभी शादी या परिवार की.जरूरत ही महसूस नहीं हुई है । स्पष्ट है, निर्मल जी का हर पात्र अपने भीतर ही भीतर संबन्धों के विघटन की अग्नि को लेकर चलता है । इसलिए वह दूसरों से स्थायी सम्बन्ध जोड नहीं पाता । वे एक विघटित अतीत के बोझ को ढ़ोनेवाले है । पराजय और उससे मुक्ति की छटपटाहट में दूसरे से अस्थाई स्तर पर मिल जाते हैं और तुरन्त ही अलग हो जाते हैं । इस बनते बिगडते संबन्धों की त्रासदी को हर पात्र भोगता रहता है । हर पात्र जीवन में स्वस्थ होने या सुरक्षित होने की तलाश में है । पर वे कहीं भी सुरक्षित नहीं हो पाते । शादी के बिना नर-नारी संबन्ध को अनैतिक या पाप समझनेवाली नैतिकता को भी ये पात्र चुनौती देते हैं । हर पात्र अपने में स्वतंत्र है । इस प्रकार स्त्री-पुरुष संबन्धों के नए यथार्थ को निर्मल जी ने अपने उपन्यासों में उद्‌घाटित किया है जो आधुनिक जीवन की वास्तविकता है ।

मृत्यु का एहसास

मृत्यु बोध मनुष्य में व्यर्थताबोध पैदा करता है । अपनी अनिवार्य मृत्यु से अवगत मनुष्य भविष्य के प्रति आशाहीन बन जाता है । उसे लगता है कि मृत्यु की छाया उसके संपूर्ण जीवन में मंडरा रही है, "मनुष्य की सारी कोशिशों की परिणति अंतत: मृत्यु में

---

७०. निर्मल वर्मा - अंतिम अरण्य, पृ.७९

समाहित है ।''[७१] युद्धोत्तर पाश्चात्य साहित्य में जीवन की विसंगति की मार्मिक अभिव्यक्ति मिलती है । भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बादवाले साहित्य में इस मृत्युबोध से संपृक्त चरित्रों का चित्रण हुआ है । हिन्दी साहित्य में इसका रूप प्रखर है । क्योंकि हिन्दी प्रदेश स्वतंत्रता संग्राम का तथा उसके बादवाली मोहभंग की स्थिति का भोक्ता था । मनुष्य जीवन की इस विसंगति और मृत्युबोध का चित्रण उस समय की रचनाओं का मर्म रहा है । क्योंकि मृत्युबोध को इन परिस्थितियों ने ही गहराया था जो कि जीवन की सच्चाई भी है । निर्मल वर्मा के शब्दों में - ''जब हम जवान होते हैं, हम समय के खिलाफ भागते हैं, लेकिन ज्यों-ज्यों बूढे होते जाते हैं, हम ठहर जाते हैं, समय भी ठहर जाता है, सिर्फ मृत्यु भागती है, हमारी तरफ ।''[७२]

'वे दिन' का संपूर्ण वातावरण युद्ध से आक्रान्त है । युद्ध दरअसल मृत्यु के एहसास को गहरानेवाला तथ्य अवश्य है । इस उपन्यास में 'मैं' के अलावा सभी पात्रों ने युद्ध को झेला है । इसलिए उन सब में मृत्यु एक आतंक के समान वर्तमान है । रायना ने अपने यौवन में ही इस युद्ध को झेला था । इसीलिए उसे बचपन की याद करते हुए बहुत खुशी होती हैं । क्योंकि वे लडाई के पहले वाले समय थे । अपने भीतर के आतंक के कारण रायना बच्चे को खेलने के लिए बन्दूक तक खरीद नहीं देती । वह कहती है, ''बन्दूकें मैं उन्हें सह नहीं सकती ।''[७३] रायना के जीवन में युद्ध और उसकी विसंगति का ऐसा असर पडा है कि वह उस को भूलकर एक दिन भी जी नहीं पाती । लेकिन 'मैं' से मिलने के बाद ऐसा एक दिन आया जिसमें उसे युद्ध की याद ही नहीं आयी । वह इससे बहुत खुश हो जाती है, ''सुनो, कभी-कभी तुम्हारे साथ चलते हुए मुझे लगता है यह मैं नहीं हूँ । जैसे लड़ाई कभी नहीं हुई .... ।''[७४]

---

७१. At the end of all that, despite every thing is death.
Albert Camus – 'The myth of sysyphus', Pg.83.

७२. निर्मल वर्मा - दूसरी दुनिया, पृ.२६७

७३. निर्मल वर्मा - वे दिन, पृ.६८

७४. वही, पृ.९८

एक दिन 'मैं' रायना को हँगरवॉल दिखाने ले जाता है । हँगरवॉल के दीवारों पर लिखे शब्दों को देखकर रायना को फिर से लडाई के दिनों की याद आती है । वह कहती है, "वे इसी तरह दीवारों पर लिखते थे तुमने कभी कैम्प देखे हैं ? मेरा मतलब है जहाँ वे थे । उनकी साइट .... लडाई के दिनों में वे हर जगह थे । मरने से पहले दीवारों पर लिखा करते थे ।"[७५] 'मैं' ने कभी इन कैम्पों को देखा नहीं था । सिर्फ फिल्मों में देखा था । इसलिए उसे "यह सोचना भी असम्भव लगा कि कहीं कैम्प थे, वहाँ लोग रहते थे ।"[७६]

रायना का पति जाक इसी लडाई और कैम्प की सन्तान है । इसीलिए उनके दाम्पत्य जीवन में हमेशा एक आतंक बना रहा जिसके कारण वे ज़्यादा दिन साथ रह नहीं सके, "वे लोग घरेलू ज़िन्दगी में खप नहीं पाते । जाक ऐसा ही था । जब मैं उसके साथ रहती थी .... मुझे कभी-कभी लगता था, जैसे हम दोनों अब भी किसी कान्सन्ट्रेशन कैम्प में रह रहे हैं .... एक ही घर में । उसके बाहर जाक .... वह जीवित नहीं था .... मैं भी नहीं । हम सिर्फ उसमें रहकर जी सकते थे लेकिन मैं नहीं रह सकी । एक दिन मैं बाहर आ गयी .... यह जानते हुए भी कि बाहर मैं किसी काबिल नहीं रह गयी हूँ .... नॉट ईवन फार लव ।"[७७] इस प्रकार लडाई ने उन्हें जीवन में इतना निराश बना दिया कि वे अब किसी के प्यार के भी काबिल नहीं रह गए हैं । इसीलिए वह कहती है, लडाई में बहुत लोग मरते हैं - इसमें कुछ अजीब नहीं है लेकिन कुछ चीज़ें हैं जो लडाई के बाद मर जाती हैं - शान्ति के दिनों में .... हम उनमें से थे ।"[७८] लडाई के इसी आतंक के कारण प्राग के कुछ स्थलों में जाने पर उसे जाक की याद आ जाती है । क्योकि इन जगहों पर इससे पहले वह जाक के साथ ही आयी थी । इसलिए उन जगहों में जाने पर युद्ध की स्मृतियाँ और ज़ख्में ताज़े हो उठते हैं ।

---

७५. निर्मल वर्मा - वे दिन, पृ.१०६-१०७
७६. वही, पृ.१०७
७७. वही, पृ.१६३
७८. वही, पृ.१६२

फ्रांज भी इस युद्ध की विसंगति को झेलनेवाला पात्र है । इसीलिए वह कहीं पर टिक भी नहीं पाता और किसी से जुड़ भी नहीं । वह कहता है, "तुम्हें अपना बचपन लडाई में नहीं गुज़ारना चाहिए .... वह ज़िन्दगी भर पीछा नहीं छोड़ती ।"[७९] फ्रांज कभी कभी इतने तटस्थ भाव से लडाई के बारे में कहता था, "निश्चय नहीं हो पाता था कि वह 'लडाई' के बारे में बता रहा है, जिसमें उसका बचपन गुज़रा था, या अपने बचपन के बारे में जिसमें 'उनकी' लडाई गुज़री थी ।"[८०] टी.टी. या थानथुन ने भी युद्ध को झेला है । इसीलिए वह कभी कभी मृत्यु के बारे में सोचता है - "एक बार मैं ऊँचे टॉवर पर चढ़ा था .... तुम जानते हो .... उस दिन मैं ने पहली बार मृत्यु के बारे में सोचा था ।"[८१]

ज़ाहिर है कि युद्ध इन पात्रों के जीवन से अभिन्नतः जुडा हुआ है । युद्ध अपने साथ कई लोगों, जगहों, चीज़ों, रागात्मक संबन्धों, आशाओं, आकाक्षाओं आदि को जला डालता है । जो लोग उसे झेलते हैं उनमें इन सबके न होने की दहशत हमेशा रहती है । इसलिए यह आतंक निरर्थकता एवं अनिश्चितता का एहसास उनके जीवन में सदा कराता रहता है । लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय की यह टिप्पणी सही लगती है, "उपन्यास पर युद्ध की छाया है, जिसकी पृष्ठभूमि में मानव-विनाश की भूमिका और मृत्यु का आतंक है ।"[८२]

'लाल टीन की छत' में यह मृत्यु का आतंक चार घटनाओं के इर्द गिर्द घूमता है । ये घटनाएँ हैं - लामा की मृत्यु, गित्री की मृत्यु , मृत शिशु का जन्म और मिस जोसुआ की मृत्यु । लामा काया की बुआ की लडकी है । वह काया और उसके छोटे भाई की एक अच्छी दोस्त भी है । पहाड और अपने घर के उजाड और उदासीन वातावरण में लामा ही थी जो उनका साथ देती थी । लेकिन अचानक एक दिन लामा गुम हो जाती है । तब से काया और छोटे कुछ डेरे डरे से लगते हैं, "वह बहुत देर वहाँ बैठी रही । भीतर जाने की इच्छा मर गयी थी, हालाँकि कमरों के भीतर से बराबर अजीब-सी

---

७९. निर्मल वर्मा - वे दिन, पृ.७४
८०. वही, पृ.५०
८१. वही, पृ.१२०
८२. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय - हिन्दी उपन्यास उपलब्धियाँ, पृ.११६

दबी-दबी आवाज़ें बाहर आ रही थीं । न पूरी आवाज़ें, न पूरा सन्नाटा - सिर्फ एक कमरे से दूसरे कमरे में जाते हुए पैरों की आहट सुनायी दे जाती थी ।''[८३]

छोटे को लगता था कि काया उससे कुछ छिपा रही है । वह उन बातों को जानना चाहता है । लेकिन काया उससे नहीं बताती । इसलिए वह इस दहशत को लिए हमेशा काया के साथ रहता है, ''उसे यह डर भी सताता रहता था, कि काया जो कुछ अपने अकेलेपन में देखती है, उससे कहती नहीं । वह इसीलिए हर मौके पर उसके साथ रहता था, ज़ोंक की तरह अपनी बहन से चिपटा रहता था - क्या मालूम, कब कोई ऐसी बात हो जाये, जब वह मौजूद न हो । वह सो भी रहा होता, तो अपनी मौजूदगी की पोटली सिरहाने रखता - ताकि वक्त पडने पर उसे बटोर कर एकदम खडा हो सके, जहाँ ज़रूरत हो, वहाँ तत्काल पहूँच सके ।''[८४] उन दोनों को यह विश्वास कभी नहीं होता था कि लामा अब उनके बीच में नहीं है । वे हमेशा उसकी प्रतीक्षा करते हुए दिखायी देते हैं - ''वे अब भी प्रतीक्षा करते थे । सर्दी की लम्बी शामों में, जब वे आग जलाकर बैठते, तब भी लगता, जैसे लामा कुछ देर में बाहर से आयेगी, जैसे वह अक्सर आती थी ।''[८५]

काया उसकी कुतिया गिन्नी की मृत्यु को भी समझ नहीं पाती । वह छोटे से कहती है कि गिन्नी मरी नहीं है उसे बुलाया गया है । वह छोटे से कहती है, ''मैं रेल की पटरी के पीछे खडी थी ....दूसरी तरफ झाडियाँ थी और वे हिल रही थीं । मैं ने उन्हें हिलते हुए देखा था । फिर .... फिर मुझे लगा, कोई बुला रहा है, और मैं ने वह बुलाना सुना था ।''[८६]

काया इतनी भोली है कि अपनी माँ की गर्भावस्था तक को नहीं पहचानती । काया को लगता था कि उसकी माँ बडी होती जा रही है । काया की माँ को जो मृत बच्चा हुआ था, उसके बारें में भी वह नहीं जानती थी । बीरू ने ही यह खबर सबसे पहले उसे

---

८३. निर्मल वर्मा - लाल टीन की छत, पृ.५३
८४. वही, पृ.१५
८५. वही, पृ.६२
८६. वही, पृ.५६

सुनाई थी । काया को विश्वास नहीं आया, वह कहती है, "नहीं .... क्योंकि उसे कभी खयाल नहीं आया था कि दाई- माँ के हाथ में उसने जो लिसलिसी लोथ देखी थी, वह बच्चा हो सकता है - बच्चे, जिनके हाथ-पैर होते हैं, जो फर्श पर रेंगते हैं । उसने कभी उस दृश्य को शब्द देने की कोशिश नहीं की थी, जो उस रात उसने खिडकी के पीछे से देखा था ।"[८७] उस दिन उसने माँ की प्रसूति देखी थी । और वह डर गयी थी क्योंकि उसे लग रहा था, "माँ को कुछ नहीं हो रहा, माँ के साथ कुछ हो रहा है ।"[८८]

इस उपन्यास के अन्तिम खण्ड में काया जब पुन: शिमला पहुँचती है, तब मिस जोसुआ अपनी ज़िन्दगी का आखिरी दिन गिन रही थी । वह काया से चादरें निकालने को कहती है । अपनी मृत्यु का आभास होते हुए भी वह उन दिनों काफी खुश दिखायी देती थी । जब उनकी मृत्यु हुई तब काया को अजीब सा लगा, "पलंग पर लेटी मिस जोसुआ अब मरी हुई मिस जोसुआ है ।"[८९] इस प्रकार पूरे उपन्यास में मृत्यु और उसका आतंक छाया हुआ है जैसे अज्ञेय के 'अपने अपने अजनबी' उपन्यास में मृत्यु पूरे उपन्यास के पात्रों में यहाँ तक कि संरचना पक्ष के साथ भी अभिन्नत: जुडा हुआ है ।

'एक चिथडा सुख' में निर्मल वर्मा ने ज़िन्दगी के चमत्कार के साथ साथ मृत्यु के रहस्य को भी उभारा है । उपन्यास में नित्ती भाई की मृत्यु सबसे खेदजनक घटना है । असफल कैरियर, निरुद्देश्य प्रेम व ठंडे दाम्पत्य के बीच तालमेल न बिठा पाने पर नित्तीभाई आत्महत्या कर लेते हैं - "पानी के नीचे वह उस तस्वीर की तरह दिखायी देते थे जिसमें बच्चे अपनी माँ के गर्भ में लेटे रहते हैं - हाथ की मुट्ठियाँ बन्द, बाल सिर पर गुन्थे हुए .... जैसे पानी में बहते हुए खून से उनका कोई रिश्ता न हो, सब रिश्तों से मुक्त, भीगी आँखों से

---

८७. निर्मल वर्मा - लाल टीन की छत, पृ.१०५
८८. वही, पृ.६८
८९. वही, पृ.१९५

हमें निहारते हुए एकटक ।''[९०] इस उपन्यास में मृत्युभय से आतंकित पात्र है मुन्नू । 'मेमोयर्स ऑफ ए मिशनरी'[९१] शीर्षक किताब की पंक्तियों को पड़ते हुए मुन्नू के मन में एक प्रकार का अज्ञात डर छा जाता है ।

'रात का रिपोर्टर' में यह दिखाया गया है कि व्यवस्था और व्यक्ति के बीच का संघर्ष किस प्रकार जीवन को आतंकित करता है, मृत्यु का एहसास कराता है । व्यवस्था और स्वतन्त्रता का परस्पर विरोध और तनाव आज के युग की मूल समस्या है। इनके पारस्परिक संबन्धों के बिगडने पर ही आपातकालीन स्थिति का आविर्भाव होता है । इस स्थिति में एक रिपोर्टर का जीवन हमेशा खतरे में रहता है ।

रिशी के मन में हमेशा एक अनजाना डर बना रहता है । उसका आन्तरिक संकट तब प्रत्यक्ष होता है जब उसे अजनबी दयाल से यह सूचना मिल जाती है कि अनूप भाई गिरफ्तार हो गए हैं और स्वयं दयाल से पुलिस ने काफी पूछताछ की है । पुलिस के सन्दिग्ध व्यक्तियों की सूची में अपना नाम भी होने की सूचना से रिशी का मन आशंका, भय और अविश्वास से भर जाता है । मृत्यु का भय उसे घेर लेता है । इस भय का सीधा संबन्ध, ''उसकी जन्मपत्री से था, जो उनकी फाइलों में बन्द थी और जिसे वे कभी भी खोल सकते थे वह डर एक तरह का कोढ़ था हर कदम पर भ्रम होता था लोग सशंकित निगाहों से उसे देख रहे हैं ।''[९२]

वह चाहे लाइब्रेरी में बैठे या घर में उसका मन हमेशा आतंकित रहता था । ''उस रात वह बार-बार उठ जाता; रम, थकान, सपने - हर बार वह चौंककर जाग जाता,

---

९० निर्मल वर्मा - एक चिथडा सुख, पृ.१५७

९१. Last night the panther came and my dog whined for a long time.
निर्मल वर्मा - एक चिथडा सुख, पृ.१७

९२. निर्मल वर्मा - रात का रिपोर्टर, पृ.१७

लगता जैसे नीचे कोई दरवाज़ा खटखटा रहा है । जीना उतरकर दरवाज़ा खोलता, तो कोई नही - खाली गली और हवा में उड़ता कूडा ।''[९३]

जब रिशी घर में नहीं होता तब उसके घर में कोई निरन्तर फोन करता रहता है । उसकी माँ जब फोन उठाती है तो उस तरफ से फोन रख दिया जाता है । यह बात जानने पर रिशी को फोन की घण्टी बजते ही डर लगने लगता है, ''सारा घर घुप्प अँधेरे में डूबा था - सिर्फ घंटी की चीत्कारती आवाज़ हर कमरे में गूँज रही थी । वह भागता हुआ हॉल के दरवाज़े की तरफ गया, ~~लेकिन~~ तब पता चला कि घंटी दरवाज़े से नहीं, फोन से आ रही है । वह बरामदे को लाँघता हुआ बडे कमरे में गया । एक क्षण फोन के सामने खडा रहा, पसीने की एक ठण्डी लकीर उसकी रीढ़ की हड्डी पर खिंचती गयी, उसने रिसीवर उठाया, लगभग चीखते हुए कहा - कौन ? कौन है ? किन्तु दूसरी तरफ सन्नाटा था, कोई कान लगाए उसे सुन रहा था, लेकिन खुद चुप था और तब उसने हताश होकर रिसीवर रख दिया - सिर पकडकर वही बैठ गया - ऐसा कितने दिन चलेगा ?''[९४]

रिशी और उसकी माँ इस आतंक और भय में ही ज़िन्दगी गुज़ारते हैं । रिशी हमेशा लाइब्रेरी में बैठता है और उसकी माँ अस्पताल के गलियारे में । वह सोचता है, ''कितना अजीब संयोग है - मैं यहाँ बेंच पर बैठा हुआ प्रतीक्षा कर रहा हूँ और माँ अस्पताल के गलियारे में । वह जीवित दुनिया में मृत्यु की प्रतीक्षा करती हुई, मैं जीते-जी मृत दुनिया में विचरता हुआ ।''[९५]

'अंतिम अरण्य' में मृत्यु आतंक नहीं बल्कि एक सहज और शान्त स्वीकृति है। इस उपन्यास के प्रमुख पात्र मेहरा साहब इस मृत्यु के एहसास को लेकर जी रहे हैं । इसमें

---

९३. निर्मल वर्मा - रात का रिपोर्टर, पृ.८२
९४. वही, पृ.८८
९५. वही, पृ.९८

मृत्यु को जीवन से भी बहतर रूप में चित्रित किया गया है, "मौत से ज़्यादा खौफनाक यह बात है कि तुम कभी मरोगे नहीं, हमेशा के लिए जीते जाओगे ! है न भयानक चीज़ ?"[९६]

मेहरा साहब डॉ. सिंह से यही जानना चाहते हैं कि वे इस दुनिया से कब जा पायेंगे । डॉ.सिंह के अनुसार मेहरा साहब कलक्टर रहे हैं इसलिए तब तक किसी फाइल को वैलिड नहीं समझते जब तक उनका अपना हस्ताक्षर नहीं होता, "वह यह भी भूल जाते हैं कि आखिरी फाइल पर उनके नहीं, किसी और के दस्तखत होते हैं .... जिसके बिना हर पैटर्न अधूरा रहता है ।"[९७]

मेहरा साहब और उनकी पत्नी दीवा की ज़िन्दगी में मृत्यु एक मेहमान की तरह आ गयी जिसके साथ सब कुछ समाप्त हो जाता है, यह सोचकर 'मैं' के मन में एक अजीब सा डर पनपता है, "एक अंधेरी-सी कंपन मेरे भीतर दौड गयी .... मृत्यु क्या वह इस तरह आती है, मेहमानों के बीच बैठी मुस्कुराती मेहमान ?"[९८]

बेटी तिया के जाने के बाद मेहरा साहब की हालत बहुत ही दयनीय हो जाती है । वे यह नहीं जान पाते कि वे क्या कर रहे हैं । मेहरा साहब की इस हालत पर ननकू और मुरलीधर अपना अफसोस जताते हैं तो 'मैं' कहता है - "मृत्यु-एकमात्र चीज़ जिसके बारे में हम निश्चित होते हैं .... क्या वह भी आदमी को आखिरी मौके पर धोखा दे सकती है ? हम यह भी नहीं जान पाते, वह अपने साथ किसे ले गयी है .... क्या उसे जिसे हम जानते थे या किसी और को, जिसे जानने की कभी मुहलत नहीं मिली ?"[९९]

कभी कभी तो एक साथ बैठकर बातें करते वक्त 'मैं'को लगता है, "जैसे हम सबके बीच कोई चुपचाप आकर बैठ गया है । जीते हुए लोगों के बीच सबसे अधिक जीता हुआ जीव, हम सब उन्हें अपनी-अपनी जगह देख सकते थे, जबकि उनकी अपनी

---

९६. निर्मल वर्मा - अंतिम अरण्य, पृ.२०
९७. वही, पृ.१०२
९८. वही, पृ.७४
९९. वही, पृ.१११

जगह कब की खाली पड गयी थी .... मरने के बाद आदमी अपने से छूटकर कितने लोगों के बीच बँट जाता है ।''[१००]

जब मेहरा साहब को स्ट्रोक आता है तब 'मैं' को उनकी मृत्यु को लेकर कोई खास डर महसूस नहीं होता । उसे लगता है कि मेहरा साहब ने यह यात्रा बहुत पहले ही शुरू की है । अब अफसोस करने से या चिन्ता करने से कोई फायदा नहीं । ''मैं अब तक उनकी मृत्यु से डरता हुआ आया था, तब क्या मालुम था कि असली यात्रा मृत्यु से पहले शुरू होती है, जब वह जीने की पक्की सड़क छोड़कर किसी अनजानी पगडंडी की ओर मुड जाता है, जो जीने और मृत्यु से अलग किसी और दिशा की ओर जाती है ।''[१०१] मेहरा साहब की मृत्यु के बाद मैं को लगता है कि मृत्यु के बाद ही आदमी की मुक्ति पूर्ण रूप से सभी अर्थो में होती है । ''आदमी मृत्यु के बाद दो बार मुक्त होता है, पहली बार दूसरों से, दूसरी बार स्वयं अपने से .... मेहरा साहब अपने अस्थि-पिंजर से इस तरह बाहर निकल आए थे - जैसे कोई आदमी अपने जलते घर से बाहर निकल आता है, हल्का, मुक्त, बदहवास ।''[१०२] इस प्रकार इस उपन्यास में मृत्यु की प्रतीक्षा है । ''अंतिम अरण्य' की खासियत यह है कि यह केवल आत्मविस्तार का ही उपन्यास नहीं है, बल्कि यह मृत्यु से सीधे-सीधे साक्षात्कार का भी उपन्यास है ।''[१०३]

ज़ाहिर है कि निर्मल जी के हर पात्र में मृत्यु का एहसास छाया हुआ है । यह एहसास वास्तव में वर्तमान समाज की वास्वविकता की भीषणता से आतंकित मन की सहज प्रतिक्रिया से उद्‌भूत है । जिस परिस्थिति में वह जीने के लिए विवश है उसकी सही पहचान दरअसल उसके दार्शनिक पक्ष को उद्‌घाटित करता है । संक्षेप में निर्मल जी के पूरे उपन्यासों में छाया हुआ डर, आतंक, विसंगति का एहसास, अलगाव की स्थिति, संबन्धों का विघटन, मृत्यु का बोध आदि सचमुच आधुनिक मनुष्य के स्वत्वबोध संबन्धी गहरी

---

१००. *निर्मल वर्मा - अंतिम अरण्य*, पृ.१४९-१५०
१०१. वही, पृ.२१७
१०२. वही, पृ.२४९
१०३. दस्तावेज अंक ८८

का विघटन, मृत्यु का बोध आदि सचमुच आधुनिक मनुष्य के स्वत्वबोध संबन्धी गहरी पहचान का परिणाम है । यह पहचान एक अदृश्य व्यक्ति के रूप में सब कहीं वर्तमान रहती है ।

संरचनात्मक विशेषताएँ

किसी रचना का शिल्प या संरचना पक्ष वह साधन है, जिससे रचना को सुव्यवस्थित ढंग से संवार लिया जाता है । याने किसी भाव को विन्यस्त करने के लिए जिन साधनों का प्रयोग किया जाता है वे सब संरचना पक्ष या शिल्पपक्ष हैं । भावपक्ष तथा संरचना पक्ष के विशेष संयोग से ही रचना पूर्ण बनती है । याने कि ये दोनों पूरक तत्व हैं । स्वाधीनोत्तर हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में कथ्य के स्तर पर ही नहीं शिल्प या संरचनात्मक पक्ष के स्तर पर भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं । बदलते जीवन यथार्थ के संप्रेषण के सिलसिले में उभरे ये नए प्रयोग हर एक उपन्यासकार में भिन्न भी होते हैं, "शिल्प के स्तर पर निस्सन्देह बहुत-से लेखकों ने अपने अपने ढंग से नये-नये प्रयोग किये है और अपनी भाववस्तु को अधिक से अधिक प्रभावी और चमत्कारपूर्ण ढंग से संप्रेषित करने के लिए कथा की बहुत-सी शैलीगत युक्तियाँ अपनायी हैं । इस दृष्टि से इधर के उपन्यासों में पर्याप्त विविधता है ।"[१०४] निर्मल वर्मा के उपन्यासों में भी यह संरचनात्मक विविधता परिलक्षित होती है ।

कथ्यपरक नवीनताएँ

निर्मल वर्मा ने जिन कथा सन्दर्भों को चुना है वे या तो छोटे समय के हैं नहीं तो किसी संवेदनात्मक क्षण के या किसी छोटी सी घटना पर केन्द्रित होते हैं । आधुनिक समय

---

१०४. नेमीचन्द्र जैन - अधूरे साक्षात्कार, पृ.१७९

के नगरीकरण और औद्योगिकीकरण की समस्याओं से जूझते उच्चमध्यवर्गीय समाज की समस्याओं को ही उन्होंने अपनी रचना का विषय बनाया है ।

'वे दिन' उपन्यास इसका सबसे अच्छा उदाहरण है । इसमें घटनाएँ बहुत कम हैं । समय का अन्तराल भी इतना कम है कि वह सिर्फ तीन दिन में सिमटा हुआ है । प्रमुख कथा 'मैं' और रायना की है । पर फ्रांज और मारिया की प्रासंगिक कथा भी इसके साथ साथ चलती है । युद्ध की छाया तले जीने की मानवीय विसंगति को तथा व्यक्ति के अकेलेपन को उभारना उपन्यास का मकसद है । इसलिए कथावस्तु कहीं खत्म नहीं होती । क्योंकि यह आधुनिक जीवन का सत्य है जिससे हर सचेत व्यक्ति जूझता रहता है, "लेखक ने उपन्यास का अन्त जिस रूप में किया है, वह आधुनिक जीवन स्थितियों से निष्पन्न तथा प्रमाणित है ।"[१०५]

'लाल टीन की छत' में एक बच्ची के औरत बन जाने के बीच का घटनाक्रम है । इस परिवर्तन में उसे जिन जिन परिस्थितियों एवं घटनाओं का सामना करना पडता है और उनसे किस प्रकार उसका व्यक्तित्व रूपायित होता है इन सबका चित्रण हुआ है । सबसे अजीब बात यह है कि इस उपन्यास की कोई ठोस कथावस्तु नहीं है । यहाँ घटनाएँ पात्रों के अन्तस्थल में घटित होती हैं । इस उपन्यास का अन्तराल लगभग पन्द्रहवर्ष का है । प्रारम्भ काया के बचपन से होता है और समाप्ति उसकी युवती बनने के साथ । एक भरे पूरे परिवार की सदस्या होने पर भी काया कैसे अपनी ज़िन्दगी में अकेली, अजनबी एवं कुंठित हो जाती है इसीका चित्रण उपन्यास में हुआ है ।

'एक चिथडा सुख' का वातावरण दिल्ली नगर और वहाँ का मध्यवर्ग है । इस उपन्यास के सभी पात्र बिट्टी, डैरी, इरा, नित्ती भाई आदि अपने अपने जीवन में अत्यन्त निराशा हैं । इसलिए वे नाटक, बियर और गानों में अपने जीवन का अर्थ ढूँढने की

---

१०५. डॉ. नरेन्द्र मोहन - आधुनिक हिन्दी उपन्यास, पृ.२२८

कोशिश करते है । उपन्यास का समय जनवरी से अप्रैल तक है । मुन्नू इसमें नरैटर के रूप में आता है और घटनाओं को अपनी एक डायरी में अंकित करता जाता है । बौने की कथा तथा ढाबे से जूठन खाकर जीनेवाले बच्चों की कथा प्रांसगिक है ।

'रात का रिपोर्टर' में आज की राजनैतिक विसंगतियों के शिकार बने एक बुद्धिजीवी रिपोर्टर के अन्तद्वन्द्वों को प्रस्तुत किया गया है । दूसरी ओर उपन्यासकार ने एक व्यक्ति के आत्मसंघर्ष के ज़रिए पूरे देश में व्याप्त तनाव एवं आतंक की स्थिति को उभारा है । भारत की आपातकालीन स्थिति और उससे उत्पन्न तनाव को औपन्यासिक संरचना के ज़रिए अभिव्यक्ति दी गयी है । इसलिए इस उपन्यास का कथ्य काफी बौद्धिक भी है ।

'अंतिम अरण्य' में तो जीवन के अन्तिम पडाव को गुज़ारनेवाले लोगों के माध्यम से मृत्यु के शाश्वत सत्य को प्रस्तुत किया गया है । इस उपन्यास को पढते हुए ऐसा लगता है कि इसके सभी पात्र एक ही धुरी पर घूम रहे हो, और जीवन के एक खास मुकाम पर आकर वे सब एकदम ठहरे हुए हो । सब के सब मृत्यु की प्रतीक्षा में है । किसी की मृत्यु पूरे वातावरण को एकदम बदल डालती है, "किसी की मृत्यु उसके जीवन की सत्ता का कितना सच्चा और कितना जीवन्त दस्तावेज़ हो सकती है, इस सत्य का सूक्ष्म एवं संवेदनात्मक उद्‌घाटन भी है ।"[१०६]

जाहिर है कि निर्मल वर्मा ने वैविध्यमय जीवन के नए नए यथार्थों को उपन्यास के कथ्य के रूप में स्वीकार किया है जो उनकी समस्त जीवन दृष्टि का परिचायक भी है । उसमें व्यक्ति को तथा उसकी समस्याओं को समसामयिक परिस्थिति के तहत आँकने का कार्य किया है । ये रचनाकार की हैसियत से उनके अपने समय की गहरी पहचान की क्षमता को द्योतित करता है ।

---

१०६. वागर्थ - जूलाई २००१, पृ.८६

पात्र परिकल्पना

निर्मल वर्मा के पात्र अपने आप में अपूर्व हैं । उनके समय के अन्य उपन्यासकारों की तरह निर्मल वर्मा ने भी 'मैं' को महत्वपूर्ण स्थान दिया है । 'वे दिन' में सिर्फ एक ही बार नायक के नाम का जिक्र किया गया है । फिर 'मैं' का प्रयोग करके स्वयं उपन्यासकार कथा को सबका प्रतीत कराता है । इसमें पात्रों की संख्या कम है । 'मैं' और रायना ही प्रमुख पात्र है । फ्रांज, मारिया, मीता, टी.टी. आदि अन्य पात्र हैं । सभी पात्र युद्धोत्तर मानसिकता के शिकार है ।

'लाल टीन की छत' के पात्र अधिक आत्मकेन्द्रित दिखायी देते हैं । इसमें 'वे दिन' की अपेक्षा पात्र संख्या अधिक है । काया और उसका अकेलापन ही इसका प्रमुख विषय है । प्रमुख पात्र काया है । छोटे, बुआ, मॉ, बाबु, चाचा, लामा , बीरू, भोलू, नथवाली औरत, दायी, मँगतू, मिस जोसुआ आदि पात्र भी है । ये सभी पात्र अपने अपने परिवेश से कटे हुए हैं । यह वास्तव में आधुनिक मानव की विसंगति है ।

'एक चिथडा सुख' में मुन्नू एक नरेटर के रूप में आता है । वह उपन्यास की घटनाओं का दर्शक रह जाता है तो कभी उन घटनाओं को अपनी डायरी में लिखते हुए नज़र आता है । कभी लंबे समय के अन्तराल के उपरान्त डायरी में लिखी घटनाओं को याद करते हुए दिखायी देता है । इसका प्रमुख पात्र बिट्टी है । इरा, डैरी, नित्ती भाई आदि अन्य पात्र है । सब के सब अकेलेपन से ग्रस्त हैं तथा उससे मुक्ति पाने के लिए छटपटाते भी हैं ।

'रात का रिपोर्टर' का माध्यम रिशी है । इसमें एक रिपोर्टर के जीवन के आत्मसंघर्ष को ही प्रस्तुत किया गया है । इसके सभी पात्र एक अजीब आतंक से गुज़र रहे हैं । पात्रों की संख्या बहुत कम है । प्रमुख पात्र हैं व्यवस्था के शिकंजे में फँसा हुआ रिपोर्टर रिशी । अन्य पात्र हैं - आधुनिक युग की नारी बिन्दु, पति के द्वारा तिरस्कृत हो

जाने पर भी पति को दिल से चाहनेवाली उमा, आदर्श पत्रकार रायसाहब, सभी समस्याओं के जानकार होने पर भी सबके प्रति मौन रहनेवाली माँ आदि ।

'अंतिम अरण्य' में मेहरा साहब केन्द्र पात्र है । अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद वे बिलकुल अकेला पड जाते हैं । 'मैं' इसका और एक प्रमुख पात्र है । उसके द्वारा ही कथा आगे बढ़ती है । अन्य पात्र है - तिया, अन्ना जी, निरंजन बाबु, नौकर मँगतू और मुरलीधर । उपन्यास में आदि से अन्त तक मेहरा साहब का आन्तरिक संघर्ष ही चित्रित है। पूरे वारावरण में मृत्यु की गंध व्यापी हुई है ।

इस प्रकार निर्मल वर्मा के पात्र उनके उपन्यासों के प्रमुख तत्व है । उनके आंतरिक संघर्ष के चित्रण के सिलसिले में कथा का विकास होता है और धीरे धीरे वह कथा उपन्यास का रूप धारण कर लेती है । पाठक भी उसके प्रवाह में खो जाते हैं और उनका अकेलापन, कुंठा, संत्रास, आतंक, तनाव सब पाठक का अपना बन जाता है । पात्र परिकल्पना की विशेषता के कारण ही पाठक उपन्यास को पढ़ते पढ़ते स्वयं उसके पात्र बन जाते हैं ।

आत्मकथात्मक शैली

आत्मकाथात्मक शैली का मतलब है प्रथम पुरुष का प्रयोग । यानि नायक के नाम के स्थान पर 'मैं' शब्द का प्रयोग करना । निर्मल वर्मा का उपन्यास 'वे दिन' पूर्ण रूप से इस शैली में लिखा गया उपन्यास है । जैसे - "मैं ने झपटकर दरवाज़े का हैण्डिल पकड लिया । दिसम्बर के इस मौसम में भी मेरी हथेलियाँ पसीने से तर थीं । किसी ने मेरा दरवाज़ा नहीं खटखटाया जूतों की आवाज़ मेरे दरवाज़े के निकट आयी लेकिन

रुकी नहीं, केवल मेरी साँस को रोककर आगे बढ़ गयी । मैं मुडा, और दरवाज़े से पीठ सटाकर कमरे की ओर देखने लगा ।"[१०७]

'लाल टीन छत' में भी कहीं कहीं पर इस आत्म कथात्मक शैली का प्रयोग दिखायी देता है । जो-जो स्मृतियाँ और अनुभूतियाँ काया को विशेष रूप से छू लेती है, वे प्राय: आत्मकथात्मक ढंग से प्रस्तुत किए गए हैं । मकान मालकिन मिस जोसुआ के दरवाज़े पर मरे हुए पक्षी सा औंधा झूलता लेटर-बॉक्स देखने पर काया सोचती है - "हवा और अंधेरा - हे ईश्वर, उन दिनों कितनी हवा चलती थी । बाबु दिल्ली चले जाते थे । माँ बडी होती जाती थी । मैं घर के चारों तरफ घूमती थी - फिर एक दिन मैं ने मिस जोसुआ का लेटर-बॉक्स खोला था । छोटे नीचे खड़े थे, फाटक को पकडे हुए - क्या कुछ देखा काया ? हाँ - चिडियों की सफेद, सूखी बीट और तिनके - और उन तिनकों के बीच मेरी तरफ घूरती हुई एक आँख, सिर्फ एक आँख जैसे वह दिन भर लेटर-बॉक्स के पीछे टिकी हुई बाहर की दुनिया को निगल रही हो ।"[१०८]

उपन्यास का तीसरा खण्ड 'तसल्ली से परे' पूर्ण रूप से आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है - "मुझे लगता है, जब मैं लौटी, तो बीच में कई साल बीत गये थे, हालाँकि मैं वैसी ही थी जैसी उन सर्दियों में, जब वे मुझे काया के नाम से बुलाते थे और मैं चाचा के घर फाक्सलैंड गयी थी, जो शहर से ऊपर था ।"[१०९] 'एक चिथडा सुख' में भी नैरेटर मुन्नू की क्रियाओं को आत्मकथात्मक शैली में अभिव्यक्त किया गया है, "मैं सचमुझ बचकर निकल गया । वे बातें कर रहे थे, मुझे भूल गये थे । मैं अकेला छूट गया था । मैं धीरे-धीरे सरकता हुआ कमरे के दूसरे छोर पर चला आया । एक दरवाज़ा दिखायी दिया मैं चुपके-से भीतर चला आया ।"[११०]

---

१०७. निर्मल वर्मा - वे दिन, पृ.८
१०८. निर्मल वर्मा - लाल टीन की छत, पृ.२९
१०९. वही, पृ.१८३
११०. निर्मल वर्मा - एक चिथडा सुख, पृ.६१

'अंतिम अरण्य' की कथा भी प्रथम पुरुष की शैली में आगे बढ़ती है, "जिस दिन मैंने वह विज्ञापन पढ़ा, मैं अंधेरे से बाहर निकल आया था । मैं जीवन के एक ऐसे दौर से गुज़र रहा था, जिसे कुछ लोग 'क्राइसिस आफ मिडिल एज' कहते हैं । यह मैं अब सोचता हूँ । मैं उससे बाहर निकलना चाहता था .... लेकिन एक बात मैं जानता हूँ, यहाँ आने का मतलब एक दुनिया को छोड़कर दूसरी दुनिया में जाना नहीं था, यह अपनी ही दुनिया में अपने को दुबारा पाने का प्रयत्न था ।"[१११]

इस प्रकार निर्मल वर्मा ने आत्मकथात्मक शैली के ज़रिए मानव जीवन के यथार्थ को नए सिरे से अनुभव कराने का कार्य किया है ।

पूर्वदीप्ति शैली

शिल्पगत युक्तियों में सबसे अधिक प्रचलित और प्रयुक्त शैली है पूर्वदीप्ति शैली । 'वे दिन' में पूर्वदीप्ति शैली का प्रयोग हुआ है । इसमें कथावाचक 'मैं' पूरी घटना की याद करता है । उसके साथ धीरे-धीरे कथा का विकास होता है । "तुम विश्वास करते हो ? सच बताओ ! वही एक आवाज़ ! हर दिन इसी घडी में वह मुझे पकड लेती थी एक विवश आग्रह के साथ । जैसे वह दोनों हाथों से उसका चेहरा दबोच लेता था - और उसकी आतंकग्रस्त आँखें उस पर टिक जाती थी । सफेद पुतलियों पर एक अजीब-सी जिज्ञासा सिमट आती थी । वे अब भी यहाँ होंगी - हवा में टिमकती दो आँखें । इस क्षण और आनेवाले हर क्षण में मेरी ओर निहारती हुई !"[११२]

---

१११. निर्मल वर्मा - अंतिम अरण्य, पृ.२४
११२. निर्मल वर्मा - वे दिन, पृ.७

डायरी शैली

इस शैली का प्रयोग आधुनिक उपन्यासों में किया गया है । 'एक चिथडा सुख' उपन्यास की कथा नरैटर मुन्नू के माध्यम से आगे बढ़ती है । इसमें मुन्नू हर एक घटना को अपनी डायरी में लिखता चला जाता है । उसकी माँ के कहने के अनुसार ही वह ऐसा करता है, "माँ" ने यह नोटबुक मुझे दी थी । कहती थी, देखते हुए हम जो भूल जाते हैं, लिखते हुए वह फिर एक बार याद आ जाता है; लेकिन 'याद करना' देखना नहीं है; वह अलग करना है, जैसे अब नोटबुक पर मैं बिट्टी की हैरानी और डैरी की चौंकी सी आँखें देख रहा हूँ ।"[११३] इस प्रकार मुन्नू की डायरी के पन्नों के द्वारा उपन्यास धीरे धीरे आगे बढ़ता है ।

स्मृति चित्रों का प्रयोग

स्मृति चित्रों के प्रयोग निर्मल वर्मा की अधिकांश रचनाओं में पाए जाते हैं । वर्तमान में भूत और भविष्य को समेटने की कला निर्मल जी में साकार हो उठती है । 'वे दिन' का प्रारंभ ही स्मृति के आलोक में होता है, "वह अब भी यहाँ होगी-हवा में टिमकती दो आँखें इस क्षण और आनेवाले हर क्षण में मेरी ओर निहारती हुई ।"[११४] इसमें कथावाचक 'मैं' हर घटना की याद करता है । चाहे वह सालों पहले की घटना हो फिर भी 'मैं' उस की स्मृतियों को अपने में जीवित रखता है, "आज-भी अरसे बाद - आँखें मूँदकर मैं उन सब घटनाओं पर अंगुली रख सकता हूँ, जो सर्दी के उन दिनों में गुज़री थीं। वह 'याद करना' मुश्किल नहीं है । वह उतना ही आसान है जैसे हम किसी बचपन की

---

११३. निर्मल वर्मा - एक चिथडा सुख, पृ.५७
११४. निर्मल वर्मा - वे दिन, पृ.७

धुन को लम्बी मुद्दत बाद पियानो पर खेलते हैं । ध्यान अगर भटक भी जायें अंगुलियाँ हर नोट पर पुराना रास्ता टटोल लेती है ।''[११५]

'लाल टीन की छत' में लामा का प्रसंग स्मृति चित्रों के द्वारा ही प्रस्तुत हुआ है । छोटे और काया के मन में लामा को लेकर जो यादें बनी रहती हैं उन्हीं के चित्रण के द्वारा लामा का चित्र एवं चरित्र अनावृत होता है, ''इन्हीं हड्डियों के बीच लामा थी - बुआ की लडकी जो कुछ महीने रहकर अचानक चली गयी थी .... वह इतना कुछ उन लोगों के लिए छोड गयी थी कि यह सोचना असम्भव लगता कि वह उनके बीच नहीं है ।''[११६]

'एक चिथडा सुख' में मुन्नू को बीती बातों की याद आती है,''और वह स्मृति सफेद पन्ने पर अचानक सबसे अलग हो गयी है, वह अपने में अकेली है समूची दुनिया से अलग, कागज़ पर चिपकी हुई एक तितली की तरह, लेकिन वह मरी हुई तितली है, उडते हुए रंग की निर्जीव लोथ । वह एक तरह का सौदा है .... देखने, मरने और याद करने के बीच । हम स्मृति में उसे पकडते हैं, जो मृत और मुरदा है, जब वह जीवित थी, हम उसे ओझल कर देते हैं भूल जाते हैं ।''[११७] मुन्नू इलाहाबाद से दिल्ली आया हुआ है । बीच बीच में उसे इलाहाबाद की यादें आती हैं - ''बहुत देर तक नींद नहीं आयी, लेकिन वह जाग भी नहीं रहा था, नींद के हाशिए पर घूम रहा था, जहाँ इलाहाबाद की चीज़ें दिल्ली में और दिल्ली की घटनाएँ इलाहाबाद में लेन-देन करती थी; नींद की सीमा पर स्मृतियों की यह स्मग्लिंग उसे हमेशा अजीब जान पडती थी .... न कोई रोकटोक, न कोई सिपाही, न पासपोर्ट की परेशानी; वे एक सरहद से दूसरी सरहद पार करती रहती .... ।''[११८]

'रात का रिपोर्टर' में रिशी पूरे दो महीने बस्तर में बिताकर लौट आता है । उसकी यादों के द्वारा ही इसमें बस्तर का जिक्र किया गया है, ''एक क्षण अजीब-सा भ्रम

---

११५. निर्मल वर्मा - वे दिन, पृ.१४५
११६. निर्मल वर्मा -लाल टीन की छत, पृ.
११७. निर्मल वर्मा - एक चिथडा सुख, पृ.५७
११८. वही, पृ.३१

हुआ कि वह दिल्ली की सडकों पर नहीं, कहीं भूले से बस्तर के जंगल में चला आया है वैसे ही भक भक आग जला करती थी, घोटुल के चारों ओर फैली चाँदनी धुएँ के गुंजल, दूर से ढ़ोलक का धूमिल मादक स्वर चला आता .... ।"[११९]

'अंतिम अरण्य' में मेहरा साहब की पत्नी दीवा मर चुकी है । वह उपन्यास मेंप्रत्यक्षत: नहीं आती । लेकिन पूरे उपन्यास में उसका सान्निध्य है । स्मृति के सहारे ही उसका ज़िक्र किया गया है - "वह मेहरासाहब की दूसरी पत्नी थी, उम्र में उनसे बहुत छोटी । जब मैं पहली बार आया था, तो मैं समझा था कि वह उनकी बेटी है । क्या पता था कि वह पहले से ही एक बेटी की माँ बनकर आयी है ।"[१२०] मेहरा साहब इसमें अपनी पत्नी की याद में विचरते हैं - "जिस औरत के साथ तुम बरसों से रह रहे हो, उसके होने की गंध किसी भी अंधेरे कोने को चीरकर तुम्हारे पास आ जाती है।"[१२१] इस प्रकार निर्मल वर्मा ने स्मृति चित्रों के सहारे भी अपनी अनुभूतियों को पुन:सृजित करने का कार्य किया है । यह उनकी रचनाशैली की खासियत अवश्य है - "मैं शब्दों द्वारा भोगे हुए यथार्थ को नहीं भूले हुए यथार्थ को पुनर्जीवित करना चाहता हूँ ।"[१२२]

भाषा

किसी भी रचना को जीवन्त बनानेवाला तत्व उसकी भाषा है । उपन्यास में भाषा का विशेष महत्व है । क्योंकि उपन्यास जीवन की समग्रता को परिभाषित करनेवाली विधा है । भाषा का परिष्कार एवं परिमार्जन उपन्यासों में और स्पष्ट हो उठा है । प्रेमचन्दकालीन या उससे भी पूर्व के उपन्यासों की भाषा और आधुनिक उपन्यास की भाषा में बहुत बडा अन्तर है । वह अन्तर जीवनानुभव और संवेदन में आए बदलाव से उद्भूत

---

११९. निर्मल वर्मा - रात का रिपोर्टर, पृ.१३१
१२०. निर्मल वर्मा - अंतिम अरण्य, पृ.२५
१२१. वही, पृ.६६
१२२. साक्षात्कार अंक - १९१-१९२. पृ.११

है । आधुनिक उपन्यासकार अपने परिवेश, जीवन-जगत्, अनुभव तथा साहित्यिक दायित्व के प्रति अत्यन्त सजग है । इसीलिए इन रचनाकारों की कृतियों में भाषा एक सशक्त वास्तविकता बनकर सामने आती है । आधुनिक उपन्यासकार समसामायिक परिवेश तथा स्थितियों के भीषण यथार्थ से आक्रान्त मनुष्य की जीवन जटिलताओं को समग्रता एवं सूक्ष्मता के साथ अभिव्यक्त कर सकने योग्य भाषा की तलाश में पूर्ण रूप से संलग्न है । इसलिए उनकी भाषा जीवन्त तथा नएपन से संपन्न है । निर्मल जी की भाषा में यह जीवन्तता तथा नयापन सहज ही वर्तमान है । इसलिए उनकी भाषा का एक अलग संस्कार है । उन्होंने अपनी भाषा द्वारा मानव जीवन के सूक्ष्म से सूक्ष्म सन्दर्भ को भी मूर्त करने का कार्य किया है ।

प्रतीकात्मक भाषा

भाषा में प्रतीकों का प्रयोग रचनाकार की अभिव्यक्ति क्षमता को सूचित करता है । निर्मल वर्मा ने अपनी रचनाओं में इस प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग किया है । 'वे दिन' उपन्यास में युद्ध एक प्रतीक के रूप में आता है । इसका युद्ध उस यथार्थ की ओर इशारा करता है जिसने समस्त मानवीय संबन्धों को खोखला बना दिया था तथा मनुष्य को गहन अन्धकार में धके ल दिया, "वे लोग घरेलू ज़िन्दगी में खप नहीं पाते । जाक ऐसा ही था । जब मैं उसके साथ रहती थी .... मुझे कभी-कभी लगता था, जैसे हम दोनों अब भी किसी कान्सन्ट्रेशन कैम्प में रह रहे हैं .... एक ही घर में । उसके बाहर जाक .... वह जीवित नहीं था .... मैं भी नहीं । हम सिर्फ उसमें रहकर जी सकते थे .... लेकिन मैं नहीं रह सकी । एक दिन मैं बाहर आ गयी .... यह जानते हुए भी कि बाहर मैं किसी काबिल नहीं रह गयी हूँ .... नॉट ईवन फार लव ।"[१२३]

---

१२३. निर्मल वर्मा - वे दिन, पृ.१६३

इसी प्रकार 'रात का रिपोर्टर' में रात भय और आतंक का प्रतीक बनकर उपस्थित होती है । उपन्यास में आदि से अन्त तक आपातकालीन स्थिति तथा उसमें जकडे हुए लेखक की विडम्बनाएँ प्रस्तुत की गयी है, ''क्या ऐसे पहले कभी हुआ था ? क्यों नहीं, चालीस साल की ज़िन्दगी में अँधेरा जीना उतरते हुए, सडक पर चलते हुए, बस की खिडकी से बाहर झाँकते हुए एक साथ भीतर काँच की खिडकियाँ टूटने लगती ।''[१२४]

संकेतात्मक भाषा

कभी कभी ऐसा होता है कि उपन्यासकार सिर्फ संकेत से संवेदना को अभिव्यक्त करता है । 'वे दिन' में इस संकेतात्मक भाषा के कुछ उदाहरण देख सकते हैं, ''अंगुलियाँ खाली थीं - बिना एक भी अंगूठी के; जो एक विवाहित स्त्री के लिए कुछ विचित्र-सा था ।''[१२५] इससे रायना का अपने पति जाक से अलगाव का संकेत मिल जाता है ।

'लाल टीन की छत' में काया का रज:स्वला होना इसी संकेतात्मक भाषा के द्वारा प्रस्तुत किया गया है, और एक भयानक पीडा की लहर मेरी देह को तोडते हुए निकल गयी । मेरे हाथ जाँघों के बीच उस पीडा को खोजने लगे एक लिसलिसा, गर्म, रक्तिम ज्वार, बाहर निकल रहा था, मेरे जाँघिये के भीतर से बहता हुआ, मेरे धूल से सने घुटनों पर चकत्तों की तरह जमा हो रहा था दादू का रस ? अचानक मुझे लगा, मैं हल्की हो गयी हूँ, सबसे मुक्त और स्वच्छ मेरा शहर दब गया था, हमेशा के लिए - और मैं उस पर उगी बसन्त की घास और कीचड में लिथडी बर्फ से अपना खून पोंछ रही थी, मैं घास पर लोट रही थी, मैं हो गयी थी ।'' [१२६]

---

१२४. निर्मल वर्मा - रात का रिपोर्टर, पृ.१०६
१२५. निर्मल वर्मा - वे दिन, पृ.४१
१२६. निर्मल वर्मा - लाल टीन की छत, पृ.१९७
१२७. वही, पृ.५६

गिन्नी की मृत्यु को भी इसमें संकेतात्मक भाषा के द्वारा ही प्रस्तुत किया गया है, ''हुआ कुछ भी नहीं छोटे मैं रेल की पटरी के पीछे खडी थी दूसरी तरफ झाडियाँ थीं और वे हिल रही थीं । मैं ने उन्हें हिलते हुए देखा था । फिर .... फिर मुझे लगा, कोई बुला रहा है, और मैं ने वह बुलाना सुना था ।''[१२७]

'एक चिथडा सुख' में कहीं कहीं पर इस बात का संकेत किया गया है कि जो भी घटनाएँ घट रही हैं वे सब मुन्नू के नोटबुक में एक बार दर्ज की गयी हैं ''किन्तु पुरानी नोटबुक पढ़ते हुए अकसर समय की रील गडबडा जाती है, जो बाद में हुआ था, वह पहले दिखायी देने लगता है और हम दीवार पर भविष्य को उल्टी तरफ से आता हुआ देखते हैं, उन पेडों और खम्बों की तरह जो रेल की खिडकी से विपरीत दिशा में भागते हुए दिखायी देते हैं और हम एक क्षण के लिए भूल जाते हैं कि वे हमारी तरफ नहीं, हम उनकी तरफ जा रहे हैं ।''[१२८] उसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण है, ''मैं अब भी वहाँ खडा हूँ - नोटबुक के ठहरे समय पर एक ठिठका - ठिठुरता हुआ जीव, जो लिखते हुए ऊपर देखता है, तो हर बार दो शक्लें दिखायी दे जाती हैं, एक दूसरे में बँधी हुई मुझे लगता है, वे उस समय तक बँधी रहेंगी, जब तक मैं ऊपर देखता रहूँगा ।''[१२९]

'रात का रिपोर्टर' उपन्यास आपातकालीन स्थिति पर लिखा गया है । लेकिन उसकी भाषा में कहीं भी इस आपातकालीन स्थिति का सीधा चित्रण नहीं हुआ । लेकिन कुछ ऐसे संकेत दिये गए हैं जिनसे पाठक उस परिवेश को समझ सकते है, ''यह मेरी ट्रेनिंग की शुरूआत थी । उसके बाद आपने मुझे राजस्थान भेजा, उडीसा, बिहार .... जहाँ कहीं

---

१२८. निर्मल वर्मा - एक चिथडा सुख, पृ.६१- ६२
१२९. वही, पृ.६३

लोग तकलीफ में थे या सिर्फ यह देखने-लोग कैसे मरते हैं मैंने जो देखा, उसे नोट किया, रिकार्ड बनाया, रिपोर्ट लिखी ।''[१३०]

'अंतिम अरण्य' में मेहरा साहब मौत के इन्तज़ार में हैं । उनका यह धीरे धीरे मृत्यु की तरफ बढना कुछ संकेतों द्वारा प्रस्तुत किया गया है । जैसे - '' मालूम नहीं .... क्या यह इतना आसान है, कोई जीते जी न जीने की तैयारी कर लेता है, जैसे कोई एक दिन किसी लंबी यात्रा पर निकल जाए और घरवाले यही सोचते रह जाएँ कि वह अपने कमरे में लेटा है .... ।''[१३१] लोग अपने जीवन के अन्तिम समय में ही उस पहाडी प्रदेश पर आते हैं । मेहरा साहब, अन्ना जी, निरंजन बाबु, डॉ. सिंह सबकी हालत यही है । 'मैं' के इस कथन से इस बात का संकेत हमें मिल जाता है, ''कभी-कभी मुझे लगता है, इस शहर में लोग जीने नहीं आते .... इंतज़ार करने आते हैं ।''[१३२]

काव्यात्मकता

निर्मल वर्मा मूल रूप से कवि तो नहीं है । फिर भी उनके उपन्यासों में कविता का सा लय दिखायी देता है । स्त्री-पुरुष मिलन को प्राय: सभी रचनाकारों ने खासकर उपन्यासकारों ने चित्रित किया है । लेकिन अधिकांश वर्णन मांसल ही दिखायी देता है । पर निर्मल जी ने जिस स्त्री-पुरुष मिलन का चित्रण किया है वह अनोखा ही नहीं बिलकुल संगीतात्मक एवं काव्यात्मक भी है - ''उसका सिर मेरी तरफ मुड गया । मेरे पास उसका चेहरा था .... पिछले दिनों की पहचान के बाहर । उस 'अज्ञात' ने मुझे आतंकित-सा कर दिया, किन्तु कुछ देर के लिए । फिर वह भय मर गया और अँधेरे में उसकी जगह चमकते मोती की तरह उग आयी - एक मर्मान्तक चाह । एक क्षण के लिए हम दोनों ही उसे देखकर चकाचौंध-से हो गए । उसने हम दोनों को अपने में घसीट लिया - और तब

---

१३०. निर्मल वर्मा - रात का रिपोर्टर, पृ.७६
१३१. निर्मल वर्मा - अंतिम अरण्य, पृ.२३६
१३२ वही, पृ.१९२

मैं चूमने लगा, उसकी बाँहों को, माथे को, बालों को, उसके होंठों को, होंठों के बीच कटकटाते दाँतों को -वही गन्ध थी, जो कल पहाडी पर हवा में बह आयी थी - एक अन्तहीन खुलापन । वह मेरे शरीर को टटोलने लगी और उसे छूने लगी - जो फडफडाहट थी - नंगी सफेद बाँहों के बीच पत्ते की तरह काँपती हुई मुझे पकडे रही एक बहकी आतुर-सी आवाज़ - और तब मुझे लगा, हम उसकी चाह के परे चले गये है उसके पार जाकर एक दूसरे में लौट आये हैं - एक दूसरे के अलगाव को भेदते हुए .... फिर मुझे कुछ सुनायी नहीं दिया - उसकी साँस भी नहीं, सिर्फ एक दबी-घुटी-सी फुसफुसाहट, अँधेरे में मेरी अवश, आतुर अँगुलियों का पीछा करती हुई उस बिन्दु तक, जहाँ भीतर पीडा मर-मर जाती है - समुचे अतीत को अपने साथ खींचते हुए - लगता है, वह मर रही है और हम उसके नीचे दब गये हैं - फिर वह भी नहीं रहता, महज़ एक देह का ज्वार बचा रहता है, दूसरे की देह में अपनी सतह टटोलता हुआ वह भय का अन्तिम छोर था, जहाँ से हम पहली बार एक-दूसरे में शुरू हुए थे उसी में डूब जाने केलिए ।''[१३३]

इसी प्रकार 'लाल टीन की छत' में काया के रजस्वला होने का जो चित्रण किया है उसमें कोई अश्लीलता दिखायी नहीं देती । अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से काव्य की सी लय में इसे प्रस्तुत किया गया है - ''और एक भयानक पीडा की लहर मेरी देह को तोडते हुए निकल गयी । मेरे हाथ जाँघों के बीच उस पीडा को खोजने लगे । एक लिसलिसा, गर्म, रक्तिम, ज्वार बाहर निकल रहा था, मेरे जाँघिये के भीतर से बहता हुआ, मेरे धूल से सने घुटनों पर चकत्तों की तरह जमा हो रहा था .... दादू का रस ? मुझे लगा, झाडियों के पीछे से कोई हँसते हुए फुसफुसा रहा है - और मैं झपटकर अपने लाल, लिसलिसे हाथों को घास से पोंछने लगी, और तब मुझे खयाल आया कि यही घास और झाडियों के बीच गिन्नी का खून छिटका होगा .... फिर मुझे वह पत्थर दिखायी दिया - और मैं ठहर गयी ।

---

१३३. निर्मल वर्मा - वे दिन, पृ.१६३-१६४

अचानक मुझे लगा मैं हल्की हो गयी हूँ, सबसे मुक्त और स्वच्छ मेरा शहर दब गया था, हमेशा के लिए - और मैं उस पर उगी बसन्त की घास और कीचड में लिथडी बर्फ से अपना खून पोंछ रही थी, मैं घास पर लोट रही थी, मैं हो गयी थी । मैं ईश्वर के पास पहुँचकर उसके परे निकल गयी थी .... ।''[१३४]

'अंतिम अरण्य' में मृत्यु का चित्रण इसी काव्यात्मकता के साथ किया गया है । इसके कारण इसमें मृत्यु एक राग के समान संपूर्ण उपन्यास में विद्यमान रहती है । जैसे - ''मालुम नहीं क्या यह इतना आसान है, कोई जीते जी न जीने की तैयारी कर लेता है, जैसे कोई एक दिन किसी लंबी यात्रा पर निकल जाए और घरवाले यही सोचते रह जाए कि वह अपने कमरे में लेटा है ।''[१३५] '' मैं अब तक उनकी मृत्यु से डरता हुआ आया था, तब क्या मालुम था कि मनुष्य की असली यात्रा मृत्यु से पहले शुरु होती है, जब वह जीने की पक्की सडक छोडकर किसी अनजानी पगडंडी की ओर मुड जाता है, जो जीने और मृत्यु से अलग किसी और दिशा की ओर जाती है ।''[१३६] इस प्रकार मृत्यु को काव्यात्मक भाषा में अभिव्यक्ति मिली है ।

चित्रात्मकता

निर्मल वर्मा ने कहीं कहीं पर चित्रात्मक भाषा के सहारे शब्दों में चित्रों की अभिव्यक्ति की है । यह विशेषकर किसी मौसम, वातरवरण या प्रकृति के चित्रण के लिए हुआ है, ''एक बूढी स्त्री लम्बी झाडु से फुटपाथ की कीचड साफ कर रही थी । पास ही कूडागाडी थी, जिस पर रद्दी कागज़, कीचड में लिथडे पत्ते और चीथडे जमा थे, जब हवा

---

१३४. निर्मल वर्मा - लाल टीन की छत. पृ.१९७
१३५. निर्मल वर्मा -अंतिम अरण्य, पृ.२३६
१३६. वही, पृ.२१७

चलती, कागज़ों के टुकडे नीचे गिर जाते और उन पक्षियों की तरह, जिन्हें अभी-अभी पिंजरे से मुक्त किया हो, वे झिझकते हुए खाली सडक पर धीरे-धीरे उडने लगते ।''[१३७]

'लाल टीन की छत' में ''दिन बुझने लगे । सूरज कहीं दिखायी न देता था । कुछ घण्टों के लिए एक पीली छाया शहर पर उतर आती - न पूरा अंधेरा न पूरी रोशनी एक कमज़ोर सा झिलमिला हवा में तैरता रहता । कहीं-कहीं भूरी-सफेद जोंकें दिखायी दे जाती थी - पत्थरों पर चिपटकर आकाश ताकती हुई । दूर से देखने पर लगता जैसे कोढ के निशान पत्थरों पर निकल आये हों - स्थिर, सफेद, एक जगह चिपके हुए ।''[१३८]शाम के वातावरण का चित्रांकन यहाँ हुआ है ।

'वे दिन' में'मैं' और रायना के बीच का रागात्मक संबन्ध इस चित्रात्मकता के कारण ज्यादा निखरा हुआ है - ''फिर वह भय मर गया और अँधेरे में उसकी जगह चमकते मोती की तरह उग आयी - एक मर्मान्तक चाह ।''[१३९]

'रात का रिपोर्टर' में यह भाषा कोई रहस्यमयता ली हुई खडी है । फिर भी उसमें चित्रात्मकता देख सकते हैं - ''खाली मकान में कितनी आवाज़ें सुनायी देती हैं । कभी कभी पता भी नहीं चलता, कौन सी आवाज़ किस कोटर में छिपकली की तरह सोई थी और अब अचानक किस कमरे से लपक आयी है ?''[१४०]

शब्दात्मकता

चित्रात्मकता के अलावा या कभी उसके साथ साथ इन उपन्यासों की भाषा में शब्दात्मकता भी दिखायी देती हैं । कहीं कहीं पर भावों के साथ शब्दों की उपस्थिति भी रहती है, ''सामने खिडकी थी - शीशों पर कुहरा जम गया था । मैं ने रुमाल निकाला ।

---

१३७. निर्मल वर्मा - वे दिन, पृ.१२५
१३८. निर्मल वर्मा - लाल टीन की छत, पृ.१३८
१३९. निर्मल वर्मा - वे दिन, पृ.१६३
१४०. निर्मल वर्मा - रात का रिपोर्टर, पृ.२७

फिर उसे आँखों पर दबाकर मेज़ पर सिर टिका लिया । मैं देर तक ठिठुरता रहा । कमरे की अँगीठी में लकडियाँ पडी थीं - सूखी अधजली । रोशनदान में फँसा पुराना अखबार बार-बार कांपने लगता था जैसे कोई पक्षी उड़ने के लिए बार-बार पंख फडफडाता हो - और फिर असहाय-सा बैठ जाता हो ।''[१४१]

'लाल टीन की छत' के निशब्ध वीरान वातावरण में जो शब्द मयता है, जैसे - ''दिन-भर जा पत्ते (वह अक्तूबर का महीना था) और सूखी टहनियों के टुकडे छत पर गिर जाते उसकी आवाज़ सुनते हुए भी वे उसे अनसुना कर देते थे, क्योंकि सुनने और बाट जोहने के बीच उनका अपना एक शोर था - पहाडी शहर का निस्तब्ध शोर - जिसका पीछा वे शिकारी कुत्तों की तरह करते थे उनमें अपनी स्मृति की गन्ध टोहते हुए .... ।''[१४२]

'रात का रिपोर्टर' में इस शब्दातमकता के कारण आतंक कुछ गहरे रूप में अभिव्यक्त हुआ है । ''जब वह ऊपर आया, तो देखा, फोन की घंटी बज रही है । माँ ने भयभीत आँखों से उसे देखा, पता नहीं, खाली घर में वह कितनी बार सूने कमरे में चिंघाडती रही है । जब वह दौडता हुआ उसे उठाने पहूँचा, तो वह अचानक चुप हो गया । कुछ देर तक तीनों चुप रहे - वह, माँ और टेलिफोन, जैसे तीनों एक दूसरे की प्रतीक्षा कर रहे हों ।''[१४३]

इस प्रकार देखे तो निर्मल वर्मा की भाषा सचमुच जीवन्तता का पर्याय है । बाहरी एवं भीतरी दुनिया के बीच के तनाव को तालमेल के साथ प्रस्तुत करने की क्षमता बिलकुल सराहनीय है । आधुनिक जीवन की ऊब, घुटन एवं शून्यता को सहजता के साथ चित्रित करने की क्षमता निर्मल जी की भाषा क्षमता को प्रमाणित करती है । ''आधुनिक

---

१४१. निर्मल वर्मा - वे दिन, पृ.७
१४२. निर्मल वर्मा - लाल टीन की छत, पृ.१३
१४३. निर्मल वर्मा - रात का रिपोर्टर, पृ.७०

जीवन की घटनाविहीन निरर्थकता, भावशून्यता और फीकेपन को उनकी भाषा बिना किसी उत्तेजना के व्यक्त कर सकती है ।''[१४४]

ज़ाहिर है कि निर्मल वर्मा ने अपने उपन्यासों के द्वारा अपने समय के जीवन को समझने और समझाने का कार्य किया है । नए जीवन सत्य की अभिव्यक्ति के लिए भावनात्मक धरातल को छोडकर बौद्धिक थल को ही अपनाया है एतर्थ नए शिल्प को भी । इसलिए उनके उपन्यासों में कथ्य और शिल्प का ऐसा फ्यूज़न हुआ है कि उन्हें अलग अलग करके देखना मुश्किल हो जाता है । इस प्रकार निर्मल वर्मा निस्सन्देह आधुनिक जीवन के नए यथार्थ को तलाशनेवाले तथा आधुनिक मानव के अंतरंग सत्य को दार्शनिक गहराई के साथ अनावृत करनेवाले कलाकारों की पंक्ति में अग्रणी ठहरते हैं ।

१४४. नेमीचन्द्र जैन - अधूरे साक्षात्कार,पृ.१५४

तीसरा अध्यास

निर्मल वर्मा का कथासाहित्य : कहानी

कहानी की विरासत

हिन्दी में ही नहीं विश्व की तमाम समृद्ध भाषाओं मेंकथासाहित्य को गंभीर साहित्यिक विधा की प्रतिष्ठा मिले बहुत दिन नहीं बीते । कथासाहित्य में उपन्यास को अपेक्षाकृत जल्दी ही स्वीकार कर लिया गया था । पश्चिमी देशों में उन्नीसवीं शती में उपन्यास को ही खास प्रतिष्ठा मिली थी पर कहानी को इस स्वीकृति के लिए बीसवीं शती की बाट जोहनी पडी है । हिन्दी में तो कहानी का जन्म बीसवीं शती की ही घटना लगती है । पर राजेन्द्रयादव के मत में- "मैं कहानी को आदिविधा मानता हूँ वह गद्य में लिखी गयी हो या पद्य में या इससे भी पहले संकेतों में ।"[१] इससे कथा की प्राचीनता स्पष्ट हो उठती है । साथ ही यह हकीकत भी खुल जाती है कि कहानी एक ऐसी विधा है जो मानव जीवन के बिलकुल निकट है । क्योंकि उसमें मानवीय संवेदनाओं को बडी ही सहजता के साथ आत्मसात करने तथा संप्रेषित करने की क्षमता रहती है, "कहानी ही एक ऐसी विधा है, जो बडी सहजता और आडम्बरहीनता से अपने समय के भावात्मक और विचारात्मक विविधता को प्रस्तुत करती चलती है ।"[२]

आधुनिक हिन्दी कहानी की शुरुआत बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में सरस्वती पत्रिका से मानी जाती है । 'रानी केतकी की कहानी' (इंशा अल्ला खाँ), 'ग्यारह वर्ष का समय' (रामचन्द्र शुक्ल), 'एक टोकरी भर मिट्टी' (माधवप्रसाद सप्रे), 'दुलाईवाली' (बंग महिला) आदि कुछ ऐसी कहानियाँ हैं जिन्होंने हिन्दी कहानी के प्रथम दौर को चिरस्मरणीय बना दिया था । लेकिन बीसवीं शताब्दी का प्रथम दशक आधुनिक कहानी के लिए एक प्रकार का प्रयोग काल था । इस दशक की कहानियों के कथ्य एवं शिल्प की अपनी सीमाएँ थी । वे कहानियाँ प्राय: प्रेम तथा मनोरंजन प्रधान, पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक एवं उपदेशात्मक रही हैं ।

---

१. राजेन्द्र यादव - *कहानी: स्वरूप और संवेदना*, पृ.८

२. कमलेश्वर - नयी कहानी की भूमिका, पृ.२९

दूसरे दौर में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, प्रेमचन्द जैसे कथाकारों का प्रवेश होता है । उन्होंने इस विधा को और अधिक निखार देने का प्रयास किया है । प्रेमचन्द की 'पंच परमेश्वर', 'बडे घर की बेटी', 'नमक का दरोगा' जैसी कहानियाँ उनके सुधारवादी दृष्टिकोण की झलक देनेवाली हैं । इस दौर की कहानियों में अपने समय का विश्वास, रीति-रिवाज़, मानसिकता आदि अभिव्यक्त हुए हैं ।

हिन्दी कहानी के तीसरे दौर में दो प्रकार की अभिव्यक्ति पद्धतियाँ दिखाई देती हैं । एक प्रेमचन्द परंपरा का विस्तार है जो समसामयिक सामाजिक जीवन यथार्थ की विसंगतियों को अपने में समेटते हुए आगे बढ़नेवाली सामाजिक धारा की कहानियों की है । यशपाल, रांगेयराघव, नागार्जुन आदि से होकर इस धारा ने विस्तार पाया है । इसके समानान्तर ही मनोवैज्ञानिक कहानियों की धारा भी सक्रिय रही है । जैनेन्द्र कुमार, इलाचन्द्र जोशी जैसे कहानीकारों ने व्यक्ति मन के अंतरंग यथार्थ को अभिव्यक्त करने का कार्य किया था । इस धारा ने हिन्दी कहानी की अभिव्यक्ति पद्धति में क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित किया । गोया कि प्रयोगवादी, मनोविज्ञानवादी कहानियों तक आते आते हिन्दी कहानी अपने कथ्य एवं शिल्प के स्तर पर काफी विकास पा चुकी थी । अत: स्वाधीनता प्राप्ति तथा उसके उपरान्त के भीषण सामाजिक यथार्थ से उभरी नई संवेदना का वहन करने की क्षमता उसमें आ गयी थी । उस नई संवेदना को संप्रेषित करते हुए हिन्दी कहानी ने जो नया मोड़ लिया था वह है नयी कहानी ।

नयी कहानी की पृष्ठभूमि

सन् १९०० तक आते-आते संपूर्ण भारतीय वातावरण एक प्रकार के विघटन की स्थिति से गुज़रने लगा । स्वतंत्रता के बाद राजनीतिक, सामाजिक एवं बौद्धिक स्तर पर मोहभंग की स्थिति छा गयी जिससे मानव जीवन एक बहुत बडी त्रासदी लगने लगा । साहित्य और समाज एक दूसरे पर आश्रित हैं । इसलिए प्रत्येक साहित्य में अपने समय

की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक यथार्थों का समावेश अवश्य होता है । नयी कहानी के रुपायन के पीछे भी बहुत सारे तत्वों की भूमिका रही है । स्वतंत्रता प्राप्ति के दौर में देश भर में आशा-आकांक्षा की लहरें दौडीं । युगों से जनमानस में संचित स्वप्नों के वास्तविक होने की आशा से देश व्याकुल हो उठा । जवहरलाल नेहरू के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपना उद्देश्य समाजवादी समाज की स्थापना निर्धारित किया । समाजवादी देशों की ही पद्धति पर पंचवर्षीय योजनाएँ आरम्भ हुई । भारत जैसे पिछडे देश के लिए आम चुनाओं के सामाजिक निहितार्थ वस्तुत: युगान्तकारी सिद्ध हुआ । वर्ण-व्यवस्था से जर्जर और आर्थिक दृष्टि से पिछडे व अशिक्षित जनसमूहवाले देश में वयस्क मताधिकार का अर्थ यह हुआ कि बडे-बडे लोगों, उच्छपदस्थ अधिकारियों, स्त्रियों, अवर्णों - सबको राजनीती की दृष्टि से मतदान का समान अधिकार । इस प्रकार शताब्दियों से दलित-पीडित जनता को स्वयं शासन में सहभागी होने का बोध प्राप्त हुआ । शिक्षा का प्रसार भी जनसाधारण तक पहुँचने लगा । लेकिन इस विकास में जटिलता और परस्पर विरोधिता दिखायी देती है । एक ओर जनता में विकसित राजनीतिक चेतना, बृहत्तर जीवन जीने की आकांक्षा, समानता, स्वातन्त्र्य और ईमानदार सामाजिक जीवन की माँग बढ़ी तो दूसरी ओर अधिक सुविधाएँ और बेहतर ज़िन्दगी को आसानी से प्राप्त करने के अवसर मिल जाने के कारण त्याग, संयम, देशहित और सामाजिकता की भावना पहले की जैसी नहीं रह गयी थी । स्वाधीनता आन्दोलन के समय देश के राष्ट्रीय जीवन में जिस सदाचार और उच्चता की लहरें दौड़ रही थीं; वे क्रमश: लुप्त होती रहीं । देश के निम्न और मध्यवर्ग की स्थिति में कोई कारगर परिवर्तन नहीं हुआ । लेकिन उच्चवर्ग की स्थिति और अधिक समृद्ध होती रही ।

स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ भारत-पाकिस्तान विभाजन हुआ । उससे हुए दंगों, हत्याओं, आगजनी आदि के कारण बहुतों के घर-बार छूटे, देश छूटा सबकुछ अस्तव्यस्त हो गया । सांप्रदायिकता की आग झुलसती रही । अमानवीय वृत्तियों का अन्तहीन

सिलसिला जारी रहा, "विभाजन के ऐन वक्त पर और उसके बाद जो नरसंहार हुआ वह भारतीय इतिहास की ही नहीं, विश्व इतिहास की एक करुण त्रासद घटना है ।"[३] लाखों संख्या में लोग विस्थापित हो गए । उनके पुनरधिवास की कोई व्यवस्था इन आन्दोलनकर्ताओं ने नहीं की । नैराश्य की एक विचित्र स्थिति पूरे भारतीय में छा गयी । विश्व युद्धों के उपरान्त समूचे पाश्चात्य जगत् में जो अनिश्चितता की स्थिति उत्पन्न हुई थी वैसी ही स्थिति भारत में छा गयी, "लोगों में असुरक्षा का भाव पैदा हो रहा था ।"[४] देश विभाजन की इस विभीषिका के कारण लोग शरणार्थी बनने लगे । अपने ही देश में विस्थापित एवं शरणार्थी बनने की त्रासदी को भोगना पडा, "उस भयंकर रक्तपात के बीच आन्तरिक रूप से एक विघटन समा गया, जो कहीं हमें हमारे दिमागों और दिलों में शरणार्थी बनाता चला गया । आज़ाद होते ही व्यक्ति अपने आप में शरणार्थी होता चला गया ।"[५] इस प्रकार देश, समाज एवं आस्थाओं के टूटने के कारण निराश एवं कुण्ठाग्रस्त नयी पीढ़ी आश्रयहीन होकर भटकने लगी ।

सचमुच यह गहन संकट का समय था । एक ओर यह मानवराशि के वर्तमान और भविष्य के संकट का समय था तो दूसरी ओर रचनाकारों के लिए अभिव्यक्ति- संकट का । इस संकटापन्न स्थिति में जीवन यथार्थ का वहन करने की क्षमता पुरानी रचना पद्धतियों में या पुराने रचनाकारों में नहीं थी । क्योंकि मनुष्य की समस्याएँ बदल गयीं। नई उभरी हुई समस्याओं के सामने पुराने रचनाकार अपनी परंपरावादी दृष्टि के कारण सशंकित हैं । वे अपनी लीक से हटने के लिए तैयार नहीं थे । वे इन नयी समस्याओं और नये प्रश्नों से अलग रहने की कोशिश करते रहे। इसलिए इनकी रचनाओं में अपने समय की समस्याएँ एवं प्रश्न अनुत्तरित ही रह गए । नयी पीढ़ी की संवेदना बदल गयी । उस नई संवेदना की अभिव्यक्ति से वंचित कहानी जनता से दूर रह गयी । क्योंकि इन कहानियों में वह सबकुछ

---

३. नरेन्द्र मोहन - सिक्का बदल गया, पृ.१६
४. वही, पृ.१८
५. कमलेश्वर - नयी कहानी की भूमिका, पृ.१०

नहीं था जो नया पाठक चाहता है । वे कहानियों में समस्याओं और उसके समाधानों को दोहराते चले जा रहे थे । दरअसल पुराने रचनाकारों की सृजनात्मक ऊर्जा सूखती जा रही थी और उनका पाठक समुदाय भी तेज़ी से क्षीण होता चला जा रहा था । इस प्रकार संपूर्ण रचनाक्षेत्र में एक प्रकार के परिवर्तन की चाह उमड़ रही थी । उस ऐन मौके पर ऐसे कहानीकार उभरकर सामने आए जो ज़िन्दगी की इस नई विलक्षण सच्चाई से उभरी संवेदना को संप्रेषित करने में सक्षम थे । "कितना विलक्षण सत्य था वह कि उसी समय अलग अलग जगहों पर अपनी ज़िन्दगी को झेलते भारतीय मध्यवर्ग के युवक लेखक अपने और अपने समय के सत्य को रू-ब-रू देखकर साहित्यिक अभिव्यक्ति दे रहे थे । और इस बदली जीवन दृष्टि की सर्जनात्मक प्रतिभा की रचना को नयी कहानी नाम मिला ।"[६] इस प्रकार नई संवेदना की संवाहक नयी कहानी का जन्म हुआ ।

सन् १९५५ में 'कल्पना' में दुष्यन्तकुमार का लेख 'नयी कहानी प्रयोग और परंपरा' प्रकाशित हुआ । इसी लेख में इस परिवर्तित जीवनबोध की कहानी को सर्वप्रथम नयी कहानी नाम से अभिहित किया गया था । इसके पूर्व यद्यपि कहानी के परिवर्तित दिशाबोध की चर्चा होती रही थी पर कहानी को 'नयी' संज्ञा से अभिहित नहीं किया गया था । सन् १९५६ तक आते आते कहानी की स्थिति और भी स्पष्ट होने लगी है । 'कहानी', 'कल्पना', 'विनोद', 'लहर', 'ज्ञानोदय', 'नई कहानियाँ' जैसी पत्रिकाओं ने नयी कहानी की परिचर्चा में और उसके उन्मेष को बढ़ाने में पर्याप्त योग दिया । कथागोष्ठियों और कथा समारोहों ने भी इसको काफी प्रचार देने का कार्य किया है । नयी कहानी ने जीवन को झेलनेवाले मनुष्य को अपना केन्द्र बनाया । इस प्रकार आधुनिक मनुष्य के नए जीवन यथार्थ की पीड़ा का अनुभव करानेवाली कहानी पहली बार साहित्यिक जगत् में अवतरित हुई ।

---

६. कमलेश्वर - नयी कहानी की भूमिका, पृ.५

नयी कहानी का परिवेश

नयी कहानी का जन्म जिस संक्रान्त परिस्थति में हुआ उस समय मनुष्य की स्थिति अत्यन्त त्रासदायक थी । अपनी त्रासद ज़िन्दगी झेलनेवाला मनुष्य अपने आप से तथा संपूर्ण समाज से कट गया । शनै: शनै: वह अकेला बन गया । पारिवेशिक भयावहता की उपज है यह अकेलापन । व्यक्ति-व्यक्ति के संबन्धों में दरार आ गयी है । वैयक्तिक पारिवारिक सामाजिक संबन्ध शिथिल होने लगे । आधुनिक मनुष्य अपने को शिथिल विघटित एवं बिखरे हुए मानवीय संबन्धों के खण्डहर के बीचोंबीच खडा हुआ महसूस करता है । इस प्रकार युग यथार्थ के प्रत्यक्षीकरण से उभरी नयी कहानी दरअसल संबन्धों के टूटने की कहानी है, "सारे संबन्धों से टूटा हुआ व्यक्ति अधिक से अधिक अकेला और अजनबी होता चला जाता है, पिछली पीढ़ी के प्रति अविश्वास घृणा और आपस में अपरिचय ।"[७]

इस प्रकार आधुनिक परिवेश, पाश्चात्य सभ्यता, वैज्ञानिक प्रगति तथा भौतिक उन्नति ने आधुनिक मनुष्य की बहुत सारी मान्यताओं को ध्वस्त कर डाला । भारतीय जनता को स्वतंत्रता के साथ विभाजन की त्रासदी भी झेलनी पडी । स्वतंत्रता ने उसे नया आतंक, भय, संशय और अविश्वास प्रदान किया । विभाजन में हुए भायानक नरमेध के कारण उसके भीतर एक ऐसा आतंक प्रवेश कर गया था कि उसका रहा सहा साहस और विश्वास भी टूटने लगा । सभी आदर्श उसे खोखले और निरर्थक लगने लगे । स्वतंत्रता के उपरान्त प्रजातन्त्र तो स्थापित ही हो गया, किन्तु प्रजा अभी भी परतन्त्र है । आधुनिक मनुष्य के अकेलेपन की पृष्ठभूमि इसी प्रकार विकसित हुई है । उसने मनुष्य को अवसन्न चित्त बना दिया । वह भीतर ही भीतर गहन असन्तोष से क्षुब्ध है । वर्तमान असंगति ने उसके असन्तोष को और अधिक गहरा दिया । स्वार्थ, आपाधापी, लूट-खसोट, मार-काट सब कहीं वर्तमान है । इन सबसे दूर रहने का प्रयत्न वह करता है, पर सब कहीं उसका ही

---

७. राजेन्द्र यादव - एक दुनिया समानान्तर, पृ.३१

ताण्डव हो रहा है । इस प्रयत्न में वह धीरे-धीरे अन्तर्मुखी बन जाता है । वह महसूस करता है कि उसकी ज़िन्दगी रिक्त हो गयी है । किन्तु इस रिक्तता में भी वह कभी शान्त रह नही पाता । वह इस विसंगति से संघर्ष करता है । किन्तु हमेशा उसे पराजित होना ही पडता है । यह पराजय उसे अशान्त और बेचैन होकर ज़िन्दा रहने के लिए विवश करता है, ''आज व्यक्ति अपने देश से, समाज से, परिवार से रिश्तेदारों से यहाँ तक कि अपने आप से भी कटकर चलने के लिए बाध्य है । उसे जीवन को बोझ समझकर उठाना होता है । एक क्षण का सार्थक जीवन पाने के लिए उसे सौ बार मृत्यु को वरण करना होता है ।''[८]

इस प्रकार अपने आप से कटा हुआ व्यक्ति संबन्धों के दायरे में कभी भी अपने आपको सीमित नहीं रख पाता । कभी-कभी उसे अपनी ज़िन्दगी से समझौता करना पड़ता है । नहीं तो सडी गली परंपराओं एवं रूढ़ियों की आड़ में उसे अपने स्वाभिमान को खो देना पड़ता है । वह किसी पर विश्वास नहीं करता । वह ज़िन्दगी से पलायन करना चाहता है । वह अपने सगे-संबन्धियों दोस्तों तथा अपने आप से भी छल करता है । इनके लिए माता-पिता, भाई-बहन , पति-पत्नी, बच्चे जैसे सारे संबन्ध खोखले बन गये हैं । इन संबन्धों में पहले जिस आत्मीयता की तपिश महसूस होती थी वह खत्म हो चुकी है । अब इसके स्थान पर एक प्रकार का ठंडापन महसूस होता है । इसलिए आधुनिक मनुष्य उस पर सन्देह करता है । पुराने संबन्धों के प्रति कोई लगाव नहीं है, ''परिवार के साारे सदस्य एक दूसरे से औपचारिक बन्धनों से बन्धे हैं । उसका एक चहारदीवारी से जुडे होना ही उनके संबन्धों का द्योतक है । अन्यथा वे एकदम अलग-थलग है; प्रत्येक सिर्फ अपने आप तक सीमित ।''[९]

कुबेरनाथ राय ने आधुनिक मनुष्य की आश्रयहीनता एवं अकेलेपन की त्रासद स्थिति

---

८. *गंगा प्रसाद विमल - आधुनिक हिन्दी कहानी*, पृ.७७

९. वही, पृ.७९

पर टिप्पणी करते हुए कहा, "विगत महायुद्धों की विनाश लीला एवं विगत क्रान्तियों की असफलता ने ईश्वर के अतिरिक्त उन मूल्यों को भी धराशायी कर दिया जो मानववाद के द्वारा 'पुनर्जागरणकाल' एवं १८ वीं शती के बुद्धिप्रधान युग में प्रतिष्ठित किए गए थे । अब मनुष्य बिना आधार के शून्य में त्रिशंकु की तरह लटका हुआ है ।"[१०] आधुनिक मनुष्य त्रिशंकु के समान विश्वास और अविश्वास के बीचों बीच लटका हुआ है ।

जाहिर है कि नयी कहानी आधुनिक मनुष्य के नए यथार्थ के संप्रेषण का शाश्वत माध्यम है । उसने आधुनिक परिवेश में जीने के लिए संघर्षरत आधुनिक मनुष्य के जीवन यथार्थ के विभिन्न पहलुओं को अपने में समाहित किया है । यह पूर्ववर्ती चेतना से बिलकुल भिन्न है । इसलिए इसके यथार्थ की अपनी नवीनता है । उसकी प्रवृत्तियाँ भिन्न हैं ।

नयी कहानी की प्रवृत्तियाँ

यथार्थ का चित्रण -

नयी कहानी अपनी पूर्ववर्ती किस्सागोई की प्रवृत्ति से ऊपर उठकर युग यथार्थ की ठोस वास्तविकता पर टिकी हुई है । वह आदमी के बनते-बिगडते संबन्धों के यथार्थ को उसकी एतिहासिक पृष्ठभूमि में द्वन्द्वात्मक सन्दर्भ में प्रस्तुत करती है, "नयी कहानी कलागत यथार्थता या वास्तविक यथातथ्य वर्णन को तरजीह नहीं देती वह इतिहास के विकास क्र म में जीते हुए और द्वन्द्वात्मक रूप से प्रभावित होते हुए आदमी के टूटने-बनने के यथार्थ को अपना स्रोत मानती है ।"[११] पूर्ववर्ती कहानियों की अपेक्षा नयी कहानी का यथार्थ काफी जटिल है । क्योंकि आधुनिक मनुष्य जटिल यथार्थों का सामना कर रहा है, "पिछली कहानी की तुलना में आज का कहानीकार अधिक जटिल यथार्थ को अभिव्यक्त

---

१०. कुबेरनाथ राय - विषादयोग, पृ.१४२
११. कमलेश्वर - नयी कहानी की भुमिका, पृ.८३

करता है ।"[१२] इस युग के मध्यवर्ग की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी । निम्नवर्ग आगे बढ़ रहा था । देश की नियति उच्चवर्ग के हाथों में थी । इस समय मध्यवर्ग ही एक ऐसा वर्ग था जिसका निरन्तर ह्रास होता जा रहा था । उसके मन में ऊँची ऊँची आकांक्षाएँ थीं; बडे बडे सपने थे जिनको साकार पाने के संघर्ष में वे कभी सफल नहीं हो पाए । यांत्रिक सभ्यता के कारण इन लोगों की दैनिक आवश्यकताएँ बढ़ती ही जा रही थी । आर्थिक विपन्नता ने भी उसे बुरी तरह से जकड लिया था । नये समाज की समस्याएँ भी अनगिनत थीं जिनका कोई समाधान भी नहीं दीखता था । इस दुविधात्मक स्थिति का चित्रण नयी कहानी में हुआ है । इस प्रकार के विशाल अनुभव क्षेत्र को समेट लेने की वजह से परवर्ती कहानियों में इतनी जटिलता आ गयी है ।

जीवन की निराशा एवं निरर्थकता को चित्रित करने की जो तीव्र आकांक्षा इन नये कहानीकारों में दिखायी पडती है, वह जीवन की जटिलता की सही पहचान का परिणाम है । नयी परिस्थिति के जीवन संघर्षों में उसने जीवन को निरर्थक पाया । मोहभंग ने उसे आस्थाहीन बना दिया । सभी विचारधाराएँ उसे खोखले लगने लगी । उसने प्रत्येक संबन्धों पर प्रश्नचिह्न लगाए । इस प्रकार एक ध्वंस के उपरान्त के समाज के चित्रण में यथार्थ का प्रस्तुतीकरण अत्यन्त अनिवार्य है । यथार्थ का मतलब प्रगतिवादी यथार्थ नहीं । नयी कहानी का यथार्थ उससे बिलकुल भिन्न तथा स्थूल यथार्थ के बीचों बीच कही छिपी हुई मानवीय त्रासदी का यथार्थ है जिसकी अभिव्यक्ति पद्धति भिन्न है । यह भिन्नता ही नयी कहानी को पुरानी कहानी से अलग करनेवाला तत्व है ।

निर्मल वर्मा ने इस यथार्थ संबन्धी अपनी मान्यता यों व्यक्त की है, "जब कोई कहानी में यथार्थ की चर्चा करता है, तो हमेशा दुविधा होती है - वह एक पक्षी की तरह झाडी में छिपा रहता है उसे वहाँ से जीवित निकाल पाना उतना ही दुर्लभ है, जितना उसके बारे में कुछ कह पाना, जब तक वह वहाँ छिपा है । अंग्रेज़ी में एक मुहावरा है - 'बीटिंग

---

१२. देवीशंकर अवस्थी - नयी कहानी सन्दर्भ और प्रकृति, पृ.११८-११९

एबाउट दि बुश', कहानीकार सिर्फ यही कर सकता है - उससे अधिक कुछ करना असंभव है । तुम अगर झाडी पर ज़्यादा प्रभाव डालोगे तो वह मर जाएगा, या उड जाएगा, हम सिर्फ प्रतीक्षा कर सकते हैं; कभी-कभार झाडी को इधर-उधर कुरेद सकते हैं - किसी अंजाने क्षण में जब वह हमारे प्रति उदासीन हो, उससे संपृक्त हो सकते हैं - लेकिन हमेशा बाहर से । यह अभिशाप हर उस लेखक के लिए है जो कलाकार भी है । जो सही माने में यथार्थवादी है, उसके लिए यथार्थ हमेशा 'झाडी' में छिपा रहता है ।''[१३]

अनुभव की प्रामाणिकता

नयी कहानी की और एक विशेषता है - प्रामाणिक अनुभूतियों का संप्रेषण । जीवन के अनुभव भिन्न होते हैं । उन वैविध्यपूर्ण अनुभवों को अनुभूति में बदलकर संप्रेषित करनेवाली है नयी कहानी । हर लेखक के अपने अपने अनुभव क्षेत्र होते हैं । उन्हीं की प्रामाणिक अभिव्यक्ति वे अपनी कहानियों में करते हैं । उसमें लेखक का अनुभव मात्र नहीं औरों के अनुभव भी आ जाते हैं । लेकिन सच्चे लेखक उन अनुभवों को अनुभूति के स्तर तक ले जाकर ही रचनात्मक स्वरूप देते है, ''अनुभव के आवेश तथा आक्रोश होते हैं - अनुभूति उसे संयमित करके स्थितियों के प्रति तटस्थ बने रहने की क्षमता प्रदान करती है । किसी भी रचना के प्रभावशाली बन सकने की पहली शर्त है कि अनुभव को वहाँ किस हद तक सफलतापूर्वक अनुभूति में बदला जा सकता है ।''[१४] लेखक के अनुभव सापेक्ष्य हैं, ''अनुभव की प्रामाणिकता कोई निरपेक्ष स्थिति नहीं है । वह समय-सापेक्ष अनुभव की सच्चाई है ।''[१५]

प्रामाणिकता के कारण नये लेखक किसी भी प्रकार के आरोपित तथ्यों मतवादों, कल्पनाओं, अपरिचित प्रसंगों या किसी दूसरों को यों ही स्वीकार नहीं करते । सदियों से कहानी पर लगाए गए लाँछन को दूर करने का प्रयत्न उन्होंने किया है । आज के लेखक

---

१३. निर्मल वर्मा - हर बारिश में, पृ.४७
१४. मधुरेश - सिलसिला, पृ.९
१५. कमलेश्वर - नयी कहानी की भूमिका, पृ.१२७

कहानी को मानव सत्य के संप्रेषण का सशक्त माध्वम बनाने का कार्य करते हैं, ''कहानी को झूठ की नियति से निकालकर सच्चाई के व्यक्तित्व में परिवर्तित कर सकने की कोशिश ही इस बात का सबूत है कि अब लेखक अप्रामाणिक अनुभव को तरजीह नहीं देता ।''[१६] इसलिए प्रामाणिकता एक ऐसा तत्व है जो कहानी को अपनी परंपरा से अलगाता है । अलगाव का मतलब परंपरा से कट जाना नहीं बल्कि संशोधन के साथ परंपरा के ठोस धरातल पर खडे होकर नए को स्वीकारने की दृष्टि है । यही विद्रोह का स्वर नयी कहानी में दिखायी देता है । कहानी के कथ्य के चुनाव की यह विद्रोह-दृष्टि ही नयी कहानी को पुरानी से अलगाती है । नयी कहानी के उदय के समय लेखक अपने परिवेश से निरपेक्ष होकर व्यक्तिगत कुंठा, अहंग्रस्त वैयक्तिकता और सुविधा की दृष्टि से कथ्य का चुनाव करते थे । इसलिए व्यक्ति की सीमा कथासाहित्य की सीमा बन गयी थी । तब से लेकर अब तक कहानी का यह बदलाव बेशक सराहनीय रहा है । आज नयी कहानी का जो कथ्य है, वह कहीं व्यंग्य के रूप में कहीं पर गहरी उदासीनता या विक्षोभ के रूप में और कहीं एक गहन यथार्थवादी दृष्टि के रूप में अभिव्यक्त हुआ है । इस प्रकार नयी कहानी में व्यक्ति की स्थिति एवं दृष्टि को समसामायिक जटिल सामाजिक यथार्थ के मुताबिक गहन संवेदनशीलता तथा प्रामाणिकता के साथ अभिव्यक्त किया गया है ।

परिवेश

नयी कहानी का एक और प्रमुख तत्व उसका परिवेश ही है । परिवेश के साथ इसके यथार्थ का गहरा सरोकार है । साहित्य की प्रत्येक विधा अपने परिवेश के दबाव एवं अन्तर्विरोधों से उत्पन्न होती है । इसलिए उस विधा की रचनात्मक संचेतनता का मापदण्ड उसका परिवेश ही होता है, ''रचनाकार अन्दर से बाहर की ओर अथवा बाहर से अन्दर की ओर जाये । दोनों ही स्थितियों से अपनी पहचान की एक छाप उसे देनी ही पडती है । जीने के लिए जो संघर्ष वह कर रहा है, वह किस हद तक वास्तविक है, इसे साबित करना

---

१६. कमलेश्वर - नयी कहानी की भूमिका, पृ. १२७

पडता है । इस प्रक्रिया में वह जीवन तथा परिवेश और रचना को एक सीध में रखता है । जीवन और रचना को परिवेश से जोडकर अपने दायित्व और रचना धर्म का निर्वाह करता है । अगर ऐसा नहीं कर पाता है तो यह उसका असामर्थ्य है ।''[१७] पारिवेशिक सरोकार के बिना रचना सार्थक नहीं होती । परिवेश के बदलते सन्दर्भों के मुताबिक सृजन के धरातल विकसित होते हैं और रचनाकार रचना के ज़रिए जीवन की नयी नयी परिभाषाएँ प्रस्तुत करते हैं । परिवेशगत जीवन मूल्यों की रचना ही प्रासंगिक हो सकती है । कभी-कभी रचनाकार मूल्यों का इतना बडा अन्ध समर्थक होता है कि परिवेश को पूर्णत: विस्मृत कर देता है । ऐसी स्थिति में मूल्य और परिवेश के बीच खाई उत्पन्न होती है । वह खाई उसे सामयिक सत्य से अछूती बना छोडती है । रचनाकार अपने परिवेश से जितना अधिक जुडा हुआ होता है उतनी उसकी रचना प्रामाणिक होगी तथा प्रासंगिक भी ।

परिवेश कहीं पूर्ण रूप से व्यक्तिगत भी हो सकता है । लेकिन यह व्यक्तिगत के साथ ही साथ सामाजिक भी है । क्योंकि व्यक्ति समाज का एक अंग है और व्यक्तिगत सत्य बहुत हद तक सामाजिक सत्य है, ''किसी भी युग के आधुनिक रचनाकार को ले लीजिए उसने समय और परिवेश को संपूर्णता में इस हद तक आत्मसात् कर लिया है कि उसके रचनात्मक व्यक्तित्व के माध्यम से ही हम युग की नब्ज पकड लेते हैं । समय की आत्मा उसके लेखन में बोलते है ।''[१८] परिवेश की व्यापकता के लिए अनुभव संवेदन का विस्तृत होना आवश्यक है । इस स्थिति में रचनाकार अपनी वैयक्तिक सीमाओं का अतिक्रमण करके तटस्थ हो सकता है । अपने समय की चुनौतीयों को स्वीकारते हुए उन्हें व्यापक रूप से संप्रेषित कर सकता है । संवेदन की गहराई के कारण ही परिवेश यथार्थ रूप में हमारे सामने उपस्थित हो जाता है । स्वाधीनता प्राप्ति के दौरान के परिवेश को जिस कलावादी दृष्टि से रचनात्मक स्तर पर अभिव्यक्त किया था वह परिस्थिति सापेक्ष्य नहीं था ।

---

१७. *डॉ. धनंजय - आज की हिन्दी कहानी, पृ.६६*

१८. राजेन्द्र यादव - कहानी स्वरूप और संवेदना, पृ.५०

मतलब कि उनकी कहानियों में युगीन संवेदनाओं को प्रामाणिक अभिव्यक्ति नहीं मिली । डॉ. नामवर सिंह के अनुसार "आज़ादी के साथ देश का सन्दर्भ बदलते ही इन कहानियों की अवास्तविकता उधड गयी ।"[१९]

नयी कहानी ने इस अवास्तविकता के बिन्दु से अपनी कथायात्रा शुरू की । व्यक्ति तथा परिवेश को बडी ही सूक्ष्मता के साथ प्रस्तुत किया । अत: नये रचनाकार की परिवेश के प्रति यह जागरूकता एव सतर्कता ही सृजनात्मक क्षणों की प्रामाणिकता सिद्ध करती हैं । इस प्रकार नयी कहानी में व्यक्ति अपने समग्र परिवेश में उपस्थित हुआ है और इसमें व्यक्ति के माध्यम से परिवेश और परिवेश के माध्यम से व्यक्ति की खोज की गयी है । इस प्रकार नयी कहानी ने व्यक्ति को अपने परिवेश की पूरी जटिलता वं भयावहता के साथ अभिव्यक्त करने का कार्य किया है ।

तटस्थतापूर्ण दृष्टि

नयी कहानी की और एक बिन्दु उसकी तटस्थतापूर्ण दृष्टि है । कथाकार जिस संवेदना को अभिव्यक्ति देना चाहता है उसको अपनी वैयक्तिक सीमाओं से ऊपर उठाना चाहिए । मतलब कि रचना में रचनाकार के व्यक्तित्व और निजता का स्पर्श तो होता ही है लेकिन उसको अपनी संवेदना इस प्रकार अभिव्यक्त करना चाहिए कि रचना पूर्ण रूप से निर्वैयक्तिक जान पडे । तटस्थता एक ऐसा तत्व है जो एक ही समय में जीवन मूल्य भी है और साहित्यिक मूल्य भी । किसी भी प्रकार के सैद्धान्तिक समर्थन, विरोध या विद्रोह के परे एक ऐसी तटस्थ स्थिति होती है जो किसी की व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अपहरण तो नहीं करती लेकिन सत्य का पूर्ण पोषण करती है । इसलिए रचना प्रक्रिया की यह तटस्थता कथाकार के अनुभव को व्यापकता एवं विशिष्टता प्रदान करती है, "तटस्थ होकर रखा गया कथ्य ही प्रामाणिकता की निरन्तरता को झेल जाता है नहीं तो रचना में वह प्रामाणिकता

---

१९. डॉ. नामवर सिंह - कहानी : नयी कहानी, पृ.२१७

सूखती चली जाती है ।"[२०] नया कहानीकार 'मैं' 'वह' आदि शब्दों का प्रयोग करके इसी तटस्थता को द्योतित करता है । इसमें लेखक की अपनी निजता के होते हुए भी वह केवल उस व्यक्ति तक सीमित न रहकर दूसरों का यथार्थ भी होता है । इस 'मैं' 'वह' आदि में जितनी तटस्थता होती है रचना उतनी ही प्रभाावात्मक हो जाएगी । इस प्रकार तटस्थता ही एक ऐसा तत्व है जो साहित्य के स्तर पर सत्य और सामाजिकता को अधिक प्रामाणिक बनाता है । यह तटस्थता एक हद तक प्रतिबद्धता ही है । यह प्रतिबद्धता किसी भी प्रकार के मतवाद के प्रति नहीं अपने समयसंगत सत्य के प्रति है । तटस्थता की ओर अग्रसर लेखक के लिए प्रतिबद्धता एक अनिवार्य तत्व है । प्रदिबद्धता ही एक ऐसा तत्व है जो कि लेखक को अपने से अपने परिवेश से और अपने समय से संपृक्त रखती है ।

मूल्य विघटन

नयी कहानी में परंपरागत नैतिक मूल्यों का विघटन हुआ है । आधुनिक सन्दर्भ में सामाजिक पारिवारिक तथा वैयक्तिक जीवन में नए नए मूल्यों की माँग होने लगी है साथ ही पुराने मूल्यों का विघटन भी शुरू हो गया ह। इसलिए नयी कहानी मूल्य संक्रमण या मूल्य विघटन की कहानी भी है । संबन्धों के सरल सपाट और प्रत्यक्ष रूप जीवन की विसंगतियों के सामने बेगाने लगने लगे हैं । इसलिए नए कहानीकार परंपरागत मूल्यों एवं मानवीय संबन्धों के सामने प्रश्नचिह्न लगाते हुए एक नये कोण से जीवन को देखने समझने और अभिव्यक्त करने की कोशिश करते हुए नज़र आते हैं । इन कहानीकारों ने संबन्धों के बदलते तेवर को प्रस्तुत किया है, जिसमें किसीका किसी के प्रति कोई दायित्व नहीं है । एक ही घर में एक साथ रहनेवाले सदस्य भी एक दूसरे के प्रति अत्यन्त उदासीन हैं । मूल्य विघटन एवं नए मूल्यों के बनने के सन्दर्भ की इस उदासीनता और अजनबीपन के यथार्थ को नए कहानीकारों ने कहानी का विषय बनाया है जो उनकी युग चेतनता को प्रमाणित करता है ।

---

२०. कमलेश्वर - नयी कहानी की भूमिका, पृ.१८५

शिल्प और भाषागत नवीनता

इस प्रकार नयी कहानी का कथ्य समय का सत्य है तो उस सत्य को प्रस्तुत करने का शिल्प भी बिलकुल नया है । नये जीवन यथार्थ की प्रस्तुति के लिए नयी भाषा और नये शिल्प की.जरूरत है । पुराने शिल्प में नये जीवन यथार्थ को प्रस्तुत करना अवश्य कृत्रिमता है । इसलिए नए कथ्य के लिए अनुकूल एवं योग्य शिल्प को ढूंढ निकालने का कार्य भी नए कहानीकारों ने किया है । अत: नयी कहानी में आकर भाषा और शैली की कृत्रिमता खत्म हो गयी है । उनमें एक प्रकार की जीवन्तता आ गयी है । राजेन्द्रयादव के अनुसार "यहाँ भी शिल्प और भाषा के स्तर पर पहले और विषय और थीम के धरातल पर बाद में इसने पिछली कहानियों से अपने को अलग किया ।"[२१] इस प्रकार नयी कहानी पूर्ववर्ती कहानियों से अपने कथ्य एवं शिल्प के स्तर पर बिलकुल नवीन एवं युग सापेक्ष्य निकलती है ।

नयी कहानी का नयापन और पुरानी कहानी से अलगाव

नयी कहानी ने कहानी के स्वरूप को ही बदल दिया है । नयी कहानी में जो नवीनता है वह संक्रमणकालीन जीवन यथार्थ के बदलते सन्दर्भों से उत्पन्न है । यह संक्रान्ति जीवन के हर स्तर पर दिखायी देती है । इसने पूरी चेतना को बदल दिया । इसके फलस्वरूप नयी कहानी में नयी संवेदना, नया यथार्थ, नया परिवेश, नया मनुष्य, नया सन्दर्भ, नयी वस्तु, नया शिल्प, नयी भाषा आदि का उद्घाटन होने लगा । वहाँ से कहानी नयी कहानी बन गयी। पहले के कथाकार कुछ निश्चित मूल्यों एवं मान्यताओं के तहत सृजनारत थे इसलिए पारिवेशिक सच्चाइयों का तटस्थ संप्रेषण नहीं हो पाया । प्रत्यक्ष जीवन उनके लिए कम महत्व का रह गया । वे अपने अपने अलग दायरों में बन्द थे । पर नये कहानीकार अकृत्रिम शैली में अपने परिवेश के यथार्थ की अभिव्यक्ति करते थे । याने

---

२१. राजेन्द्र यादव - कहानी स्वरूप और संवेदना, पृ.५४-५५

कि वे अनुभूत सत्य का आत्म संप्रेषण कर रहे थे । उसमें कुछ भी अपरिचित नहीं था ।

नयी कहानी के यथार्थबोध में नयापन है । हर युग का अपना यथार्थ होता है । उसकी प्रस्तुति किस प्रकार की गयी है, यही मुख्य प्रश्न है । पुराने कथाकारों के सामने भी गाँव कस्बे और शहर का जीवन था, बदलते सन्दर्भ थे, मानव जीवन के अछूते पहलू भी थे । कहने का तात्पार्य यह है कि हर युग का अपना यथार्थ होता है । पर नए कहानीकारों ने अपने यथार्थ को जिस तटस्थता, निर्भीकता और नंगेपन के साथ प्रस्तुत किया है वैसा पहले के रचनाकारों ने नहीं किया । पुरानी पीढ़ी के कहानीकारों ने युग यथार्थ को उसकी स्थूलता में स्वीकार किया था तो नयी पीढ़ी के कथाकारों ने उसके अंतरंग यथार्थ का अन्वेषण किया । उनकी इस नयी दृष्टि के कारण हमारे सामने यथार्थ अपने जीते जागते रूप में प्रस्तुत हुए हैं । इसलिए नयी कहानी पाठक को कहानी से ठोस यथार्थ की ओर नहीं बल्कि यथार्थ से कहानी की अंतरंगता की ओर ले जाती है, "कहानी दिमागी समस्याओं को खडा करके आरोपित सामाजिकता की ओर नही बल्कि सामाजिक और समाज से संपृक्त व्यक्ति की यथार्थ-चेतना की ओर उन्मुख है । यह यात्रा कहानी से यथार्थबोध की ओर नहीं बल्कि यथार्थबोध से कहानी की ओर है ।"[२२]

नया कहानीकार जिस परिवेश में रहता है और जैसी अनुभूति उसे होती है उसे वह प्रामाणिकता के साथ अभिव्यक्त करता है । यह अनुभव मात्र रचनाकार का नहीं बल्कि समग्र परिवेश का होता है । इसके स्थान पर पुराने कथाकार आरोपित मान्यताओं विचारधाराओं और सिद्धन्तों को लेकर कथासृष्टि करते थे । उसमें प्रामाणिक अनुभव की कमी थी । लेकिन आज के नए कहानीकार व्यक्ति और अनुभव के बीच के सार्थक संबन्धों पर ज़ोर देते हैं । इसलिए कहानी वर्तमान जीवन यथार्थ का प्रतिस्पन्दन करती हुई दिखायी देती है, "सामाजिक विशाल से एक संवेदनशील व्यक्ति और समय के प्रवाह से

---

२२. सुरेन्द्र - नयी कहानी दशा दिशा संभावना, पृ.१५७

एक अनुभूति क्षण चुन कर उन दोनों के सार्थक संबन्ध को खोज निकालना आज की कहानी की विशेषता है ।''[२३]

कथ्य के नएपन ने नयी कहानी को एक नया शिल्प भी दिया । नया कहानीकार जीवन की बाह्य घटनाओं से ज़्यादा व्यक्ति मन के परत-दर-परतों को खोलता हुआ नज़र आता है । इसलिए जो कहानी पहले एक सुनियोजित कथानक को लेकर चलती थी और जिसका आरंभ उत्कर्ष और अन्त हुआ करता था, वह अब किसी गहन अनुभव सत्य को लेकर आती है और उसे सपाट रूप में प्रकट करती है । नयी कहानी का शिल्प इतना विलीन हो गया है कि कहानी में उसके न होने का भ्रम पैदा करता है । कथ्य एवं शिल्प की यह संश्लिष्टता नयी कहानी की जीवन दृष्टि को प्रमाणित करती है, ''कथानक की धारणा (कन्सेप्ट) बदल गयी है । किसी समय मनोरंजक नाटकीय और कुतूहलतापूर्ण घटना संघटन को ही कथानक समझा जाता था और आज घटना-संघटन इतना विघटित हो गया है कि लोगों को अधिकांश कहानियों में कथानक नाम की चीज़ मिलती ही नहीं । इसीको कुछ लोग कथानक का ह्रास कहते हैं । परन्तु वास्तविकता यह है कि ह्रास कथानक का नहीं बल्कि कथा का हुआ है और जीवन का एक लघु प्रसंग, प्रसंग खंड, मूड, विचार अथवा विशिष्ट व्यक्ति चरित्र ही कथानक बन गया है अथवा उसमें कथानक की क्षमता मान ली गयी है ।''[२४]

नयी कहानी में जो चरित्र उभरे हैं वे अपने जीवन्त परिवेश की सारी बारीकियों के साथ उभरे हैं । लेखक की दृष्टि आज अपेक्षाकृत सजीव आदमी पर पडी है, ''एक लम्बे अवकाश के बाद हिन्दी कहानी में जीते जागते आदमी दिखायी पडे तो लगा कि कहानी में एक रचनात्मक खोज की शुरुआत हो गयी ।''[२५]

---

२३. राजेन्द्र यादव - कहानी स्वरूप और संवेदना, पृ.८७

२४. नामवर सिंह - कहानी नयी कहानी,पृ.२०

२५. देवी शंकर अवस्थी - नयी कहानी सन्दर्भ और प्रकृति, पृ.२३६

पुराने कथाकारों की भाषा अलंकृत कृत्रिम और गढ़ी हुई भाषा थी । उनकी भाषा कथ्य के ऊपर ओढ़ी हुई भाषा थी । नए कहानीकारों ने कथ्य के सहज संप्रेषण के लिए जीवन्त और अकृत्रिम भाषा का प्रयोग किया, जिससे भी कहानी नई बन गयी है, "नयी कहानी ने भाषा की जडता को तोडा । व्यक्तिगत और किताबी भाषा से अपने को पृथक कर समय के विस्तार में जी रहे मनुष्य की बोली में ही उसने नए अर्थों की तलाश की ।"[२६] इस प्रकार नयी कहानी में कहानी को एक स्वतंत्र रूप मिला है । नयी कहानी की यात्रा जीवन से साहित्य की ओर है इसलिए जीवन की सही पकड ही नयी कहानी की आन्तरिक शक्ति है । नयी कहानी बदले हुए जीवन यथार्थ को आत्मसात करते हुए विकसित रचना प्रक्रिया है ।

यद्यपि कहानी का यह नया दौर सन् १९५० से शुरू हुआ है तथापि इसका संबन्ध पूर्ववर्ती कुछ अच्छी कहानियों से ज़रूर है । प्रेमचन्द की 'कफन', 'पूस की रात' जैसी कहानियों से नयी कहानी का गहरा संबन्ध है । उन कहानियों के केन्द्र में मनुष्य को जिस प्रकार परिभाषित किया है वैसा फिर नयी कहानियों में दिखाई देता है ।

कहानी का अगला चरण हम अज्ञेय की कहानियों में देख सकते हैं । अज्ञेय की दृष्टि मुख्यत: व्यक्तिकेन्द्रित होने के कारण उनके कथासाहित्य में व्यक्ति-चरित्र को ही ज़्यादा प्रधानता मिली है । लेकिन उन्होंने जो कुछ प्रस्तुत किया है वह गहन मानवीय संबन्धों को परिभाषित करनेवाले हैं । इसलिए उनकी अधिकांश कहानियों के कथावाचक 'मैं' है । उनकी 'शरणदाता', 'रोज़' जैसी कहानियों में मध्यवर्गीय परिवार की एकरसता, याँत्रिकता, घुटन और पीडा को सशक्त अभिव्यक्ति मिली है । धर्मवीर भारती की 'गुल्की वन्नो', 'सावित्री नंबर दो' मोहन राकेश की 'मलबे का मालिक', 'जानवर और जानवर', 'ग्लासटैंक', 'मिसपाल' जैसी कहानियों में नयी कहानी की संवेदना का सही संप्रेषण हुआ है । राजेन्द्र यादव, उषा प्रियंवदा, निर्मल वर्मा आदि भी कहानी को नई संवेदना से संपुष्ट

---

२६. कमलेश्वर - नयी कहानी की भूमिका, पृ.१७६

करनेवाली सृजनात्मक प्रतिभाएँ हैं । निर्मल वर्मा की कहानी 'परिन्दे' को डॉ. नामवर सिंह नयी कहानी की पहली कृति के रूप में स्वीकार करते हुए कहते हैं - "फकत सात कहानियों का संग्रह परिन्दे, निर्मल वर्मा की ही पहली कृति नहीं है बल्कि जिसे हम नयी कहानी कहना चाहते हैं उसकी भी पहली कृति है ।"[२७]

नयी कहानी को लेकर निर्मल वर्मा ने अपनी टिप्पणी यों व्यक्त की है, "जब हम नयी कहानी की बात करते हैं तो हमें कहानी की मृत्यु से चर्चा आरंभ करनी चाहिए । हमें इससे मदद मिल सकती है - कहानी को पुनर्जीवित करने के लिए नहीं बल्कि उसे अन्तिम रूप से छोडने के लिए ।"[२८] इस प्रकार निर्मल वर्मा परंपरा को तोडने की बात करते हैं । परंपरा से मुक्त होकर निर्मल जी आधुनिक मनुष्य के जटिल जीवन यथार्थ को कहानियों के माध्यम से परखते हुए नज़र आते हैं । नयी कहानी की प्रामाणिकता के सन्दर्भ में निर्मल वर्मा का कहना है - "मुझे यह कहानी पुरानी कहानीकारों की दुनिया की तुलना में कहीं ज़्यादा प्रामाणिक सही और कहीं ज़्यादा ईमानदार जान पड़ती थी । और मुझे लगता था कि कहानी की बनावट में चाहे कोई मूल अन्तर न भी आया हो लेकिन एहसास में और अनुभूति के क्षेत्र में उस जमाने के जो लेखक लिख रहे थे उनमें एक बुनियादी परिवर्तन आया था ।"[२९] अर्थात् पुराने कहानीकार ऐसे अनुभवों को महत्व देते थे जिससे कहानी अच्छी बन सके । जबकि नये कहानीकार ऐसी अनुभूति को प्राथमिकता देते हैं, जो उनकी दृष्टि में प्रामाणिक भी हो । इसी प्रामाणिक कहानी को निर्मल वयस्क अथवा प्रौढ़ कहते हैं । उनकी दृष्टि में कहानी का यथार्थ हमेशा "एक पक्षी की तरह झाडी में छिपा रहता है । उसे वहाँ से जीवित निकाल पाना उतना ही दुर्लभ है जितना उसके बारे में निश्चिंत रूप से कुछ कह पाना जब तक वह वहाँ छिपा है ।"[३०] निर्मल जी की राय में

---

२७. डॉ. नामवर सिंह - कहानी नयी कहानी, पृ.६५
२८. निर्मल वर्मा - हर बारिश में, पृ.४८
२९. निर्मल वर्मा - मेरे साक्षात्कार, पृ.१३
३०. निर्मल वर्मा - हर बारिश में, पृ.४७

यथार्थ की सही प्रस्तुति एक रचनाकार के लिए बहुत बडे जोखिम का काम है । निर्मल वर्मा ने इस जोखिम भरे रास्ते से आगे बढ़ने का दृढ़ संकल्प लिया था । इसका परिणाम है उनके कहानी संग्रह 'परिन्दे', 'पिछली गर्मियों में', 'जलती झाडी', 'कव्वे और कालापानी', 'बीच बहस में', 'सूखा तथा अन्य कहानियाँ' आदि । इन कहानियों के ज़रिए निर्मल वर्मा ने हिन्दी कहानी साहित्य को नई दशा और दिशा देने का महत्वपूर्ण कार्य किया है । उनकी कहानियों में नयी कहानी की सभी प्रवृत्तियाँ विद्यमान है ।

अकेलापन

निर्मल वर्मा की कहानियों में भारत की संक्रान्त कालीन परिस्थिति की कुंठित मानसिकतावाले पात्र दिखायी देते हैं। ये पात्र अपने आप में सीमित तथा अकेले हैं। अपने चारों ओर की दुनिया के प्रति एक प्रकार की उदासीनता इन पात्रों में घरकर रहती है। ये पात्र परिवार या समाज में रहते हुए भी अन्तर्मुखी हैं। इनका अपना एक अलग दायरा होता है, जिसके बाहर निकलना वे नहीं चाहते। वे अपनी इस दुनिया में अकेले रहना चाहते हैं। इन्हें दूसरों से मिलकर जीने की इच्छा तो है लेकिन कोई ऐसी चीज़ है जो इन्हें अपने अकेलेपन के आवरण को तोड़ने नहीं देती । अत: ये पात्र अपने अकेलेपन को समाज के बीचों बीच रहकर झेलते हुए नज़र आते हैं। निर्मल की कहानियों का यह अकेलापन कहीं थोपा हुआ नहीं है। वह पात्रों की अंतरंगता में अनिवार्य रूप से घुला मिला हुआ है, "पात्रों का अकेलापन लेखक के अंतरंग जीवन से अलग नहीं होता । एक सीमा तक लेखक इन पात्रों को जीता है लेकिन उसके पात्र स्वयं अपनी दिशाएँ खोज लेते हैं। उनके कंपल्शंस उन्हें बहा ले जाते हैं। लेखक तो एक ही है जबकि पात्र कई हैं। हर पात्र अपना जीवन जी रहा है ।

अकेला तो प्रत्येक व्यक्ति है । अपनी दिनचर्या में भी देखें तो आप ज़्यादा समय अकेले ही रहते हैं ।''[३१]

'परिन्दे' निर्मल वर्मा का पहला कहानी संग्रह है । इस संग्रह की प्रमुख कहानी 'परिन्दे' की नायिका लतिका इस अकेलेपन की शिकार है । उसके जीवन में अपने काम को लेकर कहीं कोई दिलचस्पी नही दिखायी देती । लतिका कभी भी छुट्टियों में घर नहीं जाती । वह उन पहाडियों पर अकेली ही अपनी छुट्टियाँ बिताती है । जैसे वह इस अकेलेपन का आदी हो गयी है, ''पहले साल अकेलापन कुछ अखरा था - अब आदी हो गयी हूँ.... पता भी नहीं चलता कि छुट्टियाँ कब शुरू हुई थीं, कब खत्म हो गयी ।''[३२] लतिका अपने को इस अकेलेपन में सुरक्षित पाती है । इसलिए वह इस पहाडी इलाके के अकेलेपन की सुरक्षा को तोडना नहीं चाहती, ''अब वह सुरक्षित थी, कमरे की चहारदीवारी के भीतर उसे कोई नहीं पकड सकता । दिन के उजाले में वह गवाह थी, मुजरिम थी, हर चीज़ का उससे तकाज़ा था, अब इस अकेलेपन से कोई गिला नहीं, उलाहना नहीं सब खींचातानी खत्म हो गयी है, जो अपना है वह बिल्कुल अपना सा हो गया है, जो अपना नहीं है, उसका दुःख नहीं, अपनाने की फुरसत नहीं ।''[३३] इस प्रकार वह किसी से भी जुड़ नहीं पाती ।

कभी कभी ये पात्र अपने परिवार के सदस्यों तक से एक प्रकार का अलगाव महसूस करते हैं । यहाँ तक कि अपने माता-पिता से भी दूरी महसूस करते हैं । 'अंधेरे में' कहानी का बच्ची इसका सशक्त उदाहरण है । अपने पिता से वह मन की बात नहीं कह पाता, ''मैं उनसे डरता हूँ, कोई भी फरमायश करते समय मेरा दिल धडकने लगता है, कभी खुलकर उनसे मैं ने अपने मन की बात नहीं की ।''[३४] 'मायादर्पण' की तरन भी इसी स्थिति

---

३१. दस्तावेज़ - जूलाई-सितम्बर, १९९९,पृ.३७
३२. निर्मल वर्मा - परिन्दे - परिन्दे, पृ.१४३
३३. वही, पृ.१५४-१५५
३४. निर्मल वर्मा - परिन्दे - अंधेरे में, पृ.७८-७९

में है । "उसे बाबु से एक विचित्र-सा भय लगता था, जिसे मिटाना कभी संभव नहीं हो पाता ।"[३५] इस प्रकार परिवार में ही अलगाव होने के कारण ये पात्र अकेलेपन के शिकार बन जाते हैं । इस स्थिति में ये पात्र अपने आपको बिल्कुल अकेला पाते हैं । 'अंधेरे में' का बच्ची सोचता है, "और तब उस क्षण मुझे लगा कि मैं बहुत अकेला हूँ ।"[३६] 'मायादर्पण' की तरन भी लतिका की तरह अपने अकेलेपन को स्वीकार करने के लिए तैयार हो जाती है । वह अन्त में फैसला लेती है,"वह अकेली रहेगी किन्तु बाबु की छाया से बँधी हुई । और बाबु का अकेलापन हमेशा, ज़िन्दगी-भर उससे जुडकर रहेगा ।"[३७] ये पात्र लोगों से मिलना तो चाहते हैं लेकिन मिल नहीं पाते । अत: किसी अकेले कोने में अपने आप को सिमट कर रखते हैं । 'दूसरी दुनिया' कहानी का 'मैं' इस तरह का पात्र हैं । 'मैं' हमेशा लाइब्रेरी में अकेला बैठता है । लाइब्रेरी का अपना वह कोना ही वह पसन्द करता हैं, "मैं ने जूते पहने । अखबार और चिट्टियाँ जेब में रख दीं। अभी समय काफी है, मैं ने सोचा । एक -दो घंटे लाइब्रेरी में बिता सकता हूँ । पार्क के जादू से अलग अपने अलग कोने में ।"[३८] ये पात्र अपने अकेलेपन के इतने आदी होगये हैं कि दूसरों से मिलने में एक प्रकार का डर दिखायी देता है ।

'अंतराल' का पात्र कुछ इस प्रकार का है, "कोई बुलावा आता , तो उनका नहीं, उनके लिए नहीं । इस शहर में उनके कोई जान-पहचान के मित्र नहीं थे । इसलिए किसी शाम मेरे दोस्त आते, तो वह दबे पॉव मेरे कमरे में आते फुसफुसाते हुए कहते, तुमसे कोई मिलने आया है और इससे पहले मैं बाहर निकलूँ, वह इतनी तेज़ी से अपने कमरे में चले जाते, कि आनेवाले को सिर्फ एक उडती हुई झलक मिल पाती । मुझे इतना मौका ही न मिल पाता कि मैं किसी से उनका परिचय करवा सकूँ ।"[३९] उनकी यह स्थिति देखकर

---

३५. निर्मल वर्मा - जलती झाडी - मायादर्पण, पृ.३३
३६. निर्मल वर्मा - परिन्दे - अंधेरे में, पृ.७९
३७. निर्मल वर्मा - जलती झाडी - माया दर्पण, पृ.४०
३८. निर्मल वर्मा - कव्वे और कालापानी - दूसरी दुनिया, पृ.२३
३९. निर्मल वर्मा - सूखा तथा अन्य कहानियाँ - अंतराल, पृ.१५

उनके परिवारवालों को लगता है कि "क्या कोई इस तरह अपने को सारी दुनिया से काट लेता है ? ।"[४०] कभी कभी हम कुछ ऐसे पात्रों को भी देख सकते हैं जो कि अपने अकेलेपन के क्षणों को किसी और के साथ काटने को तैयार होते हैं । 'खाली जगह से' के पात्र कुछ इस तरह के हैं, "माँ जो दिल्ली के भरे-पूरे कुटुम्ब परिवार से आयी थी, शिमला के एकाकीपन में अपने को, छूटे हुए संसार से कितने विरही और वंचित पाती होंगी ? शायद इसलिए उस निर्जन वीरानी में , वे बाहर की दुनिया से, पहाडों के पीछे से कोई साधु-सन्यासी कोई भिक्षुक-भिखारी आता था तो वे फिर बिना संकोच या भय के उनके साथ अपना अकेलेपन बाँटने बैठ जाती थीं । बाहर जाने की आकांक्षा मानो बाहर से आनेवालों में संपूर्ती पा लेती थी । उनका भटकता मन एक थाह पाकर स्थिर हो जाता था ।"[४१] इन कहानियों के ज़्यादातर पात्र पराए शहर के हैं । यह परायापन अन्त तक उनकी ज़िन्दगी में खटकता रहता है । यही परायापन उन्हें अपने आप में नितान्त अकेला बना देता है । निर्मल वर्मा के ही शब्दों में, "मैं पहचाना-सा प्रवासी हूँ, जो लैट आया है, एक अजनबी-सा भारतीय, जो हर जगह सन्दिग्ध है - खुद अपने सामने सबसे अधिक ।"[४२]

'परिन्दे' का ह्यूबर्ट इसी प्रकार के परायेपन का शिकार है, "लेकिन डॉक्टर कुछ भी कह लो, अपने देश का सुख कहीं और नहीं मिलता । यहाँ तुम चाहे कितने वर्ष रह लो, अपने को हमेशा अजनबी ही पाओगे ।"[४३] 'पराये शहर में' कहानी बडे शहर में बेरुखी की समस्या का एक दिलचस्प अन्तर्विरोध प्रस्तुत करती है । नायक की दिक्कत यह है कि अपरिचित शहर में वह और अधिक अकेला बन जाता है, "मैं चियान्ती पीने के लिए

---

४०. निर्मल वर्मा - सूखा तथा अन्य कहानियाँ - अंतराल, पृ.२०
४१. निर्मल वर्मा - सूखा तथा अन्य कहानियाँ - खाली जगह से, पृ.२०२
४२. निर्मल वर्मा - बीच बहस में - भूमिका, पृ.९
४३. निर्मल वर्मा - परिन्दे - परिन्दे, पृ.१४५-१४६

स्क्वायर के एक सस्ते रेस्तराँ में बैठ गया । अब मैं दूसरों की तरह था । वे मुझे नहीं देख रहे थे - और पराए शहर में - अगर कोई तुम्हें नहीं देख रहा हो, तब अकेलापन नहीं लगता ।''[४४]

अकेलेपन के अनुभव की तीव्र अभिव्यक्ति संभवत: निर्मल की 'जलती झाडी' कहानी में हुई है । इसमें कथावाचक के एक दिन के अनुभवों का वर्णन है । किन्तु इसमें यह प्रमाणित किया गया है कि कैसे एक अकेला आदमी उत्तरोत्तर अजनबी बनता जा रहा है । विदेशी शहर में नवागंतुक नायक एक पुल के नीचे की सुनसान जगह पर जाता है । यहाँ ऐसी अनेक विस्मयकारी घटनाएँ घटती हैं जिसमें उसका अकेलापन और गहरा हो जाता है । यथार्थ की पहचान मिट जाती है । मछली पकडता हुआ बूढ़ा पहले शून्य में एक निश्चित बिन्दु पर दृष्टि गढ़ाये घूरता रहता है । फिर उसकी ओर देखकर हँसता है । फिर एकदम उसकी ओर से बेखबर हो जाता है । पास ही एक व्यक्ति की उपस्थिति तो है । पर उससे न संवाद है, न पहचान, ''मुझे अपने भीतर एक अजीब सी बेचैनी महसूस होने लगी । उसे मेरे अस्तित्व का बिल्कुल भी आभास नहीं हालांकि मैं उसके इतने पास बैठा हूँ यह मुझे अत्यन्त अस्वाभाविक-सा जान पडा । अंजाने शहरों में कभी-कभी आत्मीयता की भूख कितनी उत्कट हो जाती है, यह उस क्षण से पहले मैं नहीं जान पाया था ।''[४५]

बाद की घटना में दो लडके हैं जो कथावाचक को बूढ़ा आदमी समझकर इस तरह बात करने लगते हैं । तब उसे अपने होने पर ही सन्देह होने लगता है । ये लडके भी शून्य में उसी बिन्दू की ओर घूरते रहते हैं जहाँ पहलेवाला बूढ़ा घूर रहा था । तीसरी घटना में वह उस झाडी के निकट बैठा है जिसके भीतर प्रेमी-युगल प्रेम-क्रीडा में व्यस्त हैं ।

---

४४. निर्मल वर्मा - जलती झाडी - पराए शहर में, पृ.७९
४५. निर्मल वर्मा - जलती झाडी - जलती झाडी, पृ.७६

लड़की अकेली बाहर निकलकर आती है । और उन दोनों में एक संक्षिप्त सा संवाद होता है -

- "वहाँ मैं अकेली नहीं गयी थी ।"
- "वह वहाँ है । मैं ने उसे आपके संग देखा था ।"
- "किधर देखा था ?"
- "देखिए , उधर झाडी में .... वह अब भी है ।"
- "वह कौन ?"[४६]

नायक सच-झूठ की जाँच करने के लिए आगे बढ़ता है, लेकिन लडकी की नज़रें उसे पीछे खींच लेती है - उसे लगता है - "ज़िन्दगी में जवाबदेही का लमहा एकदम किस तरह से आ जाता है, जब हम उसकी बहुत कम प्रतीक्षा कर रहे होते हैं, जैसे वह हमारे लिए न हो, किसी दूसरे के लिए, आया हो, दूसरे के लिए नहीं तो तीसरे के लिए, नहीं तो चौथे, पाँचवे,छठे के लिए, चाहे जिसके लिए हो, हमारे लिए नहीं हैं । लेकिन वह है कि काँपते-चीखते हाथों से हमें पकड लेता है - किन्तु हम ताकतवर हैं और अपने को छुडा लेते हैं और सोचते है यह एक दूस्वप्न है, जो अभी बीत जाएगा और आँखें खोलकर वही देख लेंगे, जो देखना चाहते हैं, जिसके हम आदी हैं और फिर हम जवाबदेह नहीं रहेंगे किसी के भी नहीं, किसी के प्रति भी नहीं पतझड की उस शाम के बाद अक्सर शंका होने लगती है कि मरने के लिए आत्महत्या बहुत ज़रूरी नहीं है ।"[४७] इस प्रकार 'जलती झाडी' के वाचक के इन तीन अनुभव स्तरों के ज़रिए विदेशी पृष्ठभूमि में परायेपन और अकेलेपन की तीन विकास-स्थितियों को पहचाना जा सकता है । ऐसा अनुभव अकेलेपन और असुरक्षा की भावना से पीडित किसी भी व्यक्ति को कहीं भी हो सकता है ।

---

४६. निर्मल वर्मा - जलती झाडी - जलती झाडी, पृ.८४-८५
४७. वही, पृ.८५-८६

'लन्दन की एक रात' में यह स्थिति और मार्मिक है । विली और जार्ज दोनों पिट चुके हैं । दोनों के मन में भय का सन्नाटा छाया हुआ है, "हम दोनों एक संग होते हुए भी अचानक अकेले पड गए थे और वह रो रहा था और मैं कुछ भी नहीं कर सकता था शायद इससे भयंकर और कोई चीज़ नहीं, जब दो व्यक्ति एक संग होते हुए भी यह अनुमान कर ले कि उनमें से कोई भी एक-दूसरे को नहीं बचा सकता, जब यह अनुभव कर लें कि बीती घडियों की एक भी स्मृति, एक भी क्षण उनके मौजूदा इस गुज़रते हुए क्षण के निकट अकेलेपन में हाथ नहीं बँटा सकता, साझी नहीं हो सकता ।"[४८]

कभी-कभी यह अकेलापन उन पात्रों में इतना घुल जाता है कि उससे निकल पाना मुश्किल हो जाता है - "यह उस खोए हुए साल के अक्तूबर की बात है जब उसे पहली बार अकेलेपन की असली ठिठुरन का पता चला था वह हड्डियों से शुरू नहीं होती थी, न ही आत्मा से, न ही खाल के भीतर .... वह उस पागल धुकधुकी में बसी थी, जो दिन-रात ईर्ष्या की आग को धौंकनी की तरह भडकाती है .... जिसमें शरीर का हर टुकडा लकडी के सूखे कोयले की तरह बल बल जलता है जबकि भीतरकी ठण्ड रत्ती भर कम नहीं होती .... वह तब तक जलती रहेगी, जब तक वह दुनिया में जीवित रहेगी ।"[४९]

इस प्रकार निर्मल वर्मा की हर कहानी के रेशे-रेशे में यह अकेलापन व्यापा हुआ है । क्योंकि यह अकेलापन अपने युग का सत्य है उस सत्य का नज़रअन्दाज़ करते हुए वह लिख नहीं पाता । इसलिए निर्मल जी ने कहा - "मैं हमेशा अकेलेपन पर शोक करता रहा हूँ .... ।"[५०] इसको भोगते हुए इसके बारे में ही वे लिख सकते हैं । जाहिर है कि निर्मल जी की रचनाओं का अकेलापन थोपा हुआ नहीं बल्कि जीवन के साथ अनिवार्य रूप से जुडा हुआ है । इसलिए इसमें भोगे हुए अनुभव क्षणों की ऊष्मा है, अंतरंगता है, आत्मीयता है । उनके पात्र अकेलेपन के अंतरंग क्षणों में ही ज़्यादा सच्चे दिखायी देते

---

४८. निर्मल वर्मा - जलती झाडी - लन्दन की एक रात, पृ.१३१
४९. निर्मल वर्मा - सूखा तथा अन्य कहानियाँ - अंतराल, पृ.३५
५०. पूर्वग्रह - ६८, पृ. ८

हैं । यह मनुष्य का बुनियादी अकेलापन है जिससे अलग हो पाने का मतलब जीवन से ही अलग हो जाना है । ऐसे अकेलेपन की अनुभूति को निर्मल वर्मा ने अपनी कहानियों में वाणी दी है ।

मानवीय संबन्धों के बदलते आयाम

संबन्धों का विघटन आधुनिक समाज की सबसे बडी समस्या है । आधुनिक मनुष्य के लिए सारे संबन्ध खोखले बन गये हैं । पहले के संबन्धों में जो आत्मीयता थी वह अब रिक्तता में बदल चुकी है । आधुनिक समाज के मूल्य विघटन के परिणामस्वरूप सारे संबन्धों में दरारें पड गयी हैं । माता-पिता, भाई-बहन,बेटा-बेटी, पति-पत्नी, सास-बहु जैसे संबन्ध अब सिर्फ मतलब के रह गये हैं । यहाँ तक कि प्रेम-संबन्ध भी निरर्थक लगने लगे हैं । परिवार में पति और पत्नी अलग अलग ईकाई वन ग ए हैं । इस प्रकार पूरे मानवीय संबन्धों में विघटन आ चुके हैं । इसका चित्रण निर्मल जी ने अपनी कहानियों में किया है ।

निर्मल जी की कहानियों में प्रेम एक मुख्य विषय है । क्योंकि आधुनिक सन्दर्भ में इसका समग्र विघटन हुआ है । आज प्रेम पहले की तरह कल्पना लोक की गाथा नहीं । उसमें सपनों का रूमानी राज्य नहीं है। आज वह मनुष्य की समस्याओं का केन्द्रबिन्दु बन गया है । क्योंकि उसका अवमूल्यन हो गया है । इसलिए रचनाकार प्रेम के विकृत रूप को प्रस्तुत करते हैं । आज कल के प्रेम की अन्तिम परिणति 'काम' में है । निर्मल वर्मा की कहानी 'उनके कमरे' में इस यथार्थ का संप्रेषण हुआ है, ''शायद उन्हें रोम या पेरिस का भी उतना शौक नहीं था, जितना इस बात का कि उन्हें होटल में अपने लिए अलग कमरा मिल सकेगा । और नहाने के बाद वह अपने बिस्तर को तैयार करेगी और लडका अपने विस्तर को हालाँकि उन्हें मालुम होगा कि उन्हें सिर्फ एक बिस्तर की ज़रूरत पडेगी यह सुख था। यह सबसे बडा, सबसे अविश्वसनीय, सबसे चमत्कारपूर्ण

सुख था ।''[५१] 'अन्तर' जैसी कहानी में प्रेम संबन्ध शारीरिक संबन्ध तक बढ़ जाता है और नायिका गर्भवती बनती है । लेकिन दोनों उस बच्चे को नहीं चाहते । इसलिए नायिका उस गर्भ को गिरा देती है । इस पर उन दोनों को कोई दु:ख महसूस नहीं होता । उनके संवाद उसके लिए पर्याप्त उदाहरण है,

- ''ज़्यादा देर तो नहीं लगी ?''
- ''नहीं उन्होंने क्लोरोफार्म दे दिया था । मुझे कुछ भी पता नहीं चला ।''
- ''मैं ने तुमसे कहा था कि तुम्हें कुछ भी पता नहीं चलेगा तुम मानती नहीं थी ।''
- ''तुम अब सुखी हो ?''
- ''हम दोनों पहले भी सुखी थे ।''
- ''हाँ - लेकिन अब तुम सुखी हो''
- ''तुम जानती हो .... यह हम दोनों के लिए ठीक था ....''
- ''कुछ फर्क लगता है ? - उसने पूछा । उसका हाथ उसके नंगे गरम पेट पर पडा रहा ।''
- ''तुम्हें कोई तकलीफ तो नहीं है ?''
- ''नहीं अब मुझे बडा हलका सा लग रहा है ।''[५२]

'लवर्स' कहानी की नायिका नायक के साथ के संबन्ध को मित्रता की सीमा से आगे नहीं बढ़ाना चाहती । पर तीव्र प्रणयाकांक्षा रखनेवाला नायक इस स्थिति को निस्संग भाव से अपनाता हुआ दिखायी देता है, ''मैं कल रात यही सोचता रहा था कि वह न कह देगी तो

---

५१. निर्मल वर्मा - पिछली गर्मियों में - उनके कमरे , पृ.६९
५२. निर्मल वर्मा - जलती झाडी - अन्तर, पृ.१३८-१३९-१४०

क्या होगा ? अब उसने कह दिया है और मैं वैसा ही हूँ । कुछ भी नहीं बदला । जो बचा रह गया है वह पहले भी था ।''[५३]

'तीसरा गवाह' कहानी में नायक-नायिका का निर्णय एक दम बदल जाता है । शादी करने का निर्णय लेने के उपरान्त नायिका चली जाती है । प्रेम संबन्ध को विवाह में परिणत करने में नायक भी कुछ घबराया हुआ है । नायक में एक प्रकार की अनिश्चितता है, "मैं खुद बहुत अनिश्चित था, सोचता था, क्या यह सब ठीक है, क्या इतनी खुशी इतना सुख निबाह पाऊँगा ? इतने वर्ष जो अकेले अपने में बिता डाले थे, उनकी जडता को तोडते हुए मन घबरा-सा जाता था । किन्तु जब नीरजा सामने होती, तो मैं बडी सतर्कता से अपनी आशंकाओं को ढाँप रखता । मैं जानता था कि मेरी ज़रा सी भी कमज़ोरी उसके विश्वास को सदा के लिए तोड देगी ।''[५४] इस प्रकार आपस में प्रेम होते हुए भी अपने पर विश्वास नहीं है । ये पात्र कभी कभी बिल्कुल अंजान रहते हैं तो बिछुडने पर एक दूसरे के बारे में ज़्यादा सोचने लगते हैं, "आज सोचता हूँ तो लगता है कि नीरजा का अपना एक अलग अस्तित्व था जिसे मैं हर क्षण महसूस करता था किन्तु जिसे मैं कभी छू भी नहीं सका । वह बरसों से अकेली रही थी और अपने माँ-बाप के अतिरिक्त उसने केवल मुझे इतने निकट से जाना था, किन्तु मुझे देखकर उसे कुछ विचित्र-सी उलझन और घबराहट होने लगती थी, कहीं कोई अदृश्य दरवाज़ा था, जिसके पीछे नीरजा ने अपनी सूनी अकेली घडियों को जोड-जोडकर एक अपना अलग स्वप्न जगत बना लिया था, जहाँ वह दिन रात सोए हुए प्राणी की तरह चलती रहती थी । मुझे लगता जैसे मैं हमेशा उस दरवाज़े के बाहर खडा रहा हूँ .... ।'[५५] इस प्रकार ये आपसी प्रेम के बावजूद एक दूसरे को सही ढंग से पहचान न पा सकने की विसंगति को झेलनेवाले पात्र हैं ।

---

५३. निर्मल वर्मा - जलती झाडी - लवर्स, पृ.१६
५४. निर्मल वर्मा - परिन्दे - तीसरा गवाह, पृ.५४
५५. वही, पृ.५१-५२

वैवाहिक जीवन में भी इसी प्रकार की दरारें देख सकते हैं । वैवाहिक जीवन की नींव पति-पत्नी के आपसी प्रेम समझौते इमानदारी आदि है । जब यह आधार ही नहीं रह जाता तो दोनों का अलग हो जाना और भटकना सहज हो जाता है । यह पारिवारिक संबन्धों के विघटन में परिणत हो जाता है । 'एक दिन का मेहमान' कहानी का पति पत्नी के लिए मेहमान है । पति अपनी पत्नी तथा बेटी से मिलने केलिए जब आता है तब पत्नी का कहना कि "मैंने सोचा था, अब तक तुमने घर बसा लिया होगा । क्यों, उस लडकी का क्या हुआ ?"[५६] पत्नी का यह प्रश्न पति का किसी अन्य लडकी के साथ के संबन्ध की ओर ही इशारा करता हैं । पर उसको पता भी नहीं चला कि यह संबन्ध कब टूटा - "पता नहीं कि वह लकीर कहाँ बीच में सूख गयी ? कौन-सी जगह किस खास मोड पर वह चीज़ हाथ से छूट गयी, जिसे वह कभी दुबारा नहीं पकड सका ।"[५७] पत्नी सोचती है कि "बरसों बाद भी घर, किताबें, कमरे वैसे ही रहते हैं; जैसा तुम छोड गए थे; लेकिन लोग ? वे उसी दिन से मरने लगते हैं, जिस दिन से अलग हो जाते हैं ।"[५८]

कभी-कभी बच्चे पति-पत्नी के संबन्ध को बनाए रखने की एक कडी बन जाते हैं । आपसी प्रेम के न होते हुए भी वे बच्चे की वजह से टूटन को सहते हुए रहने के लिए तैयार हो जाते हैं नहीं तो टूटकर अलग हो जाते हैं, "बच्चा होता तो शायद मैं कभी अलग नहीं हो पाती । आपने देखा होगा, आदमी और औरत में प्यार न भी रहे तो भी बच्चे की खातिर एक दूसरे के साथ जुडे रहते हैं ।"[५९] इस कडी के अभाव में उनके बीच का अन्तर ज्यादा बढ जाता है । 'मायादर्पण' की तरन को लगता है कि - "माँ एक कडी थी परिवार और बाबु के बीच, उनके जाते ही वे एक घर में रहते हुए भी सहसा एक दूसरे के लिए अजनबी-से बन गए थें ।"[६०]

---

५६. निर्मल वर्मा - कव्वे और कालापानी - एक दिन का मेहमान, पृ.१६६
५७. वही, पृ.१६४
५८. वही, पृ.१५९
५९. निर्मल वर्मा - कव्वे औरकालापानी - धूप का एक टुकडा, पृ.१२
६०. निर्मल वर्मा - जलती झाडी - माया दर्पण, पृ.२७

तरन भी स्वाभाविक रूप से अपने बाबु के साथ घुल-मिल जाना चाहती है । लेकिन उसमें वह घनिष्ठता नहीं आती जिसकी वह कामना करती है, - "उसने कई बार सोचा है कि वह बरामदे में उनके पास जाकर बैठ जाये, इधर-उधर की बातें करें .... किन्तु इतने पर भी पाँव नहीं उठते सिर्फ खिडकी से ही वह चुपचाप उन्हें देख रही है । उसे बाबु से एक विचित्र-सा भय लगता था, जिसे मिटाना कभी संभव नहीं हो पाता ।"[६१]

'अन्धेरे में' की बच्ची पर पति-पत्नी के बीच के अलगाव का गहरा असर पडता है । इसकी बच्ची को महसूस होता है कि उसके प्रति माँ के मन में ममता के स्थान पर एक प्रकार की रिक्तता है । वह सोचता है, "उनकी अँगुलियों के अनिश्चित अर्ध सोये स्पर्श से मुझे पता चल जाता है कि वह स्वयं मुझसे कोसों दूर खो गयी है । चॉकलेट जो मुझे दी है, वह मुझे रिझाने को नहीं, बल्कि मुझसे छुटकारा पाने के लिए, जिससे वह बिना किसी विघ्न-बाधा के अपने में सिमटी रह सकें । ऐसे क्षणों में मैं चुपचाप उनकी ओर देखता रहता मुझे अक्सर यह खुशफहमी होती कि वह मेरी बीमारी के संबन्ध में सोच रही है - हालाँकि भीतर ही भीतर मुझे मालुम था कि ऐसे क्षणों में उनके खयालों से मेरा दूर का भी वास्ता नहीं है ।"[६२] इस कारण यह बच्चा अपने अन्दर कुछ दबा रखता है - "किन्तु कुछ चीज़ें हैं, जिन्हें मैं किसी से नहीं पूछता, मन का एक कोना है जिसमें सबकी आँखों से छिपाकर उन्हें दबा देता हूँ ।"[६३]

किन्तु 'एक दिन का मेहमान' में यह स्थिति पिता को भुगतनी पडती है, "वह अंग्रेज़ी में 'यू' कहती थी, जिसका मतलब प्यार में 'तुम' होता था और नाराज़गी में 'आप' । अंग्रेज़ी सर्वनाम की यह सन्दिग्धता बाप-बेटी के रिशते को हवा में टॉगे रखती

---

६१. निर्मल वर्मा - जलती झाडी - माया दर्पण, पृ.२४-३३
६२. निर्मल वर्मा - परिन्दे - अन्धेरे में, पृ.६५-६६
६३. वही, पृ.६८

तरन भी स्वाभाविक रूप से अपने बाबु के साथ घुल-मिल जाना चाहती है । लेकिन उसमें वह घनिष्ठता नहीं आती जिसकी वह कामना करती है, - ''उसने कई बार सोचा है कि वह बरामदे में उनके पास जाकर बैठ जाये, इधर-उधर की बातें करें किन्तु इतने पर भी पाँव नहीं उठते सिर्फ खिडकी से ही वह चुपचाप उन्हें देख रही है । उसे बाबु से एक विचित्र-सा भय लगता था, जिसे मिटाना कभी संभव नहीं हो पाता ।''[६१]

'अन्धेरे में' की बच्ची पर पति-पत्नी के बीच के अलगाव का गहरा असर पडता है । इसकी बच्ची को महसूस होता है कि उसके प्रति माँ के मन में ममता के स्थान पर एक प्रकार की रिक्तता है । वह सोचता है, ''उनकी अँगुलियों के अनिश्चित अर्ध सोये स्पर्श से मुझे पता चल जाता है कि वह स्वयं मुझसे कोसों दूर खो गयी है । चॉकलेट जो मुझे दी है, वह मुझे रिझाने को नहीं, बल्कि मुझसे छुटकारा पाने के लिए, जिससे वह बिना किसी विघ्न-बाधा के अपने में सिमटी रह सकें । ऐसे क्षणों में मैं चुपचाप उनकी ओर देखता रहता मुझे अक्सर यह खुशफहमी होती कि वह मेरी बीमारी के संबन्ध में सोच रही है - हालाँकि भीतर ही भीतर मुझे मालुम था कि ऐसे क्षणों में उनके खयालों से मेरा दूर का भी वास्ता नहीं है ।''[६२] इस कारण यह बच्चा अपने अन्दर कुछ दबा रखता है ''किन्तु कुछ चीज़ें हैं, जिन्हें मैं किसी से नहीं पूछता, मन का एक कोना है जिसमें सबकी आँखों से छिपाकर उन्हें दबा देता हूँ ।''[६३]

किन्तु 'एक दिन का मेहमान' में यह स्थिति पिता को भुगतनी पडती है, ''वह अंग्रेज़ी में 'यू' कहती थी, जिसका मतलब प्यार में 'तुम' होता था और नाराज़गी में 'आप' । अंग्रेज़ी सर्वनाम की यह सन्दिग्धता बाप-बेटी के रिशते को हवा में टॉगे रखती

---

६१. निर्मल वर्मा - जलती झाडी - माया दर्पण, पृ.२४-३३
६२. निर्मल वर्मा - परिन्दे - अन्धेरे में, पृ.६५-६६
६३. वही, पृ.६८

थीं । कभी बहुत पास कभी बहुत पराया - जिसका सही अन्दाज़ उसे सिर्फ लडकी की टोन में टटोलना पडता था ।''[६४]

इस प्रकार निर्मल वर्मा की कहानियों में आज की परिस्थिति के संबन्धों की निरर्थकता की जो विडम्बना है वह अत्यन्त गहराई के साथ प्रस्तुत की गयी है । हम देख चुके हैं कि ये पात्र भी किसी से जुड नहीं पाते । एक प्रकार का खिंचाव हर एक के मन में है । यह आपसी विश्वास को भी नष्ट कर देता है । ये पात्र सारे संबन्धों से मुक्त होकर स्वतंत्र विचरण करना चाहते हैं, पर कर नहीं पाते । इस प्रकार ये पात्र वास्तव में वर्तमान जीवन की विसंगति को झेलते हुए जीने के लिए अभिशप्त दिखायी देते हैं । सचमुच ये मूल्य विघटन के फलस्वरूप उभरे विघटन की त्रासदी को भोग रहे हैं ।

विसंगति का बोध

स्वाधीनता परवर्ती परिस्थिति तथा मोहभंग ने आम आदमी की ज़िन्दगी को बदल डाला । उसने महसूस किया कि जीवन विसंगत है । भविष्य अंधकारपूर्ण है । जीने का कोई अर्थ नहीं । सारे मूल्य विघटित हो गये है । सारे संबन्ध मतलब के हैं । ऐसी एक विपरीत परिस्थिति का सामना करते हुए आदमी ने अनुभव किया कि जीवन निरर्थक है । ज़िन्दा रहने का मतलब विसंगति को झेलते रहना है । इस मानसिकता का चित्रण निर्मल वर्मा की कहानियों में हुआ है ।

'परिन्दे' में यह विसंगति प्रतीक्षा के रूप में उपस्थित है । हर पात्र जीवन में किसी न किसी प्रकार की विसंगति को झेलता रहता है । इसलिए ये लोग प्रतीक्षारत है । पर विडंबना यह है कि इनकी प्रतीक्षा कभी खत्म नहीं होती, ''हर साल सर्दी की छुट्टियों से पहले ये परिन्दे मैदानों की ओर उडते हैं; कुछ दिनों के लिए बीच के इस पहाडी स्टेशन पर बसेरा करते हैं, प्रतीक्षा करते हैं बर्फ के दिनों की, जब वे नीचे, अजनबी अनजाने देशों में

---

६४. निर्मल वर्मा - कव्वे और कालापानी - एक दिन का मेहमान, पृ.१६१

उड जाएंगे ।''[६५] परिन्दे का हर पात्र प्रतीक्षा में है । लेकिन वे यह नहीं जानते कि किसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं या कहाँ जाने की ? ''क्या वे सब प्रतीक्षा कर रहे हैं ? वह डाक्टर मुकर्जी मि. ह्यूबर्ट - लेकिन कहाँ के लिए ? हम कहाँ जाएँगे ।''[६६] ये पात्र बखूबी जानते हैं कि इस पहाडी स्टेशन के बाहर उनकी प्रतीक्षा करनेवाला कोई भी नहीं है । फिर भी प्रतीक्षा करते रहना उनकी विसंगती है ।

'लवर्स' के नायक की स्थिति इससे भी जटिल है, ''प्रतीक्षा करते हुए मैं उस व्यक्ति को बिल्कुल भूल जाता हूँ जिसकी मैं प्रतीक्षा कर रहा हूँ ।''[६७] इसलिए ये पात्र एक ऐसी ज़िन्दगी पसन्द नहीं करते जिसमें उनकी प्रतीक्षा करनेवाला कोई न हो,''मैं ऐसे लोगों की कल्पना नहीं कर सकता जिनका इन्तज़ार कोई नहीं कर रहा हो या जो खुद किसीका इन्तज़ार नहीं कर रहे हों । जिस क्षण आप इन्तज़ार करना छोड देते हैं, उस क्षण आप जीना भी छोड देते हैं ।''[६८]

इस प्रकार ये पात्र अपना इन्तज़ार करने के लिए किसी को चाहते हैं लेकिन घर परिवार इनके लिए एक प्रकार की विडम्बना बन चुके हैं । वे घर के चारदीवारों में बन्द रहना नहीं चाहते । यह आधुनिक मानव की दुविधाग्रस्त स्थिति है । ये पात्र अपने अपने घरों से दूर भागने की छटपटाहट में हैं -

- ''क्या वापस घर जाओगे ? विली ने पूछा''
- ''घर ? नीग्रो छात्र, जार्ज के स्वर में एक सूना-सा खोखलापन उभर आया, मानो 'घर' शब्द बहुत विचित्र हो, जैसे उसने पहली बार उसे सुना हो ?''[६९] 'बीच बहस में' का पिता बहुत दिनों से अस्पताल में है । जब माँ आकर बेटे से पूछती है कि

---

६५. निर्मल वर्मा - परिन्दे - परिन्दे, पृ.१५३
६६. वही, पृ.१५३
६७. निर्मल वर्मा - जलती झाडी, लवर्स, पृ.१०
६८. निर्मल वर्मा - पिछली गर्मियों में - डेढ इंच ऊपर, पृ.३५
६९. निर्मल वर्मा - जलती झाडी - लन्दन की एक रात, पृ.१०२

''घर लौटने केलिए तो जिद नहीं करते ? बेटा पूछता है - ''कैसा घर''[७०]

'इतनी बडी आकांक्षा' का आदमी अपनी औरत को बार से वापस ले जाना चाहता है - वह कहता है,

➢ ''जल्दी करो, वे बन्द कर रहे हैं । आदमी ने अधीरता से कहा ।''

➢ ''कहाँ चलोगे ?''

➢ ''घर .... और कहाँ ?

आदमी ने वोदका का गिलास उसके काँपते हाथों से छीन लिया, फिर उसे अपनी सख्ती पर ही कुछ शर्म भी आयी, शर्म के ऊपर आकांक्षा की हल्की सी तह भी उभर आयी थी

लडकी ने नीरव आँखों से उसकी ओर देखा, फिर धीरे से फुसफुसाकर कहा - घर.... वे जल रहे हैं ।''[७१] 'दो घर' का नायक घर से दूर विदेश में रहता है । कलकत्ता में उसका अपना परिवार है । यहाँ विदेश में भी है । जब 'मैं' ने उनके कलकत्तेवाले परिवार के बारे में जान लिया तो उससे पूछा, ''आप घर क्यों नहीं लौट जाते ? उन्होंने भयभीत दृष्टि से मेरी ओर देखा, ''कौन-सा घर ! मैं आपका मतलब नहीं समझा ।''[७२] इन लोगों के लिए घर एक प्रकार की आतंक भरी जगह है । वे घर शब्द से ही डरते हैं । घर अब सुरक्षा का स्थान नहीं बल्कि खतरे का बन गया है । इसलिए 'जाले' में कहा गया है, ''खतरों की कोई कमी है ? एक कमरे से दूसरे कमरे में जाओ तो बीच में कितने जोखिम, कितने जाल, कितने गड्ढे दिखायी दे जाते हैं ।''[७३]

इन कहानियों में युद्ध का आतंक और उसकी विसंगति का भी चित्रण कई जगहों पर मिलता है । यह आतंक लेखक का अपना अनुभूत आतंक है, ''मैं दो बार -

---

निर्मल वर्मा - बीच बहस में - **बीच बहस में**, पृ.८९-९०

निर्मल वर्मा - पिछली गर्मियों में - **इतनी बडी आकांक्षा**, पृ.१२५

निर्मल वर्मा - बीच बहस में - **दो घर**, पृ.५८

निर्मल वर्मा - सूखा तथा अन्य कहानियाँ - **जाले**, पृ.१८७

लन्दन और पेरिस जाते हुए जर्मनी के बीच से गुज़रा हूँ .... जब कभी मध्व पूरोप से गुज़रता हूँ, मुझे उनका ठण्डा स्पर्श महसूस होने लगता है । मैं पूर्वग्रह-ग्रस्त नहीं हूँ । किन्तु आज भी मैं किसी जर्मन को देखता हूँ तो मेरे भीतर एक फिजूल - बेमानी-सी बेचैनी होने लगती है ।''[७४] 'डेढ़ इंच ऊपर' में जर्मनी की लडाई के अन्तिम दिनों का प्रसंग है । ''सात बरस की विवाहित ज़िन्दगी में यह पहला मौका था जब मैं खाली घर में घुसा था । बिल्ली ? नहीं, उन दिनों वह मेरे पास नहीं थी । दूसरे घरों के पडोसी ज़रूर अपनी अपनी खिडकियों से झाँकते हुए देख रहे थे । यह स्वाभाविक भी था । मैं खुद ऐसे लोगों को खिडकी से झाँककर देखा करता था, जिनके रिश्तेदारों को गेस्टापो पुलिस पकडकर बन्द गाडी में ले जाती थी ।''[७५]

'परिन्दे' में डॉ. मुकर्जी ने बर्मा पर जापानियों के आक्रमण के समय मकानों को ताश के पत्तों के समान ढहते देखा है, ''बहुत साल पहले शहरों को जलते हुए देखा था । एक- एक मकान ताश के पत्तों की तरह गिरता जाता है लडाई के दिनों में अपने शहर रंगून को जलते हुए देखा था ।''[७६] इसी भयानक स्थिति का चित्रण 'डेढ़ इंच ऊपर में' इस प्रकार हुआ है, '' उन दिनों हम सब की कुछ वैसी हालत थी क्योंकि हममें से कोई भी नहीं जानता था कि वे कब अचानक जिसके पीछे अपना फन्दा छोड जाएँगे .... हममें से हर एक आदमी एक भयभीत बच्चे की तरह पीछे मुडकर देख लेता था कि कहीं उसके पीछे तो नहीं है .... जी हाँ उन्हीं दिनों यहाँ जर्मन आए थे ।''[७७]

'डायरी का खेल' में यह विसंगति मृत्यु के रूप में आती है ।

---

७४. *निर्मल वर्मा - चीडों पर चाँदनी - ब्रेख्त और एक उदास नगर, पृ.१६-१७*

७५. निर्मल वर्मा - पिछली गर्मियों में - डेढ़ इंच ऊपर, पृ.३९

७६. निर्मल वर्मा - परिन्दे - परिन्दे, पृ.१४५

७७. निर्मल वर्मा - पिछली गर्मियों में - डेढ़ इंच ऊपर, पृ.३८

- "कुछ देर तक सन्नाटा छाया रहा -
- "तुम्हें मरने से डर लगता है बब्बू ?"
- "तुम्हें लगता है ?"
- "मरने से डर नहीं लगता, लेकिन मरने के बाद क्या होगा, कहाँ जाना होगा, यह सोचते ही लगता है । "[७८]
- "मुझे ट्रेन में बैठकर हमेशा यह लगता है कि किसी समय भी पहिए लाइन से उतर जाएंगे और ट्रेन उलट जाएगी । आखिर छोटे-छोटे पहिए ही तो है कब घूमते हुए फिसल जाये, कौन जाने ? मरने से पहले साते रहना कैसा अजीब होगा, इसी डर में नींद नहीं आती ।"[७९]

यह विसंगति कभी कभी इनके मुँह से निकलते शब्दों में भी झलकती है कभी ो वे जो कुछ कहना चाहते हैं वह कह नहीं पाते, "कुछ शब्द हैं , जो मैंने आज तक नहीं कहे । पुराने सिक्कों की तरह वे जेब में पडे रहते है । न उन्हें फेंक सकता ा भूल पाता हूँ ।"[८०] अपने मुँह से निकले शब्दों पर भी उन्हें विश्वास नहीं "मैं कुछ हीं कहता, क्योंकि कुछ भी कहना कोई मानी नहीं रखता और यह मुझे मालुम है कि कुछ मैं कहूँगा, वह नहीं होगा, जो कहना चाहता हूँ, वह शब्दों से अलग है ।"[८१] ो' की रूनी सोचती है - "लगता है, हम दोनों एक ऐसी स्थिति में पहूँच गये हैं, शब्दों के कोई अर्थ नहीं रह जाते, जहाँ हम बिना सोचे-समझे एक-दूसरे से झूठ बोल ते हैं, क्योंकि झूठ कोई मानी नहीं रखता । लगता है, शब्दों का झूठ-सच हमसे नहीं । है - वे अपनी ज़िम्मेदारी पर खुद खडे हैं ।"[८२]

निर्मल वर्मा - परिन्दे - डायरी का खेल, पृ.२५
वही, पृ.११
निर्मल वर्मा - जलती झाडी - लवर्स, पृ.११
वही, पृ.१७
निर्मल वर्मा - पिछली गर्मियों में - धागे, पृ.१९

'माया का मर्म' में यह विसंगति बेकारी के रूप में आयी है, "छुट्टी ? हाँ, हमारी ो छुट्टी है - वैसे भी तो हर रोज़ छुट्टी ही रहती है ।"[८३]

'तीसरा गवाह' में यह विसंगति मन की अनिश्चित अवस्था के रूप में आती है, हममें शायद कुछ ऐसा है, जो हमेशा अनकहा रह जाता है, जो मौन की छाया में पलता है ौर वही चुपचाप झर जाता है ।"[८४] इसके ठीक उल्टे परिन्दे की लतिका को लगता है ह - "जो वह याद करती है, वही भूलना भी चाहती है ।"[८५]

विसंगति के आतंक के कारण इन पात्रों की हर बातों में, हर आचरणों में एक निश्चितता की स्थिति दिखायी देती है । यह अनिश्चितता उनकी दुहरी मन:स्थिति के ारण उभरी है। "वह सब कुछ निश्चिन्त सी दिखती थी, हालाँकि चेहरे पर अब भी एक धीर सा अधूरापन था जो अकसर उन लडकियों में होता है, जो बैठती है तो लगता है, भी भी उठकर जा सकती है और जब जाने लगती है तो आशा बंधी रहती है कि किसी ो क्षण मुडकर वापस आ सकती है ।"[८६]

कहीं कहीं पर यह विसंगति पीडा को जन्म देती है । 'कुत्ते की मौत' के हर पात्र ा पीडा का शिकार है । मरते कुत्ते की पीडा में इन पात्रों की पीडा को वाणी मिली है । हानी से यही प्रश्न उठता है कि - क्या मृत्यु ही इस पीडा से मृक्ति का मार्ग है ? "फिर ाचानक झटकें से कोई चीज़ लूसी की अन्तिम साँस से छुटकर बाहर आ गयी .... वह .... से लोग पीडा कहते हैं और अब जो खालीपन था लूसी की चीखों से मुक्त खुला ाबाध और गन्धहीन ।"[८७]

---

१. निर्मल वर्मा - परिन्दे - माया का मर्म, पृ.३६
२. निर्मल वर्मा - परिन्दे - तीसरा गवाह, पृ.४८-४९
३. निर्मल वर्मा - परिन्दे - परिन्दे, पृ.१४९
   निर्मल वर्मा - सूखा तथा अन्य कहानियाँ - पहला प्रेम, पृ.२६-२७
४. निर्मल वर्मा - जलती झाडी - कुत्ते की मौत, पृ.५९

विसंगति बोध के कारण कहीं कहीं एक प्रकार का शून्यता बोध उभर आया है । 'अन्धेरे में' के बच्ची में अपनी माँ के प्रति यही शून्यताबोध है "जब कभी मैं माँ की आँखों को देखता हूँ तो न जाने क्यों मुझे उस रात का जंगल के झुरमुट का घना-घना-सा अन्धेरा याद आ जाता है ।"[८८] प्रेम संबन्धों में जो शून्यताबोध है वह 'डायरी का खेल' में द्रष्टव्य है । बब्बु की शून्यता असफल प्रेम से उद्‌भूत है । वह सोचता है, "आज भी जब कभी शाम के धुंधलके में मैं अपने कमरे में अकेला, ऊबा सा, खिडकी से बाहर मकानों की छतों पर उतरती धूप को देखता हूँ तो एक क्षण के लिए ऐसा भ्रम हो जाता है, कि समय के अन्तराल के परे कुछ ऐसा शेष रह गया है, जो बीता नहीं है, जो काल की डोर से नहीं बँध पाया है, जो वर्षों से टूटी पतंग सा शून्य में डगमगात-सा रह गया है - न कहीं गिरता है, न कहीं पकड में आता है ।"[८९]

कभी कभी ये पात्र किसी गंभीर असुरक्षा बोध से आतंकित दिखाई देते हैं । 'डेढ इंच ऊपर' के कथा वाचक के सोचने तक में यह असुरक्षा बोध झलकता है, - "मैं थोडा बहुत सोता ज़रूर हूँ, लेकिन तीन बजे के आसपास मेरी नींद टूट जाती है .... उसके बाद मैं घर में अकेला नहीं रह सकता । रात के तीन बजे यह भयानक घडी है । मैं तो आपको अनुभव से कहता हूँ । दो बजे लगता है अभी रात है और चार बजे सुबह होने लगती है, लेकिन तीन बजे आपको लगता है कि आप न इधर है, न उधर । मुझे हमेशा लगता है कि मृत्यु आने की कोई घडी है तो यही घडी है ।"[९०] इसलिए यह पात्र हमेशा चीज़ों को नज़दीक से जानने से झिझकता है - "मैं खुद कभी कभी कोशिश करता हूँ कि इस आशा के साथ रहना सीख लूँ कि कई चीज़ों को न जानना ही अपने को सुरक्षित रखने का रास्ता है ।"[९१]

---

८८. निर्मल वर्मा - परिन्दे - अँधेरे में, पृ.६७
८९. निर्मल वर्मा - परिन्दे - डायरी का खेल, पृ.१५
९०. निर्मल वर्मा - पिछली गर्मियों में - डेढ़ इंच ऊपर, पृ.३५
९१. निर्मल वर्मा - पिछली गर्मियों में - डेढ़ इंच ऊपर, पृ.३६

इस प्रकार इन कहानियों के पात्र किसी न किसी विसंगति को झेलते हुए दिखाई देते हैं । विसंगति, शून्यताबोध बेकारी कुण्ठा अनास्था जैसी विभिन्न स्थितियों से ये पात्र आतंकित हैं । इस आतंक को ढोते हुए जीनेवाले पात्र है ये । इससे मुक्ति की हर कोशिश उसे और अधिक विसंगत बना देती है । इस प्रकार की त्रासदी को झेलनेवाले पात्र हैं आधुनिक मनुष्य । इस यथार्थ को निर्मल जी ने विभिन्न पात्रों स्थितियों और सन्दर्भों के ज़रिए अभिव्यक्त करने का कार्य किया है ।

अस्मिता की तलाश

अस्मिता वास्तव में व्यक्ति का व्यक्तित्व ही है । जीवन की विसंगति से अवगत व्यक्ति उस यथार्थ को कबूल करते हुए उसकी प्रतिकूलताओं से संघर्ष करते हुए ज़िन्दा रहने की कोशिश करता है । वास्तव में यह कोशिश ही उसकी अस्मिता की तलाश है । आधुनिक जीवन की प्रतिकूलताओं से संघर्ष करते हुए ज़िन्दा रहने का प्रयत्न करनेवाले कुछ पात्र निर्मल जी की कहानियों में दिखाई देते हैं । ये पात्र वास्तव में अपनी अस्मिता के मुताबिक जीने का प्रयत्न कर रहे हैं । याने कि अस्मिता की तलाश कर रहे है । निर्मल वर्मा के शब्दों में - "हर आदमी को अपनी ज़िन्दगी और अपनी शराब चुनने की आज़ादी होनी चाहिए दोनों को सिर्फ एक बार चुना जा सकता है । बाद में हम सिर्फ उसे दुहराते रहते हैं, जो एक बार पी चुके हैं, या एक बार जी चुके हैं ।"[९२] 'माया दर्पण' की तरन इसके लिए सशक्त उदाहरण है - "बरसों पहले सडक पर चलते हुए कोई उसकी ओर देखता तो तन-मन सिहर उठता था । वह दौडकर वापस आती थी, घण्टों आइने के सामने खडी रहती थी । क्या देखते हैं लोग उसमें ? यह प्रश्न कितना विचित्र था और इसका उत्तर पाने के लिए कितनी देर तक दिल धौंकनी की तरह चलता रहता था । आज जब कभी लोग देखते हैं, तो उसे स्वयं अपने पर आश्चर्य होता है । लगता है जैसे वह अपने

---

९२. निर्मल वर्मा - पिछली गर्मियों में - डेढ इंच ऊपर, पृ.३४

ो छोडकर उनके संग मिल गयी है; उन्हीं की कौतूहल-भरी दृष्टि से अपने को देख ी है .... ।''[९३]

'सितम्बर की एक शाम' का नायक भी कुछ ऐसा ही सोचता है - ''उसे लगा, वह च्ची की आँखों से अपने को देख रहा है, मानों बच्ची की आँखें आईना है, जिसमें उसकी न्दगी के सुराख झाँक रहे हैं ।''[९४] 'माया का मर्म' का युवक एक छोटी सी बच्ची के ामने अपनी बेरोज़गारी को उसकी संपूर्णता में स्वीकार करता है । बच्ची और युवक के ीच के संवाद से यह बात स्पष्ट हो जाती है ।

आज सबकी छुट्टी है - तुम्हारी भी होगी ?

छुट्टी ? हाँ हमारी भी छुट्टी है - वैसे भी तो हर रोज़ छुट्टी ही तो रहती है ।''

पहली बार मैं ने अपनी बेकारी को बिना हया शर्म के तसलीम कर लिया ।''

मैं ने पहली बार बेरोज़गारी के इस लंबे और उदास अर्से पर से दरिद्रता की राख को बिना ई के कुरेद दिया । जो अभाव की रिक्तता अब तक चुभती थी, वह अब भी है, किन्तु से वह अपनी न रहकर परायी बन गयी है, जिसे मैं बाहर से तटस्थ भाव से देख सकता - जिसने अब 'छुट्टी' का सहज भाव अपना लिया है ।''[९५] इस प्रकार ये पात्र अपनी ासंगत स्थिति को स्वीकार करके उसके प्रति तटस्थ दृष्टिकोण अपनाते हुए आगे जीने का यत्न करते हैं ।

'अमालिया' में भी यही स्थिति है । लेकिन इसके पात्रों में अपनी स्थिति को कर एक प्रकार की आशंका दृष्टिगत होती है, ''दिन-भर शहर में निरुद्देश्य घूमने के बाद ब हम वहाँ लौटते थे, तो हमेशा एक कडवी-सी गन्ध हमें पकड लेती थी । वह बासी ा की बदबू है, या हमारे अनधुले, सीलन-भरे बिस्तरों की दुर्गन्ध, यह कहना बहुत

---

१. निर्मल वर्मा - जलती झाडी - मायादर्पण, पृ.२५
निर्मल वर्मा - परिन्दे - सितम्बर की एक शाम, पृ.११५-११६
१. निर्मल वर्मा - परिन्दे - माया का मर्म, पृ.३६-३७

मुशकिल था । उसके बारे में हमने अनुमान लगाना छोड दिया था, क्योंकि हमें डर था कि कहीं वह मरे हुए चूहों की गन्ध न हो । डर सबको था, लेकिन उसके बारे में कहता कोई कुछ नहीं था ।''[९६] लेकिन कभी कभी जब ये पात्र अपने अन्दर झांकते हैं तो बहुत भयानक लगता है, "फिर अचानक उसके हाथ ठिठक गए .... नीचे । बर्फ के बहुत नीचे एक गड्ढा दिखायी दिया और उसे लगा उसके अन्दर कोई रो रहा है। उसने नीचे झुककर गड्ढे में देखा लेकिन वहाँ कुछ भी नहीं था, सिर्फ एक हड्डी, पेड की एक डाल और एक काँच का टुकडा पडा था ।''[९७] आधुनिक मनुष्य के मन में अपनी ज़िन्दगी के प्रति जो ऊब है वह इन शब्दों से व्यक्त होता है ।

'इतनी बडी आकांक्षा' में अस्मिता की तलाश इन शब्दों में व्यक्त हुई है, "मैं एक ठण्डी कब्र के नीचे लेटी हूँ .... ऊपर पत्थर है, घास है और हवा है इस धुन की तरह और वे मुझे ढूँढ रहे हैं और मैं उन्हें ढूँढ रही हूँ ।''[९८] ज़िन्दगी की विवशता से सचेत पात्र की छटपटाहट 'लवर्स' में दिखायी देते है, "हम केवल एक-दूसरे की ओर देख सकते हैं और यह जानते हैं कि ये मरते वर्ष के कुछ आखिरी दिन है और बाहर दिसम्बर के उन पीले पत्तों का शोर है, जो दिल्ली की तमाम सडकों पर धीरे-धीरे झर रहे हैं ।''[९९]

अंतराल' कहानी में भी इसी अस्मिता की तलाश की विभिन्न स्थितियाँ दिखायी देती हैं । छोटा भाई, बडे भाई के बारे में सोचता है- "मैं अपना गिलास भरने उठा ही था कि एक अजीब सी कराहट ने मुझे चौंका दिया । इतनी ऊँची नहीं कि दहशत में फैल सके, इतनी धीमी नहीं कि मैं न सुन सकूँ । वह कुछ कह रहे थे, किन्तु वह ऐसी आवाज़ नहीं थी, जिससे शब्द बनते हैं - वह एक बेलौंस लौंदे की तरह आ रही थी, जैसे कोई फँसी हुई

---

९६. निर्मल वर्मा - पिछली गर्मियों में - अमालिया, पृ.७४
९७. निर्मल वर्मा - पिछली गर्मियों में - पिछली गर्मियों में, पृ.१६०
९८. निर्मल वर्मा - पिछली गर्मियों में - इतनी बडी आकांक्षा, पृ.११३
९९. निर्मल वर्मा - जलती झाडी - लवर्स, पृ.१४

चीज़ को बाहर निकालता है और वह हर बार तडप कर पीछे हट जाती थी ।''[१००] तभी कुछ अनहोनी हुई - ''तभी उनका मूँह खुला, जबडों तक खींचता हुआ, एक सीटी सी बजाती फूत्कार बाहर निकाली, दाँतों को कटकटाती हुई, जैसे उन्हें ठंड लग रही हो, जैसे बरसों से कसा पिंजर ढीला पड गया हो, जिसमें से वह बाहर निकल आये थे,बाहर की दुनिया में कुछ स्तम्बित-से, अपने ही खुलेपन से आतंकित, बंधे कुत्ते की तरह, जो अचानक नींद के झोंके में गर्दन को झटका देता है और अचानक पाता है कि उसका पट्टा तो कब का खुल चुका है ।''[१०१]

'कव्वे और कालापानी' का पात्र इसी जीवन सत्य को खोजने के लिए अपने परिवार से दूर पहाड पर आकर बसता है । वह शहर एक प्रकार का ट्रांज़िट स्टेशन है ऐसा कहा गया है, ''आप सोचेंगे, इतना छोटा शहर और इतने कौए ? कहते हैं, इस शहर पर एक शाप पडा था कि यहाँ के सब निवासी मृत्यु के बाद कौए की योनि प्राप्त करते हैं ।

- फिर भी लोग यहाँ रहते हैं?
- हाँ, रहते हैं - क्योंकि एक विश्वास यह भी है कि ये सब कौए मरने पर मोक्ष प्राप्त करते हैं यह शहर एक तरह का ट्रांज़िट स्टेशन है - कौए की योनी और निर्वाण के बीच ।''[१०२]

'सूखा' में बूढी औरत के ज़रिए जीवन की अर्थवत्ता पर प्रश्नहिह्न लगाए गए है ''एक बूढ़ी औरत सैकडों मील की यात्रा करने के बाद उनके झोंपडे में आयी और उनसे पूछा, आप बताइए, कौन सा रास्ता है, सत्य पाने का ? भिक्षुक ने आँखें खोली और बोला, वही रास्ता है जहाँ से तुम आयी हो । मैं अकसर सोचता हूँ । उनका क्या मतलब था ? वह अचानक मेरी ओर मुडे और सीधी आँखों से मुझे देखा आप समझती हैं ?''[१०३]

---

१००. निर्मल वर्मा - सूखा तथा अन्य कहानियाँ - अंतराल, पृ.१७
१०१. वही, पृ.१८
१०२. निर्मल वर्मा - कव्वे और कालापानी - कव्वे और कालापानी. पृ.१३६-१३७
१०३. निर्मल वर्मा - सूखा तथा अन्य कहानियाँ - सूखा, पृ.६२

जीवन के अन्तिम चरण में पहूँचने पर बूढी औरत का इस प्रकार सोचना वास्तव में अपने अस्तित्व के प्रति सजगता का परिणाम है ।

इस प्रकार निर्मल वर्मा की कहानियों के पात्र जीवन का अर्थ तलाशने के लिए मज़बूर हैं । यह तलाश वास्तव में वे अपनी अस्मिता के तहत ही कर रहे हैं । संक्षेप में निर्मल वर्मा की कहानियाँ आधुनिक मानव की मुक्ति की छटपटाहट की कहानियाँ है । इसलिए इनमें उनके अपरिचय, अकेलापन, अनिर्णय, नकार, आसन्न मृत्यु का बोध, मोहभंग, आत्मत्रास, आक्रोश, उदासीनता, ऊब जैसी संस्थितियों के सूक्ष्म चित्र प्रस्तुत किए गए हैं । इस प्रकार आधुनिक मनुष्य की नई संवेदना के संप्रेषण के सिलसिले में निर्मल अन्य नए कहानीकारों की पंक्ति में अग्रणी निकलते हैं ।

संरचना पक्ष

पुराने साहित्य का शिल्प पहले ही निश्चित किया जाता था । पर आधुनिक साहित्य का खासकर स्वाधीनता परवर्ती साहित्य का शिल्प उसके कथ्य के साथ साथ घुल मिल कर रहता है । इसलिए इसका अध्ययन काफी जटिल कार्य है । कहानी के सन्दर्भ में नयी कहानी की अपनी अलग शिल्प परिकल्पना है, जो आदि मध्य और अन्तवाले फार्मुलाबद्ध शिल्प पद्धति से बिल्कुल भिन्न है । इसका कोई पूर्वनिश्चित ढाँचा नहीं है । वह कथ्य के साथ स्वत: ही रूपायित होता है । अत: कई लोगों ने यह आरोप लगाया है कि अब कहानी कहानी नहीं रह गयी है । हकीकत तो यह है कि कहानी ने नयी भावभूमि के संप्रेषण के सिलसिले में अपने ढाँचे को तोडकर नए यथार्थ के अनुरूप अपने रूप को बदल दिया है । डॉ. नामवर सिंह के शब्दों में, "नये भाव सत्य के अनुसार कहानी का रूप बदलता ज़रूर है लेकिन इतना नहीं बदलता कि वह कहानी ही न रहा जाय ।"[१०४]

---

१०४. डॉ. नामवर सिंह - कहानी : नयी कहानी, पृ.२८

नयी कहानी का शिल्प उसके कहानीपन के साथ समाहित हो गया है। इसलिए ानी कभी-कभी शैली के न होने का भ्रम पैदा करती है। नयी कहानी में जीवन के प्रति री संसक्ति है, "जिस कहानी में जीवन की जितनी आसक्ति है उतनी ही उसकी शैली ाकार है यानि एकदम लीन। यह निर्गुण निराकार शैली ही कहानी को अपेक्षित स्थता देती है।"[१०५] जीवन दृष्टि के बदलने के अनुसार उसका कथ्य एवं शिल्प भी श्य बदलता है। नहीं तो कहानी नयी नहीं बनती, "जिसे हम नयी कहानी कहते हैं - परिवर्तित परिवेश और अनुभूतियों का परिणाम तो है ही, इस परिणाम की अभिव्यक्ति ने ल्प और शास्त्र की दृष्टि से भी इसे पुरानी कहानी से अलग कर दिया है।"[१०६] अत: नये ानीकार का आग्रह कहानी की संपूर्णता पर है। कहानी की अन्विति पर ही उनकी दृष्टि न्द्रित रहती है। कहानी के किसी एक पक्ष पर नहीं। उनकी तलाश यथार्थ बोध को के वास्तविक रूप में संप्रषित करने की है। निर्मल वर्मा की कहानियों में इस नए न यथार्थ के संप्रेषण के सिलसिले में रूपायित विभिन्न अभिव्यक्ति शैलियों को हम देख ते हैं।

ना प्रवाह व पूर्वदीप्ति शैली

चेतना प्रवाह एवं पूर्वदीप्ति शैलियाँ प्रमुखत: पाश्चात्य साहित्य की हैं। यह ो स्मृति द्वारा अतीत के अन्धकार को प्रदीप्त करती है। निर्मल की बहुत सारी ानियाँ मुख्यत: अतीत की स्मृतियाँ है।

"अतीत समय के संग जुडा है, इसलिए चेतना नहीं देता, केवल कुछ क्षणों के ् सेन्टिमेन्टल बनाता है।"[१०७] 'डायरी का खेल' में बब्बू के द्वारा बिट्टो की याद इस ार अभिव्यक्त हुई है - "उन दिनों बिट्टो आयी थी। हमें ऐसा लगा था मानों वर्षों से

कमलेश्वर - नयी कहानी की भूमिका, पृ.१६२
राजेन्द्र यादव - कहानी स्वरूप और संवेदना, पृ.९७
निर्मल वर्मा - परिन्दे - डायरी का खेल, पृ.९

हमारे संग रहती आयी हो । जब वह आयी थी; ज़िन्दगी कुछ अधिक समझ में नहीं ती थी । आज जब थोडी बहुत समझ में आयी है, तो वह नहीं हैं । किन्तु बिट्टो की ति सेन्टिमेन्टल नहीं बनाती, वह अतीत का भाग नहीं है, जो कि याद करके भुलाया जा ६ । हममें ऐसा कुछ होता है, जो न होकर भी संग-संग चलता है जिसे याद नहीं किया ता क्योंकि उसे वह कभी भूलता नहीं ।''[१०८]

'तीसरा गवाह' में रोहतगी साहब क्लब में स्काच पीते पीते अपनी कहानी सुनाने ाते हैं, ''उन दिनों मैं शहर के एक बहुत पुराने पिछडे इलाके में रहा करता था । आमदनी ा थी, लेकिन मेरी ज़िम्मेदारियाँ ज्यादा नहीं थी .... किसी हद तक मैं अपने को खुश समत कह सकता हूँ, क्योंकि सिवा इन घटना के जो मैं आपको सुनाने जा रहा हूँ, मुझे ाने सीमित घेरे से बाहर निकलने की कभी आकांक्षा तक नहीं हुई ।''[१०९]

'परिन्दे' की लतिका गिरीश नेगी के साथ जुडी हुई नज़र आती है - ''ह्यूबर्ट ही ं, वह क्या किसी को भी चाह सकेगी, उस अनुभूति के संग, जो अब नहीं रही, जो या सी उस पर मँडराती रहती है न स्वयं मिटती है न उसे मुक्ति दे पाती है ।''[११०] 'धागे' बहुत सारी स्मृतियाँ आती हैं - बचपन के खेल, होस्टल की स्मृतियाँ आदि । ''हम क्षण भूल गए कि इन बरसों के दौरान में ढेर सी उम्र हम पर लद गयी है कि बरसों ले उसका विवाह हुआ था और मैं एक बच्ची की माँ हूँ । हम दरवाज़े पर खडे-खडे देर ; एक दूसरे को वे बातें याद दिलाते रहे, जो हम दोनों को मालुम थी, जिन्हें हमने कितनी दुहराया था, किन्तु हर बार यह लगता था कि हम उन्हें भूल गए हों, हर बाार हम उन्हें ारा याद करने का, बहाना सा करते थे ।''[१११]

निर्मल वर्मा - परिन्दे - डायरी का खेल, पृ.९
निर्मल वर्मा - परिन्दे - तीसरा गवाह, पृ.४३
निर्मल वर्मा - परिन्दे - परिन्दे, पृ.१२७
निर्मल वर्मा - पिछली गर्मियों में - धागे, पृ.१२

''डेढ़ इंच ऊपर' में पत्नी की मृत्यु के वर्षों पश्चात् एक पेंशनयाफता बूढा शराब घर में अपनी स्मृतियों को खोलते हुए दिखायी देता है, ''मैं ने लोगों से कहते सुना है कि समय बहुत कुछ सोख लेता है .... क्या आप भी ऐसा सोचते हैं ? मुझे मालुम नहीं लेकिन मुझे कभी कभी लगता है कि वह सोखता उतना नहीं जितना बुहार देता है - अंधेरे कोनें में या कालीन के नीचे, ताकि बाहर से किसी को दिखाई न दे । लेकिन उसके पंजे हमेशा बाहर रहते हैं, किसी भी अनजानी घडी में वे आपको दबोच सकते हैं ।''[११२]

'पिछली गर्मियों में' का नायक हमेशा पिछली गर्मियों में घूमता हुआ नज़र आता है । 'खोज' में तकिए पर पडा पुतुल भाई का एक बाल अनेक पुराने स्मृतियों को खोल देता है, ''उस कोने में मेरी अलमारी थी .... उसने बहुत धीमे से कहा, लगभग फुसफुसाते हुए, जैसे उसकी स्मृति एक चिडिया हो, जिसे पकडने के लिए बहुत दबे पॉव, साँस रोककर चलना होगा - अगर उसे ज़िन्दा ही पकडना हो, जैसी वह है । जैसी वह थी और अब नहीं है ।''[११३]

'दहलीज' की रूनी किसी पुराने सपने में धीमें कदम से चलने लगती है, ''पिछली रात रूनी को लगा कि इतने बरसों बाद कोई पुराना सपना धीमे कदमों से उसके पास चला आया है, वही बंगला था, अलग कोने में पत्तों से घिरा हुआ वह धीरे धीरे फाटक के भीतर घुसी है मौन की अथाह गहराई में लान डूबा है शुरू मार्च की बसन्ती हवा घास को सिहरा-सहला जाती है बहुत बरसों पहले के एक रिकार्ड की धुन छतरी के नीचे से आ रही है .... ताश के पत्ते घास पर बिखरे हैं .... लगता है, जैसे शम्मी भाई अभी खिलखिलाकर हँस देंगे और आपा (बरसों पहले जिन का नाम जेली था) बंगले के पिछवाडे क्यारियों को खोदती हुई पूछेंगी - रुनी ज़रा मेरे हाथों को देख, कितने लाल हो गये

---

११२. निर्मल वर्मा - पिछली गर्मियों में - **डेढ इंच ऊपर**, पृ.३७-६८
११३. निर्मल वर्मा - पिछली गर्मियों में - **खोज**, पृ.५०

है ।''[११४] 'माया दर्पण' का पिता भी इसी अतीत स्मृति को लिए हुए हमेशा दिखायी देते हैं ।

इस प्रकार इन कहानियों में निर्मल जी अतीत स्मृतियों के द्वारा कथ्य एवं घटनाओं को प्रस्तुत करते हुए दिखायी देते हैं । इस शैली के द्वारा लेखक ने पात्रों के मस्तिष्क में प्रत्येक क्षण में उठनेवाले विचारों का यथावत् अंकन किया है ।

प्रतीकात्मक शैली

आज के व्यस्त संकुल एवं संश्लिष्ट जीवन के यथार्थ को अभिव्यक्त करने के लिए यह शैली अत्यन्त सफल है । स्वातन्त्र्योत्तर कहानी में उसका प्रयोग अधिकांश कहानीकारों ने किया है । 'परिन्दे' कहानी के पात्र परिन्दे के समान हैं । परिन्दों के लिए निश्चित डेरा नहीं है । इनका डेरा जो है बिखर गया है । अपनी पीडा को लेकर वे भटकते रहते हैं । ये लोग कही भी उडकर जा नही सकते, क्योंकि उनके अतीत का बन्धन है उनके ऊपर । इसलिए वे स्वतन्त्र नहीं । कहीं पर भी अपना डेरा जमा नहीं सकते, ''हर साल सर्दी की छुट्टियों से पहले ये परिन्दे मैदानों की ओर उडते हैं; कुछ दिनों के लिए बीच के इस पहाडी स्टेशन पर बसेरा करते हैं; प्रतीक्षा करते हैं, बर्फ के दिनों की, जब वे नीचे अजनबी, अनजाने देशों में उड जाएँगे । क्या वे सब प्रतीक्षा कर रहे हैं ? वह, डॉक्टर मुकर्जी, मि. ह्यूबर्ट; लेकिन कहाँ के लिए हम कहाँ जाएँगे ?''[११५]

'मायादर्पण' की तरन के जीवन के बिखराव को इंजिनीयर के पदचाप से व्यक्त किया गया है, ''उसी समय सीढियों पर भारी पदचाप सुनायी दी । तरन की आँखें अनायास खिडकी की ओर उठ गयी, इंजिनीयर बाबु आये थे । यह इंजिनीयर बाबु भी अजीब हैं । इस तरह धम धम करते आते हैं कि सारा घर हिल उठता है ।''[११६] यहाँ घर

---

११४. निर्मल वर्मा - जलती झाडी - दहलीज, पृ.८७
११५. निर्मल वर्मा - परिन्दे - परिन्दे, पृ.१५३
११६. निर्मल वर्मा - जलती झाडी - माया दर्पण, पृ.२४

का हिलना तरन के व्यक्तित्व के हिलने का प्रतीक है । एक दूसरा उदाहरण प्रस्तुत है - "दूर-दूर तक रेतीली ज़मीन फैली थी । अस्त होने से पहले सूरज की पीली किरणें कच्चे सोने की-सी रेत पर बिखर गयी थीं । नयी सडक के दोनों ओर रोडी-पत्थरों के ढेर छोटे-छोटे `पिरामिड-जैसे खडे थे । उन्हीं के संग-संग चलती हुई तरन पानी के ग्लास टैंक तक पहूँच गयी थी ।"[११७] इसमें रेतीली ज़मीन तरन के जीवन की रिक्तता की ओर इशारा है । कच्चे सोने की सी रेत तरन है । रोडी पत्थरों का ढेर बाबु के अंह को सूचित करता है और ग्लासटैंक इंजिनीयर बाबु की ओर इशारा करता है । 'पहाड' में बच्चा एक प्रकार से पति-पत्नी के बीच पहाड बनकर उपस्थित है - "हमें इसे यहाँ नहीं लाना था ।"[११८] यह वाक्य इसी बात का सूचक है ।

पिछली गर्मियों में' निन्दी को लगाता है, "वह चमगादड की तरह दीवार से चिपका खडा रहता । चाँदनी रात में उसकी धुंधली छाया दीवार पर एक बेडौल पशु-सी पडती रहती ।"[११९]

'कव्वे और कालापानी' में यह प्रतीक मानवीय अस्तित्व से जुडकर आता है -

- "इतना छोटा शहर और इतने कौए ? कहते हैं इस शहर पर एक शाप पडा था कि यहाँ के सब निवासी मृत्यु के बाद कौए की योनी प्राप्त करते हैं ।"
- "फिर भी लोग यहाँ रहते हैं ?"
- "हाँ रहते हैं - क्योंकि एक विश्वास यह भी है कि ये सब कौए मरने पर मोक्ष प्राप्त करते हैं ।"
- "यह शहर एक तरह का ट्रांज़िट स्टेशन है कौए की योनी और निर्वाण के

---

११७. निर्मल वर्मा - जलती झाडी - माया दर्पण, पृ.३५
११८. निर्मल वर्मा - जलती झाडी - पहाड, पृ.६५
११९. निर्मल वर्मा - पिछली गर्मियों में - पिछली गर्मियों में, पृ.१३२

➢ बीच ।''[१२०]

यह कौए का प्रतीक मनुष्यकी विडम्बनात्मक स्थिति की ओर इशारा करता है । इसी प्रकार 'सूखा' कहानी में ''आप क्या सोचती हैं .... सूखा क्या सिर्फ बाहर पडता है ?''[१२१] इस कहानी में सूखा के द्वारा कहानीकार ने संपूर्ण मानवराशी के रुखेपन की ओर इशारा किया है । 'कुत्ते की मौत' कहानी में यह मौत एक छाया की तरह विद्यमान है । इस प्रकार के प्रतीकों के सहारे निर्मल वर्मा ने वातावरण में अजीब सी जीवन्तता लाने की कोशिश की है ।

प्रलापीय शैली

प्रलापीय शैली में सूत्रबद्ध चिन्तन के रूप में कहानी लिखी जाती है । किन्तु चिन्तन सूत्रों की कोई सुनिश्चित श्रृंखला नहीं होती, वे प्राय: बिखरे रहते हैं । ऊपरी तौर पर निरर्थक तथा असंबद्ध दिखनेवाली इस शैली में गहन सुनिश्चित अर्थ - संकेत विद्यमान हैं । निर्मल वर्मा की 'डेढ इंच ऊपर' कहानी प्रलापीय शैली में लिखी गयी कहानी है । इस कहानी में मध्यम पुरुष की कल्पना करके नायक कभी संलाप करता हैं और कभी एकालाप । उसका चिन्तन गहरे अर्थबोध का संकेत देता है, ''हर आदमी को अपनी ज़िन्दगी और अपनी शराब चुनने की आज़ादी होनी चाहिए .... दोनों को सिर्फ एक बार चुना जा सकता है । बाद में हम सिर्फ उसे दुहराते रहते हैं, जो एक बार पी चुके हैं या एक बार जी चुके हैं ।''[१२२] ''मैं ऐसे लोगों की कल्पना नहीं कर सकता जिनका इन्तज़ार कोई नहीं कर रहा हो या जो खुद किसी का इन्तज़ार नहीं कर रहे हों । जिस क्षण आप इन्तज़ार करना छोड देते हैं, उस क्षण आप जीना भी छोड देते हैं ।''[१२३]

---

१२०. निर्मल वर्मा - कव्वे और कालापानी - कव्वे और कालापानी, पृ.१३७
१२१. निर्मल वर्मा - सूखा तथा अन्य कहानियाँ - सूखा, पृ.८५
१२२. निर्मल वर्मा - पिछली गर्मियों में - डेढ इंच ऊपर, पृ.३४
१२३. वही, पृ.३५

"आप डरिए नहीं मैं पीने की अपनी सीमा जानता हूँ .... आदमी को ज़मीन से करीब डेढ इंच ऊपर उठ जाना चाहिए । इससे ज़्यादा नहीं, वरना वह ऊपर उठता जाएगा और फिर इस उडान का अन्त होगा पुलिस स्टेशन में या किसी नाली में जो ज्यादा दिलचस्प चीज़ नहीं ।"[१२४]

"मैं खुद कभी कोशिश करता हूँ कि इस आशा के साथ रहना सीख लूँ कि कई चीज़ों को न जानना ही अपने को सुरक्षित रखनेका रास्ता है ।"[१२५]

"चुनने की खुली छूट से बडी पीडा कोई दूसरी नहीं ।"[१२६]

'वीकएण्ड' में भी इस प्रलापीय शैली की एक छोटी सी झलक मिलती है । "कभी-कभी ऐसा होता है कि आदमी जीता हुआ भी करीब-करीब मरने की सीमा तक पहूँच जाता है - मरता नहीं; लेकिन मरते हुए प्राणी की तरह सारी ज़िन्दगी घूम जाती है । मेरी गो राउण्ड की तरह सब चुके हुए मौके और आधे फैसले काठ के घोडों की तरह एक -दूसरे के पीछे भागते हैं लेकिन उनके बीच का अंतर वही रहता है, जैसा शुरू में था - कोई किसी को पकडता नहीं ।"[१२७]

इस प्रकार प्रलापीय शैली द्वारा कहानी को अर्थ संकेतात्मक बना देने में निर्मल जी सफल निकले हैं ।

आत्मकथात्मक शैली

इस शैली से पाठकों को ऐसा लगेगा कि वे लेखक की निजी अनुभूति को पढ़ रहे हैं । निर्मल वर्मा की बहुत सारी कहानियों में आत्मकथात्मक शैली का प्रयोग हुआ है । 'जलती झाडी' का आरम्भ इस प्रकार है - "मैं उस शहर में पहली बार आया था । सोचा

---

१२४. निर्मल वर्मा - पिछली गर्मियों में - डेढ इंच ऊपर, पृ.३६
१२५. वही, पृ.३६
१२६. वही, पृ.४४
१२७. निर्मल वर्मा - बीच बहस में - वीक एंड, पृ.४७

था, चन्द दिन यहाँ रहकर आगे चला जाऊँगा किन्तु कुछ अप्रत्याशित कारणों से रुक जाना पडा ।''[१२८] 'पराए शहर में' कहानी में - ''मैं चियान्ती पीने के लिए स्क्वायर के एक सस्ते रेस्तराँ में बैठ गया । अब मैं दूसरे लोगों की तरह था । वे मुझे नहीं देख रहे थे और पराये शहर में अगर तुम्हें कोई नहीं देख रहा हो, तब अकेलापन नहीं लगता ।''[१२९] 'दो घर' में - ''मैं भी उन्हें अनावश्यक विस्तार से सब कुछ बताने लगा - अपनी यात्राओं के बारे में, उन सब शहरों के बारे में - जहाँ-जहाँ मैं गया था; बिना इस चीज़ का ध्यान किए कि वे एकटक अपलक आँखों से मुझे घूरे जा रही है ।''[१३०]

इस प्रकार वर्मा जी ने बहुत सारी कहानियों में आत्मकथात्मक शैली का प्रयोग करके नयी कहानी की नयी संवेदना की अभिव्यक्ति क्षमता को बढाने का कार्य किया हैं ।

घटना की सूक्ष्मता

नयी कहानी ने जीवन की अत्यन्त सूक्ष्म घटनाओं और उनसे संबन्धित भावों तथा पात्रों की मन:स्थितियों को उद्‌घाटित किया है । निर्मल वर्मा की लगभग सभी कहानियों में घटनाओं की सूक्ष्मता दिखायी देती है ।

'सितम्बर की एक शाम' में बेरोजगार युवक का घास पर लेटना, छोटी सी बच्ची के सामने अपनी बेरोज़गारी को बिना किसी हया शर्मा के प्रस्तुत करना आदि । वही बेराजगार युवक जब 'माया का मर्म' में आता है तो अपनी बेरोज़गारी के कारण घर छोड देता है । परिवार के किसी भी सदस्य का सामना वह नहीं कर पाता । उसी प्रकार 'पिक्चर पोस्टकार्ड' में ये बेरोज़गार लडके हमेशा किसी रेस्तराँ में बैठे रहते हैं ।

'पिछली गर्मियों में' का नायक विदेश से आया है । वह किसी के भी साथ पूर्ण रूप से मिल नहीं पाता । क्योंकि वहाँ उसका अपना एक परिवार है जिसके बारे में घरवाले

---

१२८. निर्मल वर्मा - जलती झाडी - जलती झाडी, पृ.७३
१२९. निर्मल वर्मा - जलती झाडी - पराये शहर में, पृ.७१
१३०. निर्मल वर्मा - बीच बहस में - दो घर, पृ.५१

अनजान है । वह इस सच्चाई को दूसरों के सामने प्रस्तुत करने से झिझकता है । 'दो घर' में भी यही समस्या है । पहले कलकत्ता में उसका एक परिवार था और अब विदेश में भी है । इसलिए अपने कलकत्तेवाले घरके बारे में सुनते ही वह भयाकुल हो उठता हैं और उसकी सॉस रुक जाती जैसी लगती है ।

'धागे' कहानी में रुनी का अपनी बडी बहन के पति के साथ संबन्ध है । इसके कारण वह हमेशा उखडी-उखडी दिखायी देती है । उसी प्रकार 'अंधेरे में' की माँ का पति के भाई के साथ संबन्ध है जिसके बारें में उसका छोटा बच्चा और पति जानते हैं । इसलिए इस परिवार में एक प्रकार का अलगाव दिखायी देता है । 'बावली' कहानी में लडकी के पिता के बाहर जाने पर उसकी माँ से मिलने के लिए एक आदमी आता है । इस वजह से यह लडकी हमेशा आतंकित रहती है ।

'लन्दन की एक रात', 'कुत्ते की मौत' जैसी कहानियों में आदि से अन्त तक एक प्रकार की पीडा और आतंक की छाया बनी रहती है । 'लन्दन की एक रात' में लगता है रात का होना ही एक प्रमुख घटना है । 'बीच बहस में', 'अंतराल' जैसी कहानियों में किसी के मरने की प्रतीक्षा करते हुए दिखायी देते हैं । 'बीच बहस में' कहानी का पात्र बूढा आदमी है । परिवार के कोई भी सदस्य उनकी देखभाल करना नहीं चाहता । लेकिन 'अंतराल' में स्थिति बिल्कुल अलग है । इसका पात्र किसी दहशत में घिरा हुआ लगता है । उनकी इस आतंक की स्थिति को घरवाले नहीं समझ पाते । इसलिए वे उनकी मृत्यु की कामना करते हैं । 'कव्वे और कालापानी', 'सूखा' जैसी कहानियों में एक प्रकार की रहस्यात्मकता दिखायी देती है । अपने अस्तित्व की खोज में निकले आदमी की गाथा लगती है ।

ये सभी सामान्य सी घटनाएँ हैं । ऐसी घटनाएँ जो कि हर पल हर किसी के साथ घटित हो सकती है । लेकिन सामान्य मनुष्य इसको नज़रअन्दाज़ कर देता है । निर्मल

वर्मा ने ऐसे ही निरर्थक लगनेवाली सामान्य घटनाओं को सूक्ष्म रूप से पहचानकर उसे कहानी के कलेवर में प्रस्तुत किया है । इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जीवन की अनुभूति दे सकनेवाले हर क्षण का अपना महत्व होता है । इस प्रकार के अनुभूति-क्षणों को सूत्रबद्ध करने के लिए चेतना प्रवाह या पूर्वदीप्ति शैली, प्रतीकात्मक शैली, प्रलापीय शैली आदि का प्रयोग किया गया है । इस प्रकार ज़िन्दगी के अकिंचन क्षणों को मूर्त करके जीवन्तता प्रदान करने में निर्मल जी की रचनात्मक शैली सक्षम निकली है ।

कहानियों की भाषिक संरचना

शिल्प के विभिन्न तत्वों मेंभाषा एक प्रमुख अंग है। भाषा अभिव्यक्ति के सभी साधनों में सर्वाधिक सशक्त एवं महत्वपूर्ण है । अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त भाषा हर रचनाकार की चुनौती है । क्योकि उनके सामने जीवन का विशाल यथार्थ उसकी पूरी जटिलताओं के साथ वर्तमान है । उन्हें सार्थक अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए सशक्त एवंसक्षम भाषा अनिवार्य है । जीवनानुभव के निकट की भाषा के बिना कहानी संप्रेषणीय नहीं बनती । स्वाधीनता परवर्ती हिन्दी कहानी की भाषा इतनी निखरी हुई है कि उसमें व्यापक जीवन यथार्थ के सूक्ष्म से सूक्ष्म सन्दर्भ को सहज संप्रेषणीय बनाने की क्षमता है, "हिन्दी गद्य का अत्यन्त निखरा हुआ रूप आज की कहानी में ही सबसे अधिक मिलता है ।"[१३१] नयी कहानी में नयी भाषा की तलाश देख सकते हैं, जिससे वर्तमान यथार्थ को उसकी पूरी वास्वविकताओं के साथ संप्रेषित कर सके, "नये कहानीकार ने इसी भाषा की खोज की है, अपने भीतर से अपने समय से ।"[१३२] निर्मल वर्मा की भाषा इसी प्रकार की है- "उनका गद्य शुद्ध गद्य है - ठेठ वाचक शब्द, विशेषणहीन संज्ञाएँ, उपमारहित पद तथा स्वतंत्र वाक्य । अलग अलग करके देखने पर हर शब्द मामूली है, हर वाक्य साधारण है लेकिन पूरा प्रभाव ज़बरदस्त है, गद्य की रुखाई से भी, वे स्थितियों के

---

१३१. डॉ. नामवर सिंह - *कहानी नयी कहानी*, पृ.२३
१३२. गंगा प्रसाद विमल - आधुनिक हिन्दी कहानी, पृ.१११

अनुरोध से कवित्वपूर्ण प्रभाव उत्पन्न कर ले जाते हैं ।''[१३३] उनकी भाषा की कुछ विशेषताएँ हैं - संगीतात्मकता, सांकेतिकता, प्रतीकात्मकता, ध्वन्यात्मकता, बिम्बात्मकता आदि ।

संगीतात्मकता

निर्मल वर्मा की भाषा की सबसे बडी विशेषता है इसकी संगीतात्मकता । उनकी कहानियों का संगीत जैसा आस्वादन कर सकते हैं । यह उनकी भाषा की विशेषता ही है, ''संगीत की जैसी सूक्ष्म संवेदना निर्मल ने व्यंजित की है, वह नयी कहानी की बहुत बडी उपलब्धि है ।''[१३४] उनकी कहानियों में संगीत के बहुत सारे प्रकरण आए है गीति लय के कारण शब्द कहीं कहीं पर इतने पारदर्शी हो गए हैं कि उसे सुनने के बाद देख भी पाते हैं, ''अब अँधेरा-सा - दुपहर की रोशनी के बीच एक काला द्वीप, गर्म, साफ, उसकी साँसों को सहता, समोता हुआ, कहीं कुछ गलत है, उसने सोचा, कहीं कुछ इतना ज़्यादा गलत है कि लगभग सही जान पडता है । उसने अन्धेरे में टटोल कर अपने मुख को बाहर निकाला, एक सन्दिग्ध सिक्के की तरह उसे खटखटाया बहुत ध्यान से उसकी खनक को सुना कान लगाकर जैसे सब कुछ उस पर निर्भर हो । सिर्फ हवा की गूँज थी - और कुछ नहीं । मिटती दुपहर का सन्नाटा और बच्ची की चीखें थीं । पंखों से भी ज्यादा हल्की । वे सब असली थी - उसके अपने नकली अँधेरे में ।''[१३५] यहाँ शब्द एक के बाद एक होकर किसी लय के साथ आते हैं ।

परिन्दे की संपूर्ण रचना प्रक्रिया संगीतधर्मी है - ''उसी क्षण पियानो पर शोपां का नोक्टर्न ह्यूबर्ट की अंगुलियों के नीचे से फिसलता हुआ धीरे-धीरे छत के अँधेरे में घुलने लगा - मानों जल पर कोमल स्वप्निल उर्मियाँ भवरो का झिलमिलाता जाल बुनती हुई दूर-

---

१३३. डॉ. प्रेमसिंह - निर्मल वर्मा सृजन और चिंतन, पृ.२२

१३४. डॉ. नामवर सिंह - कहानी नयी कहानी, पृ.४४

१३५. निर्मल वर्मा - बीच बहस में - वीकएण्ड, पृ.४०-४१

दूर किनारों तक फैलती जा रही हो ।''[१३६] मि. ह्यूबर्ट इसमें एक पियानोवादक के रूप में आता है - ''पियानो के संगीत के सुर रुई के छुई मुई रेशे की भाँति अब तक उसके मस्तिष्क की थकी माँदी नसों पर फडफडा रहे थे । उसे लगता था कि संगीत के एक नोट को दूसरे नोट में उतारने के प्रयत्न में वह एक अँधेरी खाई पार कर रहा है । आज चैपल में मैं ने जो महसूस किया वह कितना रहस्यमय कितना विचित्र था, ह्यूबर्ट ने सोचा । मुझे लगा, पियानों का हर नोट चिरन्तन खामोशी की अँधेरी खोह से निकलकर बाहर फैली नीली धुंध को काटता, तराशता हुआ एक भूला-सा अर्थ खींच लाता है ।''[१३७] डॉ. नामवर सिंह का यह कथन यहाँ अत्यन्त समीचीन लगता है कि - ''बहरहाल कहानी प्रभाव की दृष्टि में, संगीत की हद तक छू सकती है या नही, मुझे नहीं मालुम; लेकिन इतना मालुम है कि निर्मल वर्मा की कहानियाँ संगीत का सा प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ हैं ।''[१३८]

सांकेतिकता

निर्मल वर्मा ने सांकेतिकता के सहारे भाषा के नये अर्थ सन्दर्भों की तलाश की है । इससे उनकी व्यंजना शक्ति का विकास हुआ है । कहानी की अन्तर्निहित स्थितियों और मानव जीवन की विभीन्न समस्याओं को निर्मल वर्मा ने सांकेतिक भाषा के सहारे ही व्यक्त किया है । 'जलती झाडी' में नायक झाडी की ओर बढ़ता है तो उसके पास खडी लडकी उसकी तरफ आतुर एवं विह्वल दृष्टि से देखती है । अत: नायक के मन पर इसकी क्या प्रतिक्रिया हुई, इसे सांकेतिक रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है, ''एक देखना होता है, जिसमें हम बंध जाते हैं, सिमट जाते हैं । उसका देखना ऐसा नहीं था । वह देख रही थी, मुझे धकेलते हुए जैसे अपने से अलग करते हुए और मैं ठहर जाता हूँ - अपने को खींचकर रुक जाता हूँ । ज़िन्दगी में जवाबदेही का लमहा एकदम किस तरह आ जाता है ।

---

१३६. निर्मल वर्मा - परिन्दे - परिन्दे, पृ.१२६
१३७. वही, पृ.१३९
१३८. डॉ.प्रेमसिंह - निर्मल वर्मा सृजन और चिंतन, पृ.१५

जब हम उसकी बहुत कम प्रतीक्षा कर रहे होते हैं .... किन्तु हम ताकतवर हैं और अपने को छुडा लेते हैं और सोचते हैं यह एक दुस्वप्न है जो कभी बीत जाएगा और आँखें खोलकर वही देख लेंगे, जो देखना चाहते हैं, जिसके हम आदी हैं और फिर हम जवाबदेह नहीं रहेंगे, किसी के भी नहीं, किसीके प्रति भी नहीं ।''[१३९]

'डेढ इंच ऊपर' में नारी के बारे कहते हैं - ''सच बात यह है और यह मैं अनुभव से कह रहा हूँ कि बिल्ली को औरतों की तरह आप आखिर तक सही सही नहीं पहचान सकते - चाहे आप उसके साथ वर्षों से ही क्यों न रह रहे हों । इसलिए नहीं कि वह खुद जान-बूझकर कोई चीज़ छिपाए रखती हैं, बल्कि खुद आप में ही इतना हौसला नहीं रहता कि आप आखिर तक उनके भीतर लगे दरवाज़ों को खोल सकें ।''[१४०]

प्रतीकात्मकता

प्रतीकों के माध्यम से निर्मल वर्मा ने कहानियों को विशिष्ट माहौल प्रदान किया है । पात्रों की अतीन्द्रिय अनुभूति को उन्होंने इन प्रतीकों के सहारे प्रस्तुत किया है । समाज में अपनी विसंगत स्थिति को समझते हुए भी, उसके प्रति कैसा व्यवहार करना है या उससे अपनी प्रतिक्रिया कैसे प्रकट करनी है इन सब बातों से पूर्ण रूप से अवगत होकर भी निस्संग,उदासीन और निर्विकार रूप में अपने जीवन को झेलने के लिए अभिशप्त मनुष्य की विडंबना को इन वाक्यों में प्रतीकीकृत किया गया है, ''दरवाज़े से चिपटा, लुटा-पिटा मैं उन्हें देखता रहा, एक सम्मोहित पशु-सा जो भय और मोह के बीच जड पुतले सा खडा रहता है ।''[१४१] आधुनिक समाज में जीने के लिए समाज से परिवार से यहाँ तक कि अपने आप से भी जूझनेवाले मनुष्य का प्रतीक इसमें व्यक्त हुआ है - ''और तब उसे मायावी सा भ्रम होता है कि समूचा अस्पताल जहाज़ हो, लहरों से जूझता

---

१३९. निर्मल वर्मा - जलती झाडी - जलती झाडी, पृ.८५-८६
१४०. निर्मल वर्मा - पिछली गर्मियों में - डेढ इंच ऊपर, पृ.३६
१४१. निर्मल वर्मा - कव्वे और कालापानी - कव्वे और कालापानी, पृ.१३९

हुआ ....।''[१४२] अपने जीवन के अन्तिम समय में ज़िन्दगी की विडंबनाओं से जूझनेवाले मनुष्य का रूप इसमें झलकता है ।

बिम्बात्मकता

नयी कहानी की और एक विशेषता है उसकी बिम्बात्मक भाषा । बिम्ब विधान के कारण भाषा सजीव एवं चित्रात्मक रूप ग्रहण करती है - निर्मल वर्मा ने 'लन्दन की एक रात' में चमकते प्रकाश को बिम्ब रूप प्रदान किया है, ''दूर कारखानों के धुँए के परे ट्यूब स्टेशन की बत्तियाँ चमक रही थीं, लगता था जैसे धरती का कोई टुकडा अचानक बीच में से फट गया हो और उसके नीचे से हीरों की चमचमाती झालर ऊपर निकल आयी हो ।''[१४३] परिन्दे में लतिका देखती है - ''अल्मोडा की ओर से आते हुए छोटे-छोटे बादल रेशमी रूमालों से उडते हुए सूरज के मूँह पर लिपटे से जाते थे, फिर हवा में निकलते थे । इस खेल में धूप कभी मन्द, फीकी सी जान पडती थी, कभी अपना उजाला खोलकर समूचे शहर को अपने में समेट लेती थी ।''[१४४] ऐसे सजीव बिंबों के द्वारा ही निर्मल की कहानियाँ पाठकों के मन में वे संवेदनाएँ जगा देती हैं जिनकी प्रतिच्छवियाँ मन की गहराई में बनी रहती है ।

इस प्रकार निर्मल वर्मा अपनी कहानियों में सांकेतिकता, संगीतात्मकता, प्रतीकात्मकता और बिम्बात्मकता के सहारे भाषा को जीवन्तता प्रदान करने में सफल निकले हैं । भाषा की ऐसी क्षमता के बिना वर्तमान जीवन यथार्थ की जटिलता की अभिव्यक्ति सार्थक नहीं हो पाती थी । अत: निर्मल जी सार्थक भाषा के कुशल शिल्पी हैं । वे बडी सावधानी से सूक्ष्मता के साथ ही शब्दों का प्रयोग करते हैं, ''बडे प्यार - दुलार से शब्दों को उठाते हैं और पास पास रखते हैं । उन्हें हमेशा साफ सुथरा रखने के

---

१४२ निर्मल वर्मा - बीच बहस में - बीच बहस में, पृ.८२
१४३. निर्मल वर्मा - जलती झाडी - लन्दन की एक रात, पृ.१०२
१४४. निर्मल वर्मा - परिन्दे - परिन्दे, पृ.१४०-१४१

लिए उन्हें झाडते पोंछते भी रहते हैं । शब्दों को बरतना उन्हें आता है । वे शब्दों को फुसलाना और उनसे अपने मतलब की बात कहलवा लेना जानते हैं ।''[१४५] इसी क्षमता के कारण उनकी कहानियों को पढते समय अनजाने ही मन तरंगायित हो उठने लगता है ।

जीवन को विभिन्न दृष्टियों से निहारने पर ही कला उसके संपूर्ण निखार के साथ प्रस्तुत हो सकती है । इसके लिए किसी विशेष चिन्तनधारा के प्रति प्रतिबद्ध होने की कोई ज़रूरत नहीं । निर्मल जी की प्रतिबद्धता उनकी रचनाओं के प्रति है । उनकी इस तटस्थ-दृष्टि के कारण जीवन को उसकी संपूर्ण जटिलता के साथ प्रस्तुत करने में उन्होंने सफलता प्राप्त की है । उनकी कहानियों में जहाँ एक ओर प्रेम और प्रकृति के संयोग द्वारा मानव जीवन की सुखद अनुभूतियों को अभिव्यक्ति मिली है तो वहीं दूसरी ओर मानव जीवन की सारी आशाओं, आकांक्षाओं, निराशाओं, विसंगतियों एवं विडम्बनाओं को भी वाणी मिली है । इसलिए कहानियाँ मानव जीवन की गहन संवेदनाओं से अपना गहरा सरोकार रखनेवाली है । इसकी सार्थक अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त नये शिल्प और नयी भाषा को भी उन्होंने गढ़ लिया है । इसके सहारे उन्होंने आधुनिक मानव के अंतरंग- मौन को वाणी दी है ।

---

१४५. अशोक वाजपेयी - निर्मल वर्मा, पृ.१७९

चौथा अध्याय

निर्मल वर्मा के निबन्ध

आज़ादी के बाद हिन्दी साहित्यिक जगत् में कई महत्वपूर्ण आन्दोलन हुए हैं । साहित्य की सभी विधाओं में इन आन्दोलनों के प्रभाव पडे हैं । क्योंकि रचनाकार इस समय जीवन के प्रति काफी सजग हो उठे थे । अत: रचनाओं के द्वारा जीवन - यथार्थ की प्रामाणिक अभिव्यक्ति उनका लक्ष्य बन गया । इसलिए आधुनिक उपन्यास, कहानी, कविता, नाटक आदि जीवन के काफी निकट मालुम पड़ते हैं । पर यह यथार्थ पात्रों के द्वारा अभिव्यक्त जीवन यथार्थ है । इसके पीछे प्रत्येक लेखक की बौद्धिक विचार-संपदा वर्तमान है । उससे पाठक अनभिज्ञ है । कभी-कभी ये लेखक अपनी रचनादृष्टि तथा जीवन दृष्टि को ही खुलकर पाठकों के सामने अभिव्यक्त करना चाहते हैं । यहीं से सृजनात्मक साहित्य के साथ-साथ कुछ चिन्तन प्रधान रचनाएँ भी बाहर आने लगीं । इससे सृजनात्मकता के अंतरंग क्षणों के रहस्यों से पाठक भी परिचित हो पाए हैं ।

हिन्दी साहित्य-जगत में चिन्तन प्रधान निबन्धों की शुरूआत भारतेन्दु युग में ही हो चुकी थी । लेकिन उस समय वे उतने सूक्ष्म एवं अंतरंग नहीं थे जितना आज है । आधुनिक चिन्तनप्रधान निबन्धों में रचनाकार अपनी सृजनात्मकता के अंतरंग रहस्यों, उसकी पृष्ठभूमियों तथा सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक तथा सांस्कृतिक मानसिकताओं का आत्मिक विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं । यह प्रणाली वास्तव में 'तारसप्तक' के साथ ज़ोर पकड़ने लगी थी । 'तारसप्तक' में हर कवि ने अपनी कविताओं का आत्मपक्ष प्रस्तुत किया । यह आत्म प्रत्यक्षीकरण अपने आप में नया तथा पहले का हैं । फिर अज्ञेय, मुक्तिबोध, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा आदि ने उपन्यास, कहानी, कविता, नाटक जैसी सृजनात्मक विधाओं के साथ-साथ इस प्रकार के आत्म साक्षात्कारपरक निबन्धों की भी रचना की है । इनसे उनका बौद्धिक मंडल पाठकों के सामने स्पष्ट हो उठा है । मुक्तिबोध के 'नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध', मोहन राकेश के 'बकलम खुद' 'साहित्य और संस्कृति',

'परिवेश', अज्ञेय के 'आत्मनेपद', 'लिखि कागद कोरे', धर्मवीर भारती का 'पश्यन्ति', आदि इस श्रेणी में आनेवाली रचनाएँ हैं । निर्मल वर्मा ने 'शब्द और स्मृति', 'कला का जोखिम', 'दूसरे शब्दों में', 'शताब्दी के ढलते वर्षों में', 'ढलान से उतरते हुए', 'आदि अन्त और आरम्भ', 'भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र', 'इतिहास स्मृति आकांक्षा' आदि निबन्ध संग्रहों के ज़रिए अपने सृजनात्मक, साहित्यिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा राजनीतिक विचारों को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है ।

साहित्य और समाज

साहित्य और समाज का रिशता गहरा है । मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होने के कारण उसका ऐसा कोई हिस्सा नहीं है जो साहित्य के बगैर पूर्ण हो जाएगा । उसकी समस्त भौतिक और सामाजिक इच्छाओं को अन्य वस्तुएँ पूरा करती हैं । पर मनुष्य जीवन का ऐसा एक पक्ष है जो केवल साहित्य में ही मूर्तिमान हो उठता है । आज के सामाजिक, राजनीतिक माहौल में मनुष्य का एक चेहरा ही स्पष्ट रूप से सामने आता है । उसके अन्दर का जो मनुष्य है वह हमेशा अप्रत्यक्ष रहता है । सामाजिक नियम उसे अपने चंगुल में बाँधकर रखते हैं । इसलिए उसके सही चेहरे की पहचान सिर्फ साहित्य में हो पाती है । 'मनुष्यत्व से साक्षात्कार' में वे कहते हैं, " साहित्य वह घर है - बिना दीवारों का घर - जहाँ वह पहली बार अपने मनुष्यत्व से साक्षात्कार करता है ।"[१]

साहित्य मनुष्य द्वारा ही सृजित होता है । लेकिन वह समस्त मनुष्येतर शक्तियों से अपना संबन्ध जोडता है । उदाहरण के लिए प्रकृति और ब्रह्मांड की समस्त अंधकारपूर्ण रहस्यमय शक्तियों से अपना नाता जोडता है । साहित्य में ही मनुष्य अपनी औकात से हटकर अपने अतिरेक के परे जा पाता है । इस प्रकार अतिरेक के परे जाने पर ही वह मनुष्य के मनुष्यत्व की तह तक जा पाता है । इसलिए यह तर्क गलत साबित होता है कि

---

१. निर्मल वर्मा - दूसरे शब्दों में, पृ.१२

साहित्य समाज का आईना है और समस्त समाज और मनुष्य का प्रतिबिंब ही साहित्य में दिखाई देता हैं । मनुष्य को चाहिए कि उस प्रतिबिम्ब को तोडकर उसके परे जाने की कोशिश करे । इसका मतलब यह है कि मनुष्य का मनुष्यत्व उसकी यथास्थिति में नहीं है । उसके अतिक्रमण में हैं । समाज ने मनुष्य पर जो पाबन्दियाँ लगायी हैं उनका अतिक्रमण करने की कोशिश सिर्फ साहित्य में ही कर सकते हैं ।

आज साहित्यकारों के सामने सबसे बडा प्रश्न यह है कि साहित्य और समाज का आपसी संबन्ध कट गया है या नहीं ? क्योंकि साहित्य में जो सार्थकता है जो सौन्दर्य है उसे पढ़ने पर ही समझा जा सकता है । हमारे समाज में बहुत कम लोग ही ऐसे हैं जो साहित्य की सार्थकता और उसके सौन्दर्य को पूर्ण रूप से समझ पाते हैं । इस समाज के ज़्यादातर लोग निरक्षर और अशिक्षित हैं । यहाँ के गरीबों के पास पुस्तकें खरीद कर पढ़ने के साधन नहीं है । जिन लोगों में वैसी क्षमता है उन्हें टी.वी. सीरियल और अंग्रेज़ी पुस्तकों से समय निकालने की फुरसत भी नहीं । इस स्थिति में आज साहित्य हाशिए की चीज़ बन गयी है । आज भी उपन्यास और कहानियाँ पढ़ी जाती है । पर ऐसा अनुभव होता है कि जिस यथार्थ को मनुष्य ने अपने जीवन के विभिन्न सन्दर्भों में अनुभव किया है वह साहित्य में दृष्टिगत नहीं होता । कभी-कभी उसका एक छोटा सा अंश ही दृष्टिगत होता है, "यह जीवन जब कल्पना द्वारा पुनर्रचित होता है, तब इस पुनर्रचित जीवन में तथा जगत-क्षेत्र में जिये और भोगे जानेवाले जीवन में गुणात्मक अन्तर उत्पन्न हो जाता है । पुनर्रचित जीवन जिये और भोगे जानेवाले जीवन से सारत: एक होते हुए भी स्वरूपत: भिन्न होता है । यदि पुनर्रचित जीवन वास्विक जीवन से नि:सारत: एक हो, तो वह पुनर्रचित जीवन निष्फल है । पुनर्रचित जीवन और वास्तविक जीवन के बीच जो अलगाव होता है, जो पृथक स्थिति

होती है, उस अलगाव और पृथक स्थिति के कारण ही कला में एक अमूर्तीकरण और उत्पन्न होता है ।''[२]

किसी चीज़ को बिना देखे कोई उसकी गवाही नहीं दे सकता । देखने का मतलब सिर्फ देखना नहीं । साक्षात् रूप से देखना है । किसी चीज़ का साक्षी वही हो सकता है जिसके पास दृष्टि होती है । आज का भारतीय लेखक इस साक्षात् दृष्टि से संपन्न है या नहीं, यही पहली समस्या है । क्योंकि जो व्यक्ति देखता है वह दृष्टि संपन्न भी हो यह अनिवार्य नहीं है । द्रष्टा का मतलब सिर्फ देखना नहीं । उन देखे हुए सत्यों का मूल्यांकन भी करना है । निर्मल जी के अनुसार एक लेखक को अपने सृजनात्मक क्षणों में यही करना चाहिए, ''जीवन के सीमित अधूरे स्वार्थग्रस्त अनुभवों को एक ऐसे व्यापक और विराट यथार्थ में ढालना, जिसे हम जीने की हडबडी और घटनाओं के घटाटोप में अनदेखा कर देते हैं ।''[३] इसी अवसर पर हमारे जीवन के बिखरे और विश्रृंखलित अनुभव अपनी अर्थवत्ता पा लेते हैं ।

एक पाठक कभी भी एकांत के बगैर पढ नहीं सकता । एक भीड़ में कभी वह साहित्यिक कृति के यथार्थ का साक्षात् नहीं कर सकता । पढने के बाद पाठक को उस रचना पर सोचना चाहिए । उसका मूल्यांकन करना चाहिए । इसी स्थिति में रचना समाज में अपनी संपूर्ण अर्थवत्ता को हासिल कर पाती है । किसी रचना को पढने पर पाठक के मन में उस रचना के सत्य को पहचानने की क्षमता उत्पन्न होती है । उस सत्य की तीली को एक ज्वाला बनाकर उसे निखारने में ही उस रचना की पूरी सार्थकता अवस्थित है । इसीलिए क्या साहित्य समाज से कट चुका है ? में लेखक कहते हैं कि ''पढना एक तरह का स्थगित समय है, जैसे लिखना एक ऐसे स्पेस को निर्मित करना है, जिसमें पुस्तक का समय संचरित हो सके । उसी समाज में साहित्य एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर

---

२. मुक्तिबोध - आखिर रचना क्यों ?, पृ.८९
३. निर्मल वर्मा - भारत और यूरोप प्रतिश्रुति के क्षेत्र,पृ.९९

सकता है, जहाँ पढ़ने के समय को निरंतर मुक्त रूप से रचना के स्पेस में प्रवहित होने का अवसर मिलता रहे । उन समाज-व्यवस्थाओं में जहाँ यह संभव नहीं होता, वहाँ यदि पाठक पुस्तक खरीदने के लिए सक्षम भी हो और हर व्यक्ति साक्षर हो तो भी साहित्य की गरिमा उजागर नहीं हो सकेगी ।''[४]

किसी भी समय किसी भी समाज में लेखक और समाज या कलाकृति और सामान्य पाठक के बीच का अलगाव बना रहेगा । क्योकि एक कलाकृति मनुष्य की किसी स्थूल आवश्यकता को पूरा नहीं करती । वस्तुओं के समान किसी रचना या पेंटिंग का उपयोग नहीं होता । 'कला की प्रासंगिकता' में निर्मल जी कहते हैं, '' दुनिया की बाकी उत्पादित चीज़ें - चाहे वे जूता-मोजा हो या रेडियो, टी.वी. हमारी तात्कालिक ज़रूरतों और इच्छाओं की पूर्ती करती है - एक कलाकृति कभी ऐसा करने का दावा नहीं करती । कोई कहानी या कविता किसी तात्कालिक उद्देश्य को प्राप्त करने का साधन नहीं है, जबकि बाकी चीज़ों का महत्व ही उनके 'माध्यम' होने के बीच निहित है ।''[५]

एक लेखक का रचना कर्म केवल समाज के लिए नहीं होता । किन्तु लेखक की कल्पना, उसकी सृजनात्मक क्षमता एक रचना बन जाने के बाद सिर्फ एक वैयक्तिक संपत्ति बनकर नहीं रह जाती । वह समाज के अपने से अपने अतीत और वर्तमान से किए जानेवाले संवाद-प्रक्रिया का अंग बन जाता है । क्योंकि जिस भाषा में रचना की सत्ता रूपायित हुई है उसके शब्द, संकेत, संस्कार कुछ भी एक लेखक की वैयक्तिक संपत्ति नहीं हैं । इस दृष्टि से रचना लेखक और समाज के बीच के सार्थक संवाद का संवाहक बन जाती है । इसीलिए इस अवसर पर असली प्रश्न यह है कि समाज और मनुष्य के बीच के संवाद में यह दखल दे सकती है या नहीं ? जिस कृति को समाज पूर्णत: आत्मसात नहीं कर पाता वही कलाकृति कालजयी बन जाती है । जिस कृति को समाज तुरन्त अपना लेता है उसे

---

४. निर्मल वर्मा - भारत और यूरोप प्रतिश्रुति के क्षेत्र, पृ.९९

५. निर्मल वर्मा - शताब्दी के ढलते वर्षों में, पृ.१६

पूर्ण रूप से आत्मसात करता है, वह साहित्य अन्य उपभोग्य वस्तुओं की तरह मनुष्य की तात्कालिक तृप्ति का साधन बन जाता है । लेकिन सच्चा साहित्य ऐसा नहीं है । किसी महान कलाकृति को एक बार पढ़ चुकने के बाद भी उसे बार-बार पढ़ने की बलवती इच्छा मन में बनी रहती है । कभी भी कोई भी पाठक उसके संपूर्ण सत्य को पूर्णत: पहचान नहीं पाएगा । इसीलिए प्रत्येक युग के पाठक उसकी तरफ आकृष्ट होते रहते हैं । वह व्यक्ति को निरन्तर सोचने के लिए विवश करता है । जिस दिन यह सोचने की प्रक्रिया खत्म हो जाएगी उस दिन कलाकृति का अन्त भी हो जाएगा, "यह क्षोभ की बात नहीं कि समाज और साहित्य में एक अंतराल, एक दूरी, एक कटाव हमेशा मौजूद रहता है - हम बीच की अंधेरी खाई को जिस दिन पाट लोंगे - उस दिन साहित्य समाप्त हो जाएगा ।"[६]

निर्मल जी यही साबित करना चाहते हैं कि रचना और समाज का गहरा सरोकार तो है लेकिन रचना कभी भी समाज का प्रतिबिम्ब नहीं होती । वह बिंब होता है । विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का मत इस विचार को ज़्यादा पुष्ट करता है, "साहित्य समाज का दर्पण या जीवन का प्रतिबिंब न होकर अपने आप में एक समाज होगा, एक जीवन होगा और वह निश्चय ही असली समाज और असली जीवन से थोडा हटकर होगा - उसीके समानान्तर स्वतन्त्र और स्वायत्त ।"[७]

लेखक की स्वतन्त्रता

आज का युग विज्ञान औद्योगिक प्रगति और राजनीति का युग है । आज समय बहुत तेज़ गति से चल रहा है । यह बहुत ही व्यस्त और सक्रिय युग है । इसमें आदमी की दृष्टि दिन-ब-दिन उपयोगितावादी बनती जा रही है । रचनाकार भी इन सब परिस्थितियों के बीच जीता है । इन सभी परिस्थितियों से निपटने का सक्रिय प्रयास वह

---

६. निर्मल वर्मा - भारत और यूरोप प्रतिश्रुति के क्षेत्र, पृ.१०२

७. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी - रचना के सारोकार, पृ.४७

निरन्तर करता है । कहीं पर कौशल नीती अपनानी पडती है, कहीं समझौता करना पड़ता है, कहीं संघर्ष करना पडता है तो कहीं चुप रहना । इस प्रकार उसके सामने हर प्रकार की विडंबनाएँ होती रहती हैं । इसलिए एक लेखक लिखने के लिए कभी भी एक आदर्श परिस्थिति का इन्तजार नहीं कर सकता । यह आदर्श परिस्थिति न ही कभी किसी के व्यक्तिगत जीवन में संभव है और न ही सामाजिक जीवन में । इस आदर्श का मतलब कोई सुख सुविधा या भोग विलास नहीं है सिर्फ लिखने की स्वतंत्रता है । इतिहास में कभी-कभी ऐसी स्थिति भी आयी है जिस में लेखक को लिखने केलिए अपनी जान हथेली पर लेने की नौबत आयी है । 'निरंकुशता और दासता के बीच साहित्य' में वे कहते हैं, ''स्वाधीनता का अर्थ एक लेखक के लिए कोई ऐसी सुविधा नहीं है, जिसके लिए उसे दूसरों पर निर्भर करना पडे, बल्कि यह उसकी अंतश्चेतना का अनिवार्य अंग है । परिस्थितियाँ जैसी भी हों, शासन-सत्ता कोई भी हो, इतिहास जिस दौर से भी गुज़र रहा हो; अपने लेखन के लिए अंतत: उसे अपनी इसी अंतश्चेतना के प्रति उत्तरदायी रहना पड़ता है ।''[८]

इसका मतलब यह नहीं कि एक लेखक होने के नाते उसे जीवन में एक सामान्य नागरिक से भी ज़्यादा स्वतंत्रता मिलनी चाहिए । उसे उसी स्वाधीनता के परिप्रेक्ष्य में अपनी सृजनात्मकता को जन्म देना होगा । युग युगों से लेखकों के लिए अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता एक प्रमुख समस्या है । लेकिन अन्य युगों की अपेक्षा आधुनिक युग का लेखक अपेक्षाकृत खुले विस्तृत और स्वतंत्र परिवेश में लिख रहा है । लेकिन जितनी उसकी स्वतंत्रता बढ़ती गयी है उतनी ही उसकी अभिव्यक्ति का दायरा छोटा पड़ता गया है । मनुष्य ने अपने अन्दर ही एक खाई खोद ली है, उसके अपने अहं और अन्य के बीच । उस अहं और अन्य को जोड़नेवाले दायित्वबोध की कडी कहीं कहीं पर लुप्त होती जा रही है । लेकिन एक भारतीय लेखक इस मामले में अन्य देशों के लेखकों से अलग दिखायी देता है, ''एक भारतीय लेखक यदि किसी अर्थ में अन्य देशों के लेखकों से अलग है, तो

---

८. निर्मल वर्मा - दूसरे शब्दों में, पृ.७५

सिर्फ इसमें कि वह न अपने सेल्फ का प्रवक्ता है, पश्चिमी लेखकों की तरह न अपने समाज का प्रतिनिधि है, एक क्रान्तिकारी की तरह - उसकी कोशिश यह है - या होनी चाहिए - कि वह सेल्फ और समाज के बीच के अदृश्य सेतु को रूपायित कर सके .... एक कविता, एक उपन्यास, एक कलाकृति में किन्तु यह तभी हो सकता है, जब हम सेतु के नीचे बहती अजस्र धाराओं को मुक्त रूप से अपने भीतर बहने दें; उन सब शक्तियों सत्ताओं और विचारधाराओं का विरोध करें, जो इस प्रवाह को कुंठित और कलुषित करती हैं, या इस पुल को विध्वस्त करने की कोशिश करती है । ताकि लेखक के सेल्फ और समाज दोनों को एकांगी बनाकर उसके रचनाकर्म को अवमूल्यित किया जा सके ।''[९] इस प्रकार समाज के 'अन्य' और लेखक के 'मैं' को जोड़नेवाली कडी के बिना रचना कार्य बिल्कुल खोखला और आत्मशून्य बन जाएगा, ''आदमी का भीतरी संसार एक बाहरी संसार से प्रतिक्षण प्रभावित होता रहता है, इन दोनों संसारों को साथ रखकर ही सच्चाई को स्वीकार किया जा सकता है । रचना में आन्तरिक संसार पर या रचना दायित्व पर ही बहुत अधिक ज़ोर देना एक प्रकार के कलावाद को जन्म देना है जो एक प्रकार की आग्रहपूर्ण संकीर्ण दृष्टि है ।''[१०]

एक लेखक की स्वतंत्रता उसकी नागरिक स्वतंत्रता के साथ जुडी रहती है । किसी की वैयक्तिक स्वतंत्रता को वैचारिक स्वतंत्रता से अलग नहीं रख सकते । आपात्काल के सन्दर्भ में यही विपत्ति आयी थी । उसने लेखकों की वैचारिक स्वतंत्रता पर दखल दिया । ऐसी स्थिति में साहित्य और सामाजिक सत्ताओं के बीच का संबन्ध दुविधाजनक बन जाता है । अगर हम बीसवीं सदी का लेखा-जोखा करें तो पाएँगे कि इसी शताब्दी में मानव मूल्य सबसे ज़्यादा घायल और क्षत-विक्षत हुआ था । मनुष्य पिछले कई युगों से बोलने लिखने और सोचने की स्वतंत्रता को ही ज़्यादा महत्व देता रहा है, 'लेखक की

---

९. निर्मल वर्मा - भारत और यूरोप प्रतिश्रुति के क्षेत्र, पृ.११९

१०. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी - रचना के सरोकार, पृ.२९

स्वतंत्रता आज के सन्दर्भ में' वे कहते हैं, ''क्योंकि उसे लगता है कि आत्माभिव्यक्ति के अधिकार के साथ उसकी वैयक्तिक अस्मिता भी जुडी है, जिससे वंचित होते ही वह न केवल दूसरे तक नहीं पहूँच पाएगा, बल्कि स्वयं अपने लिए भी एक छाया बन कर रह जाएगा ।''[११]

यूरोप के पुनरुत्थान युग के बाद ही पहली बार व्यक्ति की स्वतंत्रता को विशेष महत्व दिया गया था । उसके पूर्व प्राथमिक और मध्यकालीन युग में मनुष्य की इस वैयक्तिक स्वतंत्रता के लिए कोई स्थान नहीं था । बाहरी तौर पर मनुष्य कितने ही सीमाबद्ध समाज में क्यों न रह रहा हो पर आन्तरिक रूप से वह स्वतंत्र रह सकता है । लेकिन आज के मनुष्य के पास इतनी क्षमता नहीं है कि वह बिल्कुल स्वतंत्र होकर रह सके । कोई सिद्धान्त आदर्श या आइडियोलजी मनुष्य की सभी तरह की स्वतंत्रताओं यानि वैचारिक, वैयक्तिक और नागरिक स्वतंत्रताओं को भंग करता है । मनुष्य स्वयं अपनी परम स्वतंत्रता के परिप्रेक्ष्य में इस स्वतंत्रता के औचित्व और अनौचित्य को परख सकता है । इस प्रकार परखने पर जो नियम-विधान और नैतिक वैधताएँ उसे अनौचित्यपूर्ण लगती हैं उन्हें वह अस्वीकृत कर सकता है । कला में एक लेखक इस स्वतंत्रता को अनुभूत करके अपनी कल्पना-शक्ति से समय और स्पेस की सीमाओं का अतिक्रमण करके उसे एक सशक्त यथार्थ में ढालता है । इस प्रकार उसमें लेखक का 'दूसरा जीवन' व्यक्त होता है । वैसे तो इतिहास, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, दर्शन आदि मनुष्य को विभिन्न अवधारणात्मक कोटियों में परिभाषित करते हैं । लेकिन कला में ही मनुष्य अपने को समूची समग्रता में परिभाषित करता है । लिखने की स्वतंत्रता से समाज में एक ऐसे संवाद का आविर्भाव होता है जो किसी बाहरी दबाव से परिचालित नहीं होता बल्कि मनुष्य के 'आत्मबोध' से उन्मेषित होता है । मनुष्य होने के नाते एक व्यक्ति को स्वतंत्रता पहले से ही प्राप्त है । सत्ता या संविधान उस स्वतंत्रता को अक्षुण्ण रखने का कार्य करता है । जब भी कोई शासन -

---

११. निर्मल वर्मा - दूसरे शब्दों में, पृ.६६

व्यवस्था किसी व्यक्ति को उसकी आत्माभिव्यक्ति के अधिकार से वंचित करती है तो वह समाज और मनुष्य के बीच के सार्थक संवाद को ठेस पहुँचाती है । बीसवीं शती के इतिहास में ऐसी कई घटनाएँ दृष्टिगत होती हैं ।

कभी कभी ऐसी स्थिति भी आती है जिसमें मनुष्य अपनी सुख-सुविधाओं के खातिर अपनी वैचारिक स्वतंत्रता का बलिदान करता है । एक अविकसित देश का गरीब मानव कभी भी इस वैचारिक स्वतंत्रता को अपनी रोज़ी रोटी से ज़्यादा महत्वपूर्ण नहीं मानता । मनुष्य कितना भी गरीब क्यों न हो वह अपनी भावनाओं और आकांक्षाओं में ही रहता है । यह भावनाएँ और आकांक्षाएँ कभी उसका पीछा नहीं छोडतीं । अगर कोई शासन सत्ता इन आशाओं - आकांक्षाओं की अवहेलना करके उसे रोटी मात्र देती रहती है तो वह उस मनुष्य को उस के मनुष्यत्व से वंचित कर रही है ।

एक लेखक के लिए समाज के साथ उसके संवाद का सशक्त माध्यम भाषा है । लेखक के मन में कल्पनाशक्ति द्वारा जिस कच्चे माल का जन्म होता है उसे वह अपनी भाषा और शब्दों के सहारे ही अर्थवत्ता प्रदान कर पाता है । इस भाषा के द्वारा ही वह अपने को इस दुनिया से बँधा हुआ पाता है । रचना की भाषा और सामान्य व्यवहार की भाषा में कोई मूलभूत अंतर नहीं है । शब्द वही है लेकिन उनका प्रयोजन बिल्कुल बदल जाता है । एक शासन सत्ता अपनी भाषा के माध्यम से अपना स्वार्थ उघाडती है तो एक लेखक अपनी भाषा के माध्यम से रचना के सत्य को उघाडता है, ''भाषा का सामाजिक पहलू उसके संप्रेषण में हैं, वहाँ वह एक 'माध्यम' के रूप में प्रयुक्त होती है । किन्तु साहित्य के सृजन क्षेत्र में वह महज़ माध्यम बनकर नहीं रह पाती, बल्कि एक स्वायत्त शक्ति के रूप में प्रकट होती है । शब्द वही रहते हैं, लेकिन एक कविता, नाटक, उपन्यास में आते ही वे अपनी स्मृतियों, संस्कारों, सन्दर्भों को उजागर करते हैं, वे सामाजिक संप्रेषण की व्यावहारिक शब्दावली से कहीं अधिक 'अस्तित्ववान' होते हैं

'अस्तित्ववान' इस अर्थ में कि वे सामाजिक उपादेयता से ऊपर उठकर स्वयं मनुष्य को अपने अस्तित्व की मूलगामी स्थिति की ओर आकृष्ट करते हैं ।''[१२]

एक लेखक की स्वतंत्रता इस समय तक अधूरी रहती है, जब तक उसकी रचना उसकी अपनी भाषा में, जिसमें उस रचना का सत्य ध्वनित हुआ है, पाठक तक नहीं पहुँचती । शब्द और भाषा का अवमूल्यन सिर्फ एक अहंग्रस्त तानाशाही समाज-व्यवस्था में ही नहीं होता, उस मानवीय समाज में भी होता है जहाँ रचना मात्र एक बिक्री की चीज़ बनकर रह जाती है, ''पुस्तक आज एक रचना का नाम नहीं, प्रकाशित होनेवाली वस्तु का नाम है । यह वस्तु आज सृजन के तर्क से नहीं उत्पादन और खपत के तर्क से निर्धारित होती है । जितने बडे-बडे प्रकाशक हैं, वे आज साहित्य नामक माल का बाज़ार ढूँढने में लगे हैं ।''[१३]

लिखने की स्वतंत्रता पर बाहरी शक्तियों के द्वारा अंकुश लगाए जाते हैं । उसे हम देख पाते हैं । लेकिन लेखक के मन में एक प्रकार का अदृश्य सेंसर होता है । बाहरी सीमाओं का विरोध तो हम कर पाते हैं लेकिन अन्तर्मन की इस पाबन्दी को दूर करने के लिए अपने आप से जूझना पडता है । लेकिन जब कोई अपने से जूझने के कार्य में सफल नहीं हो पाते । इस प्रकार स्वतंत्रता लेखक के लिए महज़ एक अधिकार ही नहीं, एक दायित्व भी बन जाती है । यह दायित्व अपनी भाषा के प्रति है जिसके द्वारा लेखक अपनी रचना में अपनी स्वतंत्रता को रूपायित करता है ।

एक लेखक को हमेशा शासन-तन्त्र से बाहर रहने का प्रयास करना चाहिए । चाहे वह शसन-तन्त्र पूँजीवादी हो या समाजवादी । पिछले दो सौ वर्षों की लम्बी गुलामी ने कुछ ऐसे सीमान्तों का सृजन किया है जिससे आज का लेखक निरन्तर जूझ रहा है ।

---

१२. निर्मल वर्मा - दूसरे शब्दों में, पृ.१४-१५

१३. मोहन राकेश - साहित्य और संस्कृति, पृ.१५

आज हमारी जो शासन व्यवस्था है उसे अंग्रेज़ों ने अपनी ज़रूरतों के मुताबिक बनाया था । एक तरफ भारतीय जनता उससे अनुशासित होती थी और आतंकित भी । लेकिन दूसरी तरफ हमारे जीवन का एक बडा सूखा प्रान्तर था जिसमें हमारे धार्मिक विश्वास और अन्धविश्वास, दैनिक जीवन की मान-मर्यादाएँ और संस्कृति थे जो इस अनुशासन के अन्तर्गत नहीं आते थे । इस प्रकार भारतीय जीवन दो निर्जीव कटघरों में विभाजित हो गया । दोनों के बीच एक तनाव था । बहुत कम लोगों ने इस तनाव और सन्नाटे को पहचाना था । एक भारतीय लेखक का सब से बडा कर्त्तव्य उस सन्नाटे को भेदकर उसे शब्द देना है । इस सन्नाटे को तोड़ने का मतलब है उसमें समन्वय स्थापित करना । हमारे समाज के अधिकांश लेखक चाहे वे व्यवस्था के भीतर हो या बाहर दोनों ही स्थितियों में वे न्यूनाधिक मात्रा में उस संस्कृति से आक्रान्त हैं जो हमारे मूल्यों और सोचने-समझने के चौखटों को तैयार करते हैं । लेकिन एक अच्छा लेखक इन चौखटों को ठुकरा सकता है । इसको ठुकराना मुश्किल का काम है । लेकिन अगर कोई इस प्रकार कर सके तो वह उस शासन व्यवस्था के लिए एक चुनौती बन सकता है, "किन्तु कोई भी कहानी कोई भी कविता, जो इन चौखटों के बाहर लिखी जाती है - उसका स्वर चाहे कितना धीमा क्यों न हो, इस शासन-व्यवस्था के लिए चुनौती है, जिसने संस्कृति के नाम पर हमारे बीच सूनेपन और सन्नाटे की रचना की है ।"[१४]

हर युग के लेखक पिछले युग की दस्तक अपने दरवाज़े पर सुनते हैं । याने कि पिछले युग के लेखकों ने जिन जिन प्रश्नों को उठाया था, जिन उत्तरों की तलाश उन्होंने की थी वे आज फिर से समस्या बनकर साहित्यिकों के सामने उपस्थित हो जाते हैं । समय के बीत जाने के साथ-साथ कला और नैतिक-विश्वासों की अर्थवत्ता और उनकी प्रासंगिकता कम होती दिखायी देती है । लेकिन 'मैं लिखता क्यों हूँ ?' ' मैं क्या करता हूँ ?' जैसे प्रश्न लेखकों के सामने आते रहते हैं । इन प्रश्नों के लिए सरल समाधान देकर कोई भी

---

१४. निर्मल वर्मा - शब्द और स्मृति, पृ.६६

आश्वस्त नहीं हो पाता । इसलिए लेखकों ने अपने अनुभवों को साहित्यिक अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया है । इसका दुष्परिणाम यह निकला कि साहित्य लेखकों के शुद्ध अनुभव के चौखट के अन्दर सिकुड गया । लेकिन कोई भी साहित्य अपने आसपास की परिस्थिति से अछूता नहीं रह सकता । इन परिस्थितियों ने ही साहित्य में नववामवादी दृष्टिकोण को जन्म दिया । इसने साहित्य में अनुभव की अभिव्यक्ति का तो इनकार नहीं किया लेकिन उस अनुभव की परख एक विचारधारा की शर्त पर करनी चाही । निर्मल जी के अनुसार कला की हर महत्वपूर्ण कृति मनुष्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसे कैसा होना चाहिए के दायरे को आलोकित करती है। मनुष्य के स्वरूप का मतलब वह जैसा है उसे उसी तरह व्यक्त करना । जैसे ही हम 'वह क्या है' इस केन्द्र-बिन्दु तक पहुँचते हैं तो उसे कैसा होना चाहिए यह समझने में समर्थ होने लगते हैं । लेकिन हाल ही के कुछ वर्षों में विचारधाराओं के टूटने से लेखक किसी भी तरह की आस्थाओं से डर जाता है । क्योंकि उसे लगता है कि ये विचारधाराएँ उसकी सृजनात्मक आज़ादी को कैद कर लेंगी और इनकी गुलामी उसकी अभिव्यक्ति की पवित्रता को नष्ट कर देगी ।

इस प्रकार हमारे लेखक प्राय: एक प्रकार की दुविधाग्रस्त स्थिति में दिखायी देते हैं । कहानी या उपन्यास लिखना किसी विज्ञान संबन्धी पुस्तक या समाजशास्त्रीय ग्रंथ लिखने से बिल्कुल भिन्न है । विज्ञान और समाजशास्त्र संबन्धी ग्रन्थों को वस्तुपरक निकषों पर परखा जा सकता है । लेकिन आज तक ऐसी किसी प्रामाणिक कसौटी का जन्म नहीं हुआ जिसके आधार पर किसी कविता या कहानी की मूल्यवत्ता को तुरन्त पहचाना जा सके । इसीलिए जब भी किसी लेखक को कोई सम्मान प्राप्त होता है तो वह अपने को समकालीन लेखकों तथा दुनिया की आँखों में थोड़ा बहुत सम्माननीय पाता है । लेकिन यह आश्वासन बिल्कुल क्षणिक होता है । क्योंकि उसके तुरन्त बाद कई तरह की शंकाएँ उसे घेरने लगती हैं । ये शंकाएँ स्वयं उसके 'लेखक-कर्म' पर निर्भर रहती हैं । कोई भी कलाकृति वह चाहे कितनी ही सुदूर फन्तासी क्यों न हो वह उस लेखक के चारों ओर फैली

दुनिया को परिवर्तित और परिभाषित करनेवाले यथार्थबोध पर टिकी होती है । भारतीय परंपरा में कला और दुनिया के बीच के संबन्ध को हमेशा कुछ पवित्र माना गया है, "शिव के चेहरे की तरह कला जीवन को परिभाषित ही नहीं करती बल्कि स्वयं कलाकृति में जीवन परिभाषित होता दीखता है ।"[१५]

दुनिया में शायद ही ऐसा कोई देश हो जहाँ लेखक यथार्थ की इतनी सारी छवियों के साथ अकेला मुठभेड करता हो । इस यथार्थ के अन्तर्गत परिवर्तन और क्रान्ति की छवियाँ प्रस्तुत करनेवाली आक्रामक विचारधाराएँ है, पश्चिम से आयातित लोकतन्त्र और धर्मनिरपेक्षता की धाराएँ हैं और परंपरागत संस्कारों से संबन्ध रखनेवाले तत्वज्ञान और दर्शन की अन्तर्दृष्टियाँ भी आती है । विश्व भर में हम ऐसी कोई प्रतिनिधि-छवि देख नहीं सकते जो भारतीय यथार्थ का आत्यन्तिक रूप प्रस्तुत करे । इस प्रकार यथार्थ के इन विभिन्न रूपों के झमेले में न पड़कर एक लेखक कभी कभी अपने निजी यथार्थ की ओर लौटना चाहता है । इस निजी यथार्थ के अन्दर वह बाहरी दुनिया की अनर्गल असंगत और अँधेरी आवाज़ों से विमुख होकर निष्ठा और आस्था से अपने सत्य की एकमात्र पवित्र लौ पर अपना ध्यान एकाग्र करने का प्रयास करता है । इस रास्ते से वह अपनी लेखकीय ईमानदारी को तो अक्षुण्ण रख सकता है । लेकिन उसका यथार्थ बोध कुछ धीमा सा पड़ जाता है । यह एक लेखक के लिए क्षति की बात है कि वह रचना में अपने चारों ओर के यथार्थ का नज़र-अन्दाज़ करके सिर्फ अपने वैयक्तिक अनुभवों को अभिव्यक्त करे । दुनिया में भारत उन कम देशों में एक है, जहाँ अपनी गरीबी, राजनीतिक सनकीपन और प्रशासनिक अराजकता के बावजूद लेखक की कल्पनाशक्ति आज भी यहाँ मुक्त भाव से विचरण करती है । आज भी भारतीय लेखकों में सत्य को सत्य और झूठ को झूठ कहने की क्षमता है । आज भारतीय लेखक अन्य देशों की तुलना में अधिक सहिष्णुता और स्वातन्त्र्य के परिवेश में रहते हैं । इसका श्रेय पूर्ण रूप से हमारी सांस्कृतिक परंपरा को

---

१५. निर्मल वर्मा - भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र, पृ.११६

जाता है । यह गरिमामयी सांस्कृतिक परंपरा इतिहास के थपेडों से गंदली, कुंठित और जर्जरित अवश्य हुई है किन्तु उतनी मलिन नहीं हुई कि वह लेखक के अधिकारों को छीन ले । निर्मल जी के अनुसार एक लेखक का सबसे बडा स्वप्न और ज़िम्मेदारी यही है कि "वह एक ऐसे परिवेश को सुरक्षित रख सके, जहाँ वह न केवल अपना अतीत पुनर्जीवित कर सके, बल्कि उसे भी आलोकित कर सके, जो मृत्यु के परे है । यह उसकी जिम्मेवारी भी है - और स्वप्न भी ।"[१६]

इस प्रकार निर्मल जी ने आज के सन्दर्भ में लेखकों को जिन जिन समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है उन सबका विश्लेषण करते हुए वर्तमान समाज में उसकी ज़िम्मेदारियाँ क्या क्या है ? उस पर भी प्रकाश डाला है । आज हमारे संपूर्ण परिवेश में जो विडंबना छायी हुई है उसका सीधा प्रभाव लेखक और उसके रचना कर्म पर ही पडता है । इस कलुषित वातावरण में रचनात्मक-कर्म ज़रूर खतरे से गुज़र रहा है । निर्मल जी इस खतरे का सामना करते हुए सृजनात्मक दायित्व को निभाने का सुझाव देते हैं अपने चिंतन परक निबन्धों के ज़रिए ।

साहित्य की उपयोगिता व प्रासंगिकता

आज हमारे समाज में साहित्य एक विडंबनाग्रस्त स्थिति से गुज़र रहा है । आधुनिक समाज में साहित्य की प्रासंगिकता की समस्या बढ़ती जा रही है । तुलसी, वाल्मीकी, टॉलस्टाय, शेक्सपियर आदि को बरसों बाद भी हम पढ़ना चाहते हैं । इसका कारण उनकी प्रासंगिकता ही है । हिन्दी साहित्य में जब भी प्रासंगिकता पर बहस होती है तब प्रेमचन्द के साहित्य की प्रासंगिकता पर हम अटक जाते हैं । आज भी हमारे लिए प्रेमचन्द प्रासंगिक है । इसका कारण यह है कि उन्होंने अपनी रचनाओं में जिन समस्याओं को उठाया है वे आज भी हमारे समाज में बनी रहती हैं । आज भी हमारे गाँवों

---

१६. निर्मल वर्मा - भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र, पृ.१२०

में 'होरी', 'घीसू' और 'माधव' की कमी नहीं हैं । इसीलिए आज भी उनके पात्र प्रासंगिक है, "समय जो आज है, आज जो हम है; हम जो आज हैं - आप कुछ भी कह लें, कोई भी कलाकृति, चाहे वह कितनी ही पुरानी क्यों न हो, समय की अनन्त धारा में इस क्षण अटके हुए 'मैं' को कितना आलोकित कर पाती है, उसकी प्रासंगिकता इस कसौटी पर आँकी जाती है । दूसरे शब्दों में कहें तो प्रांसगिकता के मूल में यह प्रश्न पूछा जाता है, कि क्या कोई कलाकृति अपने में इतनी शक्ति, इतनी सामर्थ्य, इतनी सर्वांगीण सम्पन्नता रखती है कि अपने समय की विशिष्ट परिस्थितियों से उठकर 'छलाँग लगाकर' हमारे समय तक पहूँच पाती है ?"[१७] वाल्मीकी का काव्य या एलोरा की मूर्तियाँ देखने पर हम कुछ देर के लिए यह भूल जाते हैं कि किन परिस्थितियों में वह काव्य लिखा गया था या वह मूर्ती बनायी गयी थी । वह काव्य और मूर्ती हमें बराबर उद्वेलित करते रहते हैं । लेकिन हमारी मर्यादाओं और पूर्वग्रहों की कसौटी पर कभी अनुशासित नहीं होती । इस स्थिति में वह रचना या मूर्ती पूर्ण रूप से स्वायत्त नहीं हो जाती है । इसका कारण कला की विडम्बना है । उस विशिष्टता के कारण ही हम अमूल्य रचनाओं या वस्तुओं को देखने पर उनकी ऐतिहासिक परिस्थिति को भूल जाते हैं ।

निर्मल जी के अनुसार, "कला की यह अद्भुत विडंबना है कि विशिष्ट सामाजिक स्थिति में जन्म लेने पर भी, मनुष्य द्वारा सृजित होने के बावजूद वह मानवीय स्थिति की बन्दी या ऐतिहासिक सीमाओं की गुलाम बनकर नहीं रह जाती ।"[१८] लगता है कला की यही शाश्वत प्रकृति उसे हर समय और हर युग में प्रासंगिक बनाती है । लेकिन निर्मल जी को यह बात काफी भ्रामक लगती है । क्योंकि कोई कलाकृति अपने ऐतिहासिक समय का अतिक्रमण करती है तो यह जरूरी नहीं कि उसमें हम किसी शाश्वत सत्य को पा ले । किसी भी कलाकृति में हम इस शाश्वत सत्य को पूर्ण रूप से नहीं पा सकते । कोई भी

---

१७. निर्मल वर्मा - कला का जोखिम, पृ.३९-४०
१८. वही, पृ.४०

कलाकृति पूर्ण रूप से इस शाश्वत सत्य की अभिव्यक्ति नहीं कर सकती । इसीलिए कोई भी कविता कभी इस शर्त पर समाप्त नहीं होती कि कवि ने सत्य पा लिया है, "कोई कविता इसलिए समाप्त नहीं होती कि कवि ने सत्य उपलब्ध कर लिया है, बल्कि इसलिए कि उसने उसके भीतर अपनी आकांक्षा को समेट लिया है ।"[१९] विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के अनुसार - " कलाकृतियों के बारे में यह ध्यान रखना चाहिए कि कोई भी कलाकृति वह चाहे जितनी भी महान हो न तो वह अन्तिम रूप से सच होती है और न ही मनुष्य का अन्तिम सच बन सकती है । हर कृति किसी न किसी अर्थ में सीमित होती है एक देश और काल और विचार की सीमा में ।"[२०]

अगर किसी कविता में उस सत्य को पा लिया जाए तो वह कविता फिर जीवित नहीं रहती । क्योंकि उसमें प्राण स्फरित करनेवाली आकांक्षा का अन्त वहीं हो जाता है । एक कलाकृति में यही आकांक्षा शाश्वत रूप से मूर्तिवान रहती है । यह आकांक्षा कभी कभी समयहीनता और निर्वैयक्तिक तटस्थता पा लेती है । इस प्रकार कोई भी कलाकृति अपने समय के संपूर्ण सत्य को समेट नहीं पाती । इस स्थिति में हर युग का मनुष्य उस रचना में अपने युग के सत्य को खोजता है । यह मनुष्य इसीलिए करता है क्योंकि वह युग-युगों से अपने में एक प्रकार का अधूरापन महसूस करता आ रहा है । वह इस अधूरेपेन को पूरा करने के निरन्तर प्रयत्न में है । साहित्य में प्रासंगिकता का प्रश्न में वे कहते हैं, "पशुओं को जो ग्रेस प्रकृति के सान्निध्य से प्राप्त होता है और देवदूतों (एंजल्स) को जो उज्जवलता ईश्वर के पास होने से मिलती है, मनुष्य इतना अभागा है कि दोनों से वंचित होकर वह एक अभिशप्त अलगाव में ठिठुरता रहता है । मनुष्य का यह लावारिस अलगाव और अधूरापन कोई आधुनिक, पश्चिम-बोध की देन नहीं है - वह मनुष्य के, मनुष्यत्व के बीच एक कीडे की तरह विद्यमान है, धरती पर उसके महज 'होने' के बोध में निहित है । उसकी समूची

---

१९. निर्मल वर्मा - कला का जोखिम, पृ.४०

२०. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी - रचना के सरोकार, पृ.२१०

मिथक-संरचना, धर्म-विधान, ईश्वर कल्पना और हमारे समय में संपूर्ण क्रान्ति का स्वप्न इसी अभिशप्त अनाथावस्था से छुटकारा पाने का गौरवपूर्ण ट्रैजिक और बीहड प्रयास है । कला यदि इनसे अलग है, तो इसलिए नहीं कि वह इस अधूरेपन के पाप से मुक्ति पाने का स्वप्न नहीं देखती यह स्वप्न और आकांक्षा ही तो उसकी सतत प्रासंगिकता के केन्द्र में है - फर्क केवल इतना है कि यह स्वप्न कहीं बाहर और परे न होकर स्वयंउसकी सृष्टि, उसकी फार्म, उसकी संरचना में सन्निहित है ।"[२१] इस प्रकार कलाकृति में ही मनुष्य अपने अधूरेपन का अतिक्रमण कर लेता है । यह कला की द्विविधात्मक प्रकृति है कि वह किसी शाश्वत सत्य को अपने अन्दर समेट नहीं पाती लेकिन अपने आप में वह स्वायत्त और स्वयंसिद्ध होती है ।

आज का हमारा युग आदर्श और आइडियोलजी से भरा हुआ है । यहाँ हमेशा किसी सत्य को किसी मत, वाद, झुठे सच्चे आदर्श या किसी युटोपिया की मरीचिका से नत्थी किया जाता है । लेकिन इसके विपरीत कला अपने असीम खुलेपन के द्वारा हर एक आइडियोलजी के बने बनाए सत्य को खटखटाती है और पाठकों को ऐतिहासिक भ्रमों की धुंध से बाहर निकालकर अतीत वर्तमान और भविष्य के प्रवाह में अपने आप को ऑकने के लिए बाध्य करती है । ईलियड महाभारत जैसी एपिक रचनाओं में इसी समय प्रवाह में मनुष्य के उचित-अनुचित, धर्म-अधर्म और सम्भव और असम्भव को देखने की कोशिश की गयी है । महाभारत जैसा एपिक ग्रन्थ भी किसी शाश्वत सत्य का प्रतिपादन नहीं करता फिर भी वह हर युग के मनुष्य के लिए एक प्रासंगिक जिज्ञासा बना रहता है । उसमें सत्य और असत्य, धर्म और अधर्म का निर्णय हम पर छोड दिया गया है । क्योंकि यह सार्थक जीवन के लिए एक अनिवार्य शर्त है । इसीलिए यह हर युग में प्रासंगिक बन जाता है । महाभारत में ऐसी कोई घटना नहीं है जो आज तक हमारे समाज में घटित न हुआ हो या घटित न हो रहा है । यह सत्य और असत्य, धर्म और अधर्म की लडाई हर युग में हर

---

२१. निर्मल वर्मा - कला का जोखिम, पृ.४१

समाज में रहेगी । इसीलिए यह प्रासंगिकता की कसौटी पर खरा उतरता है । ऐसी एक प्रासंगिक रचना हमें इतिहास के प्रवाह से अलग करके अपने आप को उसमें देखने की दृष्टि देती है । यानि समय के अनर्गल प्रवाह में मनुष्य को अपने आप को देखने और समझने का मौका मिलता है । हमें सिर्फ भारतीय लेखक ही प्रासंगिक नहीं लगते । उनके साथ-साथ टॉलस्टाय जैसे विदेशी लेखक भी प्रासंगिक लगते हैं उसका कारण उस रचना की सार्वभौमिकता नहीं है। इसका कारण निर्मल जी के अनुसार यह है कि "कला की अभिव्यक्ति चाहे किसी भी भाषा, रूप या जातीय स्मृति के बिम्बों में हो, वह हमेशा हमें 'अपने होने की स्थिति से साक्षात् कराती है' - और 'होने' की यह स्थिति हर समय, हर जगह एक-जैसी है, जहाँ कहीं इस धरती पर मनुष्य जीवित है । यही कारण है आज भी हम प्रागैतिहासिक मनुष्य द्वारा रचे गये गुहा-चित्रों से इतना प्रभावित होते हैं, उन्हें अपने भीतर इतना प्रासंगिक मानते हैं, यद्यपि उस गुहामनुष्य की भौतिक, सामाजिक अवस्था से हमारा कहीं मेल नहीं बैठता ।"[२२]

लेकिन आज के लेखक का रचनाकर्म खतरे में पड़ा हुआ है । समाज के लोग सस्ती रंगीन पत्रिकाओं, टी.वी., सिनेमा और बेस्टसेलरों के मोहपाश में जकडे हुए हैं । उनके पास इतना भी अवकाश नहीं कि वह किसी कविता, उपन्यास आदि के दुरूह रहस्यमय संसार में घुसें । यही कारण है कि किसी लेखक से अगर कोई पूछे कि उपन्यास या कविता लिखने से क्या प्रयोजन मिलता है तो वह खुलकर उसका जवाब नहीं दे पाता । इसका उत्तर कुछ सन्देहास्पद है क्योंकि कोई कविता या कहानी किसी तात्कालिक उद्देश्य को प्राप्त करने का साधन नहीं है । रचना में शब्द एक साधन एक हथियार या एक माध्यम के रूप में आता है । एक विज्ञापनदाता अथवा राजनीतिज्ञ जिस प्रकार शब्दों का प्रयोग करता है, वैसा प्रयोग एक लेखक कभी नहीं करता । लेखक के लिए भाषा या शब्द महज़ साधन नहीं साध्य भी है, "एक विज्ञापन को पढ़के मैं साबुन की टिकिया खरीदने बाज़ार

---

२२. निर्मल वर्मा - कला का जोखिम, पृ.४४

जाता हूँ, किन्तु जिस 'दुनिया' को मैं ने एक कहानी में देखा है, उसे पाने के लिए मुझे कहीं बाहर नहीं, बार बार उन शब्दों के पास लौटना पड़ता है, जिनमें उस कहानी का संसार बसा है । इस अर्थ में कहानी के शब्द साधन हैं, तो साध्य भी - हम कविता के संसार को कविता के बाहर नहीं पा सकते ।''[२३]

हर कलाकृति किसी न किसी रूप में पाठक का मनोरंजन करती है । अधिकांश पाठक इस मनोरंजनार्थ ही पढ़ना शुरू करते हैं । कोई भी किसी गंभीर सत्य को पाने के लिए पढ़ना शुरू नहीं करता । किताबों में फिल्मी गीत जैसे मनोरंजन के साधन नहीं होते सिर्फ सफेद कागज़ पर काले काले अक्षर होते हैं । फिर भी लोग उसे पढ़ने के लिए लालायित हो उठते हैं । पर उसका प्रभाव हर एक व्यक्ति में भिन्न प्रकार का होता है । एक ही पुस्तक का प्रभाव भिन्न पाठकों पर अलग अलग ढंग से होता है तो उसका कारण मनोरंजन की सापेक्षता है । लेकिन मनोरंजन के बाद भी उसकी अर्थवत्ता कम नहीं होती । हम कलाकृति में अपना सत्य पा सकते हैं । किन्तु कलाकृति किसी सत्य को दर्शाने का वादा और घमंड नहीं करती । इसलिए उसकी प्रासंगिकता युगानुसार बदलती रहती है । हर युग के पाठकों की रुचि, आकांक्षा और संस्कार के अनुसार बदलती रहती है । किन्तु कला का वास्तविक अनुभव बदलता नहीं । वह अक्षुण्ण बना रहता है । किसी कलाकृति का सत्य उसकी भाषा में ही निहित है । 'कला की प्रासंगिकता' में निर्मल जी कहते है, ''किसी कलाकृति के सत्य को उसकी भाषा से अलग करके देखना कुछ वैसा ही है, जैसे किसी तितली को मारकर अल्बम में चिपका देना उसके रंग, पंख, देह - मज्जा सब वही है, सिर्फ एक छोटी सी चीज़ का अभाव है - उसकी उड़ान का मांसल-सौन्दर्य और अकथनीय - प्राणवत्ता ।''[२४]

---

२३. निर्मल वर्मा - शताब्दी के ढलते वर्षा में, पृ.१६

२४. निर्मल वर्मा - भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र, पृ.९१

जाहिर है कि किसी कहानी या कविता या उपन्यास का सत्य कहीं ठहरा हुआ नहीं है । वह तितली की उडान की तरह है । रचना के हर एक पन्ने पर उस सत्य की झलक हम पा सकते हैं । लेकिन उसकी पूरी झलक किसी भी पन्ने पर किसी को भी नहीं मिलती । इसलिए उस सत्य को किसी एक अवधारणा में बाँधना भी नामुमकिन है । हर महान कृति, जैसे होमर की ओडिसी में, उसका सत्य उसके समूचे प्रवाह में निहित है । दर्शनशास्त्र और समाजविज्ञान के ग्रन्थों में मनुष्य की एक सुस्थिर अवधारणा मिल जाती है । लेकिन किसी कविता कहानी या उपन्यास में मनुष्य की सैकडों छवियाँ दृष्टिगत होती हैं । किसी एक छवि को पकड़कर हम यह नहीं कह सकते कि यही मनुष्य का अंतिम सत्य है, "एक कलाकृति का सत्य उसके समूचे कथ्य के विस्तार और बुनावट - उसके टेक्स्चर - में निहित रहता है - एक जासूसी उपन्यास की तरह वह अंतिम पृष्ठ पर उद्‌घाटित नहीं होता ।

एक कलाकृति का सत्य उसकी समूची देह की शिराओं में प्रवाहित होता है - शुरू में उतना ही, जितना अंत में । पुस्तक समाप्त होने पर जो चीज़ हाथ लगती है, वह कोई बना बनाया सत्य नहीं - बल्कि अपने खाली हाथ - जिनमें हमने न जाने कितने भ्रमों को सत्य समझकर पकड़ा था, कितने स्तयों को भ्रम मानकर छोड़ दिया था हर कलाकृति का अंत अपने को जानने की एक नयी शुरूआत होती है ।"[२५]

किसी भी कलाकृति के प्रति हमें उपयोगितावादी दृष्टि नहीं अपनानी चाहिए । कलाकृति किसी चीज़ को प्राप्त करने का साधन नहीं है । एक कविता, कहानी या उपन्यास हमें अपने जीवन में खास तरह का आनन्द देता है तो यह उस कलाकृति की संरचना की विशेषता है । उसका अपना एक सत्य होता है । कोई भी कलाकृति पूर्ण रूप से उसे पाठक को नहीं देती । उस सत्य का एक हिस्सा हमेशा कलाकृति में ही रहता है । इसीलिए किसी कलाकृति को पढ़ने पर पहली बार हमें जो अनुभव होता है वह दुबारा पढ़ने पर गहरा और दुगुना हो जाता है, "जब हमारा अनुभव कुछ बदलता है, जब उसका

---

२५. निर्मल वर्मा - भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र, पृ.९३

परिष्कार होता है, और तब हम जब उसी कहानी या कविता के पास जाते हैं तो पाते हैं कि वह हमसे कुछ और भी कह रही है जो पहले नहीं कहा था । हमारा बदला हुआ मानस भी उस कहानी या कविता से कुछ 'अतिरिक्त' पा लेता है जो पहले हम उससे पाने के पात्र नहीं थे ।''[२६]

कलाकृति हमें ज़िन्दगी के हडबडाहट के बीच रोक लेती है । हमारे जीवन में आज तक जो कुछ भी गुज़रा है कलाकृति उसे रोक कर उसे एक खास अर्थ-व्यवस्था प्रदान करती है । कला का हमारी ज़िन्दगी में एक महत्वपूर्ण स्थान तो है लेकिन वह हमारी ज़िन्दगी को नहीं बदलता । लेकिन वह परोक्ष ढंग से बिना बोले चुपचाप हमारे आस पास की ज़िन्दगी से हमारे रिश्ते को बदलती है । उसके बाद मनुष्य और दुनिया के बीच का रिश्ता बदल जाता है । यह एक अनूठा अनुभव ही है कि तब तक हमारे सामने दुनियाकी जो तसवीर है वह बदल जाती है और आसपास की ज़िन्दगी से तब तक हमारा जो रिशता था वह भी बदल जाता है, ''अगर मुझसे कोई अनुभव की परिभाषा करने को कहे तो मैं कहूँगा ये है कि एक ज़िन्दगी को जीते हुए बहुत-सी ज़िन्दगियों में और बहुत से यथार्थों से साक्षात्कार करना । कभी आपने इसके बारे में सोचा कि हम ज़िन्दगी तो एक ही जीते हैं लेकिन एक ही ज़िन्दगी हमारे भीतर नहीं जीती । कितनी ही ज़िन्दगियाँ हमारे भीतर दबी रहती है, जिनका चुनाव हम नहीं कर सके ।''[२७] इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हम वास्तविक जीवन में जिन ज़िन्दगियों को अनुभव नहीं कर सके उसे एक कलाकृति के द्वारा साध्य बनाया जा सकता है । एक ही जीवन को साहित्य समृद्ध बहुआयामी तथा सघन बनाता है, ''ऐसे उपन्यास और कहानियाँ हैं, जिसमें मृत्यु का अनुभव, प्रसव-पीडा का अनुभव, आत्महत्या से पहले का अनुभव, जो मेरे अनुभव नहीं हैं, क्योंकि न तो मैं ने बच्चा जना है और न कभी आत्महत्या करने की सोची है, न कभी मैं मृत्यु के पास गया

---

२६. निर्मल वर्मा - आदि अन्त और आरम्भ, पृ.१७३
२७. वही, पृ.१७५

हूँ, लेकिन इन सब अनुभवों को पूरी विकटता, पूरी जटिलता और पूरी सघनता के साथ मैंने भोगा है - उपन्यासों और कहानियों को पढ़ते हुए ।''[२८]

इस प्रकार साहित्य हमें किसी अनुभव की अन्तिम परिणति तक ले जाता है । वह हमारी ज़िन्दगी की विसंगतियों पीडाओं और सुखों को उसके समूचे रूप में अनुभव कराता है । हम जो निर्णय हमारे वास्तविक जीवन में कभी कभी नहीं कर पाते, उसे हम साहित्य में बहुत ही जल्दी ले पाते हैं । वास्तविक जीवन के हर एक पहलू पर मनुष्य को समझौता करना पड़ता है । लेकिन कला में हम उस समझौते का अतिक्रमण करके जीवन के यथार्थ को पा सकते हैं । इस प्रकार की कला को अभिव्यक्त करने के लिए सशक्त भाषा का प्रयोग भी करना पडता है । एक लेखक में अपनी भाषा के प्रति ईमानदारी आवश्यक है, ''जब तक एक लेखक अपनी भाषा के साथ एक सच्चा, ईमानदार संबन्ध नहीं बिठा पाता, तब तक वह और कुछ भी हो सकता है, एक समर्थ या सच्चा लेखक नहीं हो सकता ! एक बार जब आप भाषा से वह रिश्ता बना लेते हैं तो आपकी विषयवस्तु कुछ भी क्यों न हो, उसमें एक गहरा सत्य प्राप्त कर लेंगे, उसे सम्प्रेषित कर पाने में सफल होंगे ।''[२९] इन शब्दों द्वारा ही लेखक ज़िन्दगी के सभी रंगों को प्रस्तुत करता है ।

आज हमारी दुनिया में आदमी दिन-ब-दिन अजनबी होता जा रहा है । यह अजनबीपन सिर्फ एक व्यक्तिगत अनुभूति नहीं है । यह आधुनिक सभ्यता के उन्मूलन-बोध की उपज है । पिछली कुछ सदियों से धार्मिक कट्टरता, तानाशाही आतंक, राजनीतिक उत्पीडन आदि से मनुष्य अपना घरबार छोड़कर शरणार्थी की तरह भटक रहा है । लेकिन यह आत्म उन्मूलन का भाव मनुष्य अपने जीवन के हर पडाव पर महसूस करता है । वह अपने घर या अपने देश से ही नहीं अपनी आत्मा से भी अपने को

२८.. निर्मल वर्मा - आदि अन्त और आरम्भ, पृ.१७६

२९. वही, पृ.१७८

अजनबी महसूस करने लगा है । इस खोए हुए आत्म की खोज की सर्वांगीण अभिव्यंजना सिर्फ साहित्य में ही हो सकती है, "बीसवीं शती का साहित्य अपने चरमोत्कर्ष क्षणों में खोए हुए आत्म की तलाश है ।"[३०] साहित्य हमें अपने खोए हुए आत्म से या खोई हुई अस्मिता से साक्षात् करने का अवसर प्रदान करता है ।

इस दृष्टि से देखे तो कला का सामना करते हुए दरअसल हम दुनिया का सामना कर रहे हैं । एक ऐसी दुनिया जो सामान्य मनुष्य के औसत जीवन से मिलती जुलती होने पर भी अलग दिखायी देती है । दरअसल कला या साहित्य मनुष्य जीवन के उन खोये हुए क्षणों को फिर से जगाने का कार्य करती हैं जो काल के प्रवाह में विस्मृति के खंडहर में डूब गया था । कला अगर अपने में स्वायत्त है तो उस पर किसी प्रकार का सामाजिक और राजनैतिक दबाव नहीं पड सकता । कला स्वतंत्र वातावरण में ही अपना अस्तित्व बना सकती है । इसीलिए कलाकार को हमेशा स्वतंत्रता के प्रति प्रतिबद्ध होना पडता है ।

इस विश्लेषण से यह ज़ाहिर हो जाता हैं कि हम साहित्य के असली रूप को तभी पहचान सकते हैं जब उसके रचनाकार की असलियत को पहचान पाएँ । तभी हम अच्छे साहित्य और छद्म साहित्य को अलग अलग करके देखने का विवेक पा सकते हैं । आज कहानी, उपन्यास, कविता आदि सरासर लिखे जा रहे हैं । लेकिन ऐसा कोई सामान्य तत्व नहीं है जो उसे असली कला का दर्जा देता है । उस सामान्य तत्व को खोज पाना उतना आसान कार्य भी नहीं है । यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि कलाकृति हम पर जो अनुभूति छोड़ती है उसके आधार पर इस तत्व का प्रादुर्भाव होता है । यह अनुभूति अनुभव के धरादल पर ही सृजित होती है । ज्ञान, बुद्धि, तर्क, मुक्ति, विवेक आदि पहलुओं से गुज़रते हुए अनुभव अनुभूति का दर्जा प्राप्त करता है । इस अनुभूति में अतीत वर्तमान और भविष्यरूपी सभी कालविभाजन ढ़ह जाते हैं ।

---

३०. निर्मल वर्मा - दूसरे शब्दों में, पृ.९५

समाजशास्त्र, इतिहास, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान आदि में साहित्य की गणना भी की जाती है । पर यह ठीक नहीं है । क्योंकि इन शास्त्रों में मनुष्य एक 'अन्य' के रूप में आता है और जिसे हम बाहर से देखते हैं । लेकिन साहित्य में यह मनुष्य ही ओब्जेक्ट है । असली जीवन में हमारे भीतर के सारे अनुभव - द्वार बन्द पडे रहते हैं । लेकिन साहित्य में ये अनुभव जब अभिव्यक्त होते हैं तब हमारे द्वारा अनुभूत न होने पर भी उनका हमारे मन पर बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ता है । सतह के ऊपर हमें मनुष्य का सामान्य रूप ही दिखायी देता है । लेकिन उसके अन्दर पैठने पर अनेक अनुभव द्वार खुल जाते हैं जिनमें मनुष्य का सत्य छिपा रहता है । इस दृष्टि से मनुष्य साहित्य में एक ओब्जेक्ट बन जाता है । याने कि दैनिक जीवन के हमारे अनुभव साहित्य में आकर ज़्यादा विशवसनीयता प्राप्त करते हैं, "दैनिक जीवन में जो अनुभव हमें नितांत मायावी, असंगत और अस्वाभाविक जान पडते हैं, साहित्य में वे एक आश्चर्यजनक अनिवार्यता और विश्वसनीयता प्राप्त कर लेते हैं ।"[३१] इसके उदाहरणस्वरूप निर्मल जी काफ्का के उपन्यासों को हमारे सामने रखते हैं । उनके उपन्यासों को जार्ज लूकाच ने टॉमस मान के उपन्यासों की तुलना में गैर यथार्थवादी घोषित किया था । किन्तु हंगरी पर रूसी सेना के आक्रमण के बाद हंगरीवालों को रोमानियन दूतावास में शरण लेना पडा तो उन्हें वह विसंगति महसूस हुई जिसे काफ्का ने अपने उपन्यास में अभिव्यक्त किया था । इस कारण काफ्का के उपन्यासों का यथार्थ उस युग में ज्यादा प्रासंगिक हो गया ।

आज भारतीय साहित्य में रचना की प्रासंगिकता को मापने का एक प्रमुख तत्व भारतीयता बन गयी है । पहले इस प्रकार भारतीयता के तत्व पर रचना को आँका नहीं जाता था क्योंकि उस समय के रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्रेमचन्द, निराला जैसे रचनाकार अपनी जड़ों से उन्मूलित नहीं थे । उसे अलग से अपनी भारतीयता या अस्मिता का ढ़िंढ़ोरा पीटने की आवश्यकता नहीं थी । लेकिन आज के हमारे लेखक कभी-कभी अपनी विरासत और

३१.. निर्मल वर्मा - आदि अन्त और आरम्भ, पृ.१२०

अस्मिता को बिल्कुल भूल जाते हैं । ऐसे अवसरों पर उन्हें अपनी जातीय अस्मिता पर ही शक होने लगता है । इसीलिए वे रचना के मूल्यांकन के लिए भारतीयता को लाठी की तरह इस्तेमाल करते हैं । ये लेखक के लिए ही अनिवार्य नहीं है यह बल्कि भारत के हर एक संवेदनशील व्यक्ति के लिए भी अनिवार्य है । तभी वह अपने सही चेहरे को पहचान सकता है ।

सच बात तो यह है कि जब कभी एक लेखक अपनी भाषा में किसी कविता कहानी या उपन्यास की रचना शुरू करता है तब वह अनजाने ही अपनी परंपरा और जातीय अस्मिता से संपृक्त हो जाता है । इससे उसकी रचना में भारतीयता का निखरा हुआ रूप दिखायी देता है । इसके लिए उसे अलग से कोई प्रमाण देना नहीं पड़ता । इस दृष्टि से देखने पर हिन्दी साहित्य में विदेशी प्रभाव पर चिन्ता करना बिल्कुल व्यर्थ कार्य है, क्योंकि, "अमूर्त-सी दिखनेवाली रूपवादी रचनाएँ, जिन पर विदेशी प्रभाव का आरोप अक्सर लगाया जाता है, अक्सर भारतीय अनुभव के बीहडपन को अधिक अंतरंगता से अभिव्यक्त कर पाती है ।"[३२] इससे स्पष्ट होता है कि भाषा ही रचना की आत्मा होती है, जिसमें उसका सत्य छिपा रहता है । हर एक रचना चाहे वह कविता हो कहानी हो या उपन्यास, वह मनुष्य को अपने जीवन के अन्धेरे में सत्य को तलाशने की राह दिखाता है, "मनुष्य को उसकी संपूर्ण छवि में देख पाने की चेष्टा आज के युग में बिना किसी समझौते के, बिना किसी विकृति के, बिना किसी अपने दुराग्रहों के या अपने विश्वासों को अपने तथा यथार्थ के बीच में लाए हुए केवल कला कर सकती है ।"[३३]

पिछली कुछ सदियों से लेखकों की प्रतिबद्धता पर बहसें हो रही हैं । बहस का विषय यह है कि लेखक की असली प्रतिबद्धता किसके प्रति होनी चाहिए । समाज के प्रति, किसी दल-विशेष के प्रति या किसी विचारधारा के प्रति । लेकिन असली बात यह है

---

३२. निर्मल वर्मा - आदि अन्त और आरम्भ, पृ.१२१
३३. वही, पृ.१३८

कि लेखक की प्रतिबद्धता भाषा के प्रति ही होनी चाहिए । क्योंकि हर एक कविता कहानी या उपन्यास भाषा का एकालाप होता है जो वह अपने समाज से करती है । लेकिन इस भाषा के प्रति प्रतिबद्ध होने के साथ साथ लेखक को अपने प्रति भी प्रतिबद्ध होना है । क्योंकि हर व्यक्ति के अनुभव-सत्य को रचना में दर्शाने के लिए लेखक को सब से पहले निर्वैयक्तिक होना पड़ता है, "अपने युग के प्रति लेखक की प्रासंगिकता इस से सिद्ध नहीं होती कि वह किन तात्कालिक विचारधाराओं को अपनी रचनाओं में व्यक्त करता है, किन दलित दलों के हितों का डंका बजाता है, बल्कि इसमें निहित होती है कि किस हद तक वह अपने भीतर की दमित वर्जनाओं से मुक्ति पाकर जीवन के उन सार्वभौमिक सत्यों को उजागर कर सके, जो हर समय और समाज के सन्दर्भ में प्रासंगिक होते हैं ।"[३४]

ज़ाहिर है कि आज के वैज्ञानिक युग में साहित्य का महत्व कुछ तो धूमिल पड़ गया है । लेकिन वह कभी उसकी गरिमा नहीं खोएगा । क्योंकि मनुष्य के होने का एक मात्र प्रमाण आज साहित्य और कला है । साहित्य के प्रति कभी भी उपयोगितावादी दृष्यिकोण अपनाना नहीं चाहिए । पढ़कर अगर कुछ प्राप्त न हो तो उसे निरर्थक मानना नहीं चाहिए । क्योंकि वह कोई भोग विलास की चीज़ नहीं । इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहूँचते हैं कि कला या साहित्य की प्रासंगिकता किसी ऐतिहासिक समय पर निर्भर नहीं करती । वह मनुष्य की नियति को छूनेवाले प्रश्नों से सम्बन्ध रखती है । वह पाप और पुण्य, नैतिक और अनैतिक, सुन्दर और असुन्दर के बीच की विभाजन रेखा बनकर हमारे सामने उपस्थित होती है ।

३४.. निर्मल वर्मा - आदि अन्त और आरम्भ, पृ.१२६-१२७

रचनाकार

निर्मल वर्मा ने साहित्य की प्रासंगिकता, उसकी आवशयकता, कला का सत्य आदि पर विस्तार से विचार करने के साथ ही साथ हिन्दी साहित्य के कुछ प्रमुख हस्ताक्षरों की रचना दृष्टि पर भी प्रकाश डाला हैं । वे हैं प्रेमचन्द, रेणु, अज्ञेय, मुक्तिबोध, मलयज, धर्मवीर भारती आदि ।

प्रेमचन्द की मृत्यु हुए अब चार दशक से अधिक बीत चुके हैं । इस बीच हर दशक के कथाकारों ने उन्हें अपनी-अपनी कसौटी पर परखा है । क्योंकि प्रेमचन्द कुछ वर्ष पहले के रचनाकार होते हुए भी उनकी रचनाओं में वे सारी समस्याएँ आ चुकी हैं जो आज भी हमारे समाज में बनी रहती है । अत: आधुनिक साहित्य की शुरूआत हम प्रेमचन्द से ही मानते है । खासकर उनकी अन्तिम दौर की रचनाएँ हर युग में प्रासंगिक रहेंगी । नए लेखक उन रास्तों पर चलकर मौलिकता की नयी दिशाएँ हासिल कर सके हैं । कुछ कथाकार ऐसे हैं जो प्रेमचन्द के प्रभाव को स्पष्टत: स्वीकारते हैं । लेकिन कुछ ऐसे भी हैं जो उनकी विरासत को ही नकारते हैं । फिर भी इनकी रचनाओं में अनजाने ही प्रेमचन्द की भी झलक मिल जाती है । वह इसीलिए है कि प्रेमचन्द एक क्लासिक रचनाकार हैं, "यदि आज हम अपने बीच प्रेमचन्द की उपस्थिति महसूस करते हैं - तो उनके प्रगतिशील विचारों या यथार्थवादी आदर्शों (या आदर्शवादी यथार्थ - आप जो भी कहना चाहें) के कारण नहीं - बल्कि उनकी रचनाओं में निहित मनुष्य, एक भारतीय मनुष्य की मानसिक बनावट के कारण, जिसे पगने, फूलने में सैकड़ों वर्ष लगे थे - एक स्थिर व्यक्तित्व का चेहरा, जिसका दर्शन हमें पहली बार उनकी कहानियों - उपन्यासों में हुआ था ।"[३५] रामविलास शर्मा के अनुसार - "अपने उपन्यासों में उन्होंने सामाजिक संघर्ष के चित्र दिये हैं । प्रेमाश्रम का आधार किसान-ज़मीन्दार का संघर्ष है; गोदान की समस्या किसान-

---

३५. निर्मल वर्मा - ढलान से उतरते हुए, पृ.४९

महाजन की है । कर्मभूमि में अछूत और लगानबन्दी - आन्दोलनों और रंगमूमि में नये उद्योग धन्धों से गॉवों में परिवर्तन का चित्रण किया गया है । समाज के इतने विभिन्न स्तरों का व्यापक ज्ञान संसार के बहुत कम साहित्यिकों को मिलेगा । अपने युग की निर्धनता दासता और पीडितों की आर्तवेदना को जैसा उन्होंने अनुभव किया था, वैसा दूसरे ने नहीं ।''[३६]

इस प्रकार प्रेमचन्द की रचनाओं में ही हमें पहली बार मनुष्य का सच्चा स्वरूप दिखायी देता है । परवर्ती रचनाकारों के लिए यह एक प्रकार से आधारभूमि बन गयी । बाद की रचनाओं के लगभग सभी पात्र इसी आधाारभूमि पर विकसित हुए हैं । प्रेमचन्द हमेशा मनुष्य की अच्छाई में विश्वास रखते थे । उनमें हमेशा एक आशावादी दृष्टिकोण था । उनकी इस अच्छाई की परिभाषा भारतीय किसान की अंतरंग समझ और सहानुभूति के बल पर बनी है । इसका संबन्ध भारतीय मनुष्य के धर्म से जुडा हुआ है । धर्म का मतलब कोई आस्था या विश्वास नहीं दायित्वबोध है । इस दायित्वबोध के कारण हर व्यक्ति अपने समाज और परिवेश में अपनी जगह पहचानकर कार्य करता है । इसीसे वह अपनी सुरक्षा और अस्मिता को महसूस करता है । इसे आत्म - स्वाभिमान संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है । इसी आत्म-स्वाभिमान के कारण एक किसान भूखा रह कर भी अपनी सात पीढ़ियों तक ज़मीन्दार का ऋण चुकाकर अपना जीवन गँवाता है । वह चाहे तो उसका अतिक्रमण कर सकता है । लेकिन वह अपने आत्म-स्वाभिमान के कारण ऐसा कर नहीं पाता । उसी प्रकार पंच की गद्दी के प्रति वफादार रह कर एक साधारण मनुष्य परमेश्वर बन जाता है । इस मनुष्य को हर कहीं अपना दायित्व निभाना पड़ता है । मनुष्य के लिए कुछ जिम्मेदारियाँ दी गई है । उन जिम्मेदारियों को उसे बिना किसी झिझक के अपने समाज,परिवार और जाति के प्रति निभाना पडता है । कभी कभी अवसरानुसार इन ज़िम्मेदारियों के अनुशासन पर चलना मुश्किल पड जाता है । लेकिन वह मनुष्य इन

---

३६. रामविलास शर्मा - परंपरा का मूल्यांकन, पृ.१४३

पूर्वनिर्धारित ज़िम्मेदारियों से चूककर कुछ भी कर नहीं पाता । ऐसे अवसर पर यह मनुष्य स्वयं अपनी अच्छाइयों से स्खलित हो जाता है । प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में इन अच्छाइयों पर शंका प्रकट नहीं की है क्योंकि ऐसा किया तो वह मनुष्य के बुनियादी दायित्व पर शंका प्रकट करना होगा । उनके आरंभिक रचनाओं में समाज सुधार की बात इस दृष्टि से आती है कि मनुष्य सामंतवादी सत्ता के भीतर अपने दायित्वों को बिना किसी अडचन के संपन्न करने की सुविधा पाने में सक्षम हो ।

प्रेमचन्द की अन्तिम दौर की रचनाओं में दूसरे ही प्रकार की भावना व्यक्त हुई है । इन रचनाओं मेंकुछ विरोध, थोडा आक्रोश, बेचैनी, हताशा आदि दिखायी देते हैं । यह इसलिए कि औपनिवेशिक भारत के समाज में उन्होंने उन सब मूल्यों को विषाक्त होते देखा जिनके आधार पर उन्होंने अपनी आरंभिक रचनाओं का सृजन किया था। इन में वे महाजनी सभ्यता के घोर विरोधी बन गए । इस प्रकार उनकी दृष्टि के बदलने का कारण हिन्दुस्तानी की गरीबी और यातना है, "जिस औपनिवेशिक दृष्टि की सीमाओं ने प्रेमचन्द की आरंभिक कहानियों और उपन्यासों को सतही और भावुक बनाया था, उसी औपनिवेशिक तंत्र के भीतर हिन्दुस्तानी यातना ने उन्हें एक विशिष्ट दृष्टि दी थी ।"[३७] इन में उन्होंने मनुष्य को औपनिवेशिक चौखटे से बाहर निकाला । इनमें अभिव्यक्त समस्याएँ आधुनिक जीवन की विडंबनाएँ बन गयीं । 'कफन' तक आते आते प्रेमचन्द सारे मूल्यों के नष्टभ्रष्ट होने पर आक्रोश प्रकट करते हैं । बाप-बेटे मिलकर घर की औरत के कफन के पैसों से शराब पीते हैं तो आज के मनुष्य की अमानवीय स्थिति उजागर हो जाती है, "जिस क्षण बाप बेटे ने घर की औरत के कफन के पैसों से शराब का कुल्हड मूँह से लगाया था, उस क्षण पहली बार हिन्दी साहित्य में व्यक्ति ने अपनी स्वतंत्रता का स्वाद भी चखा था । यह क्षण वह था, जब प्रेमचन्द के समाज में व्यक्ति का जन्म हुआ था । यह जन्म मृत्यु और श्मशान की छाया में हुआ था - दो पियक्कड हिन्दुस्तानियों का मुक्ति समारोह । अपनी

---

३७. निर्मल वर्मा - ढलान से उतरते हुए, पृ.५५

ंतिम कहानी में प्रेमचन्द पूरा एक दायरा पूरा कर गए थे ।''[३८] इस प्रकार आधुनिक हिन्दी ाहित्य को मार्मिक मोड देने में प्रेमचन्द की रचनाओं की भूमिका निर्विवाद है । प्रेमचन्द ो इसी सृजनात्मक प्रतिभा के कारण वे आज भी हमारे बीच वर्तमान है । उनकी यह पस्थिति ही उनकी सबसे बडी उपलब्धि है ।

फणीश्वरनाथ नाथ रेणु भी प्रेमचन्द की विरासत के लेखक हैं । उनकी रचनाओं भी ग्रामीण जीवन का यथार्थ ही झलकता है । निर्मल जी ने 'मैला आँचल' और रती : परीकथा' के आधार पर रेणु की रचनादृष्टि पर प्रकाश डाला है । कथावस्तु की मानता के कारण आलोचक वर्ग ने 'परती : परिकथा' को 'मैला आँचल' की पुनरावृत्ति ही है । निर्मल जी के अनुसार किसी लेखक के पहले उपन्यास की कथावस्तु, पात्रों की ानसिक उथल-पुथल, समस्याएँ, संवेदनाएँ आदि बदल सकती हैं लेकिन उनके प्रति खक का जो कलात्मक आग्रह और शिल्पगत दृष्टिकोण है वह बदलता नहीं । इन दोनों पन्यासों के रूप विधान और रचना-गठन जैसे बाह्य तत्व एक दूसरे से मिलते जुलते हैं । किन 'परती परिकथा' का परिवेश 'मैला अँचल' से ज़्यादा व्यापक है । समाज के ाभिन्न वर्ग और राजनीतिक दलों के बीच स्वतंत्रता संग्राम के वातावरण में एक प्रकार के नाव का वातावरण छाया हुआ था । 'मैला आँचल' में हम उस तनाव का बीज पाते हैं तो रती : परिकथा' में उसका विकसित एवं स्पष्ट रूप । लेकिन इस तनाव के बीच भी ानपुर गाँव के त्योहारों और गानों का जिक्र 'परती : परिकथा' में मिलता है जिसके बीच पन्यास की कथा चलती है। रेणु ने इसमें छोटी से छोटी घटनाओं को भी अत्यन्त ार्मिकता के साथ प्रस्तुत किया है, 'रेणु की यह दृष्टि उपन्यासकार की दृष्टि है जो छोटी-ोटी घटनाओं को अद्भुत नाटकीयता प्रदान करती है । इन घटनाओं के माध्यम से 'रेणु'

निर्मल वर्मा - ढलान से उतरते हुए, पृ.५६

ठोस, जीवन्त कथा-पात्रों '(फिक्शनल कैरेक्टर्स)' की सृष्टि की है, और यह उनकी हत्वपूर्ण उपलब्धि है ।''[३९]

'परती : परिकथा' रेणु का एक महत्वपूर्ण उपन्यास इसलिए बनता है कि उसमें ानपूर गाँव की समस्त विषमताएँ, असंगतियाँ, छोटे से छोटे प्राणी के सुख दुख भी माहित हैं । इसलिए सतही तौर पर उसमें विश्रृंखलता और बिखराव के होते हुए भी वह मग्र जीवन को हमारे सामने प्रस्तुत करता है । उपन्यास की महत्वपूर्ण उपलब्धि को प्राप्त रने में रेणु के पात्र कभी कभी असमर्थ होते हुए दिखायी देते हैं । इसका कारण रेणु की ार्वैयक्तिक और निरपेक्ष दृष्टिकोण की कमी है । कथावस्तु का जो बिखराव इस उपन्यास हुआ है वह उनका शिल्पपरक विशिष्ट प्रयोग है ।

रेणु के व्यक्तित्व ने निर्मल वर्मा को बहुत ज़्यादा प्रभावित किया है, ''वह छोटे-छोटे ाक्यों में सन्यासियों की तरह बोलते थे और शरमाकर हसने लगते थे । उनका 'हल्कापन' छ वैसा ही था जिसके बारे में चेखव ने एक बार कहा था, 'कुछ लोग जीवन में बहुत ागते-सहते हैं - ऐसे आदमी ऊपर से बहुत हल्के और हँसमुख दिखायी देते हैं । वे पनी पीडा दूसरों पर नहीं थोपते क्योंकि उनकी शालीनता उन्हें अपनी पीडा का प्रदर्शन रने से रोकती हैं ।' रेणु ऐसे ही शालीन व्यक्ति थे ।''[४०] निर्मल जी के बौद्धिक मण्डल : रेणु का गहरा प्रभाव पड़ा है । इसलिए वे जब भी लिखते थे रेणु को ध्यान में रखकर ाखते थे, ''कुछ लोग हमेशा हम पर सेंसर का काम करते हैं - सत्ता का सेंसर नहीं, जिसमें य और धमकी छिपी रहती है - किन्तु एक ऐसा सेंसर जो हमारी आत्मा और 'काँशंस'

निर्मल वर्मा - कला का जोखिम, पृ.६१-६२
वही, पृ.६५-६६

हमारे रचना-कर्म की नैतिकता के साथ जुडा होता है । रेणु जी का होना, उनकी उपस्थिति ही एक अंकुश और वरदान थी ।''[४१]

रेणु जी साहित्य के क्षेत्र में कुछ देरी से आये थे । लेकिन उनके पास पूरी अनुभव संपदा थी । रेणु से पहले भी कई लेखकों ने आँचलिक उपन्यास लिखे हैं । लेकिन रेणु ने जिस मिज़ाज से वह लिखा है वैसा और किसी ने नहीं । निर्मल जी के मत में रेणु का महत्व उनकी आँचलिकता में नहीं, उस आँचलिकता का अतिक्रमण करने में हैं । उन्होंने सिर्फ आँचलिक परिवेश को लिया था । उसके भीतर बहती जीवन धारा उस अंचल विशेष का अतिक्रमण करनेवाली थी । इनके उपन्यास में सैकडों पात्र आते जाते रहते हैं । कई तत्कालीन घटनाएँ सिलसिलेवार ढंग से आती रहती हैं । जैसे गाँधिजी का सत्याग्रह आन्दोलन, सोशलिस्ट आदर्श, किसान सभाओं की बैठकें आदि । लेकिन संपूर्ण घटनाएँ पूर्णिया के ग्रामीण परिवेश में बुनी गयी हैं । रेणु ने इस प्रकार उपन्यास विधा को एक नया मोड देने की कोशिश की है, ''शायद ही किसी हिन्दी-उपन्यासकार ने उपन्यास की 'नैरेटीव' परम्परा को झिंझोडकर उसे प्रेमचंदीय ढॉचे से बाहर निकालकर इतना नाटकीय, इतना लचीला, इतना काव्यात्मक बनाया था जितना रेणु ने और यह नाटकीयता, यह कविता अलंकारमय और कृत्रिम नहीं थी, क्योंकि परम्परागत किसान और आधुनिक ऐतिहासिक आन्दोलन के बीच जिस मुठभेड को रेणु ने अपना विषय बनाया था, उसमें पहले से ही बारूदी नाटकीयता विद्यमान थी ।''[४२] इस प्रकार रेणु ने यथार्थवादी उपन्यासों के ढाँचे को ढह दिया और उसमें जातीय संभावना की तलाश की । इसीलिए निर्मल जी के मत में, ''वह समकालीन हिन्दी-साहित्य के सन्त-लेखक थे । यहाँ मैं सन्त शब्द का उसके सबसे मौलिक और प्राथमिक अर्थों में इस्तेमाल कर रहा हूँ - एक ऐसा व्यक्ति जो दुनिया की किसी चीज़ को त्याज्य और घृणास्पद नहीं मानता - हर जीवित तत्व में पवित्रता और

---

४१. निर्मल वर्मा - कला का जोखिम, पृ.६६

४२. वही, पृ.६९

ौन्दर्य और चमत्काार खोज लेता है - इसलिए नहीं कि वह इस धरती पर उगनेवाली कुरूपता, अन्याय, अन्धेरे और आँसुओं को नहीं देखता बल्कि इन सबको समेटनेवाली अबाध प्राणवत्ता को पहचानता है .... इस अर्थ में हर सन्त व्यक्ति अपनी अन्तर्दृष्टि में कवि और हर कवि अपने सृजनात्मक कर्म में सन्त होता है । रेणु जी का समूचा लेखन इस रिश्ते की पहचान है ।''[४३] इस प्रकार निर्मल जी ने रेणु के सृजनात्मक जीवन का अंकन केया है ।

अज्ञेय जैसे बहुआयामी सृजनात्मक प्रतिभा पर भी निर्मल जी ने अपनी कलम चलायी है । अज्ञेय एक ऐसे साहित्यकार हैं जिन्होंने साहित्य-सृजन के बाहर 'रचनात्मक सृजन को अपनी चिन्ता का विषय बनाया है । अज्ञेय अपने समय के सबसे सचेत लेखक हैं । वे कविता के सत्य के प्रति ज्यादा सचेत रहनेवाला कवि है । इसीलिए निर्मल जी के शब्दों में, ''उनकी कविताएँ बौद्धिक न होकर भी 'वैचारिक आलोक' में लिपटी रहती हैं ।''[४४] अज्ञेय की ज़िन्दगी लम्बी तथा संघर्षपूर्ण है । आतंकवादी आन्दोलन, कारावास, युद्ध के दौरान बर्मा के मोर्चे पर सैनिक अनुभव, यात्राएँ आदि से उनकी ज़िन्दगी भरी हुई है । लेकिन उनकी पुस्तकों विशेषकर 'भवन्ति', 'शाश्वती' और 'अंतरा' में इसकी झलक नहीं मिलती । इसमें सिर्फ फैला हुआ चिन्तन प्रदेश मिलता है । कहीं कोई उतार-चढाव नहीं, कहीं कोई मील का पत्थर नहीं, कौन सी राह चुनी थी इसका कोई इशारा नहीं, वास्तव में इन किताबों में समय का अभाव खटकता है । इससे किसी तात्कालीन परिस्थिति या उसका लेखक पर पडे किसी प्रभाव का इशारा नहीं मिलता । इसलिए उन्हें पढ़ने पर कहीं कहीं एक अफसोस होता है ।

अज्ञेय हमेशा व्यष्टि और समष्टि का समन्वय करते हैं । इसलिए वे हमेशा 'मैं' से अन्य और 'अन्य' से 'मैं' की तरफ आते जाते हुए लगते हैं । अज्ञेय जी की हर बात

---

३. निर्मल वर्मा - कला का जोखिम, पृ.६६-६७
४. निर्मल वर्मा - शताब्दी के ढलते वर्षों में, पृ.२१४

महत्वपूर्ण है । वे बौद्धिक कोण से बात उठाते हैं । उनकी हर रचना में अकेलेपन की भावना रहती है । यह अकेलापन दिखावटी नहीं है, "इसका एक छोर यदि अज्ञेय की आत्मसुरक्षा से जुडा है, तो दूसरा छोर हिन्दी साहित्य के उस भयावह वातावरण से बँधा है - जिसमें अज्ञेय ने अपने सर्वश्रेष्ठ वर्ष गुज़ारे हैं ।"[४५] साहित्य में सृजनात्मक बोध और कलात्मक संवेदना को बचाना साहित्य को बचाने की नैतिक चुनौती है । अज्ञेय इस चुनौती को स्वीकार करते हैं । अज्ञेय पर प्रगतिवादियों ने आत्मकेन्द्रित होने का जो आरोप लगाया है उसे निर्मल जी गलत साबित करते हैं, "अज्ञेय में दूसरों तक पहूँचने की गहरी ललक, संप्रेषणीयता में अदम्य विश्वास है, जो उनकी कविताओं में एक अजीब तरह की चमकीली ऋजुता, एक तरह की सहज उच्छलता गहन विचारों के बावजूद एक आत्मविश्वासी हल्कापन ले आता है ।"[४६] निर्मल जी के अनुसार अज्ञेय का रोमांटिसिज़्म शमशेर और मुक्तिबोध के रोमांटिसिज़्म से अलग है । शमशेर की तरह उनका मैं दुनिया में अपने होने की प्रसव-पीडा को भोगता नहीं, और न ही मुक्तिबोध की दुनिया की तरह भयावह भीमकाय है जो स्वयं कवि के 'मैं' पर चोट करती है । उनका 'मैं' मुक्तिबोध की तरह अंधेरे में भी नहीं भटकता । वे अपनी दुनिया खुद रचाना जानते हैं । उनका मैं कवच के अन्दर है । प्रहार पड़ने पर वह थरथराता तो है लेकिन घायल नहीं होता ।

राजनीति का दूषण, भाषा और शब्द की मर्यादा, आधुनिक संस्कृति के अन्तर्द्वन्द्व आदि कई विषयों पर अज्ञेय ने अपनी दृष्टि डाली है । वे इन समस्याओं पर केवल विचार करके रुकते नहीं बल्कि आत्मावलोकन के द्वारा अपनी सृजनगुत्थियों को सुलझाते हुए अनुभवों से उन्हें ज्यादा चमकाते हैं । निर्मल जी के अनुसार "अज्ञेय का लेखन महत्वपूर्ण है, नारों और अति सरलीकृत फार्मुलों के घटाटोप वातावरण में वे बहुत कुछ देते हैं, जो एक बार फिर हमारा विश्वास मनुष्य के विवेक और शब्द की गरिमा में प्रतिष्ठित करता

---

४५. निर्मल वर्मा - शताब्दी के ढलते वर्षों में, पृ.२१९
४६. वही, पृ.२२१

है ।"[४७] अज्ञेय ने अपनी लम्बी सृजनात्मक यात्रा में कुछ भी छोडा नहीं, प्रत्येक मोड पर उन्हें जो-जो स्मृति संकेत मिले हैं उन्हें जोड-जोडकर वे आगे बढे हैं । अज्ञेय अपने संस्कारों से जुडे हुए लेखक थे । 'तारसप्तक' में संकलित उनकी कविता छायावाद से बिल्कुल अलग है । उन्होंने कविता के रोमांटिक भावबोध को आत्मचेतना की वस्तुगत यातना के साथ जोडा था । यह कार्य निराला को छोडकर अन्य किसी छायावादी कवि ने नहीं किया । अज्ञेय का व्यक्तित्य सहज रूप से सिमटा हुआ था लेकिन उनके अन्दर का स्वाधीनता-बोध उन्हें उसका अतिक्रमण करने के लिए विवश करता है । वे अपनी रुचियों में अत्यन्त वैयक्तिक लगने पर भी अन्य कवियों के रचना संसार में बहुत आसानी से प्रवेश कर लेते थे ।

आज हर पत्रिका अपने किसी खास समूह का झण्डा फहराती है । लेकिन अज्ञेय ने कभी ऐसा नहीं किया । उनकी पत्रिका 'प्रतीक' मेंउन्होंने हर एक कवि की कविता को प्रकाशित किया । उनमें मुक्तिबोध भी थे, शमशेर भी थे । 'तीसरा सप्तक' में अपने आपको खुले रूप से मार्क्सवादी घोषित करनेवाले कुँवरनारायण, भवानी प्रसाद मिश्र, विजयदेवनारायण साही जैसे कवियों के साथ बातचीत करते हुए दिखायी देते हैं । लेखक के सामने बराबर यह चुनौती बनी रहती है कि वह अपनी भाषा को अवमूल्यित किये बिना दूसरों तक पूरी सच्चाई पवित्रता और प्रामाणिकता के साथ संप्रेषित कर पाए । अज्ञेय इसमें एक हद तक सफल हुए है । अज्ञेय ने अपने अंतिम समय में उन सब स्मृतियों, मिथकों, पुराणकथाओं को अपनी जातीय परंपरा के प्रति आकर्षण के कारण उत्कीर्णित करना चाहा । वे परंपरा के निरंतर प्रवाह में भारतीय लेखक की विशिष्ट भूमिका निर्दिष्ट करना चाहते थे । उनकी इसी सृजनात्मक लालसा के कारण वे आज भी हमारे समाज में उपस्थित हैं, "पिछले पचास वर्षों से वह हिन्दी साहित्य के परिदृश्य का इतना जीवंत अंग थे कि शायद ही कोई पीढ़ी उनकी उपस्थिति से अपने को अछूता छोड़ पायी हो । उपन्यास हो या कविता,

---

४७. निर्मल वर्मा - शताब्दी के ढलते वर्षों में, पृ.२२३

सृजन की कोई ऐसी इमारत नहीं जिस पर कही उनके हाथ की लगाई हुई ईंट, कहीं सुघड हाथों से चुना हुआ पत्थर, कहीं दीवार पर खींचा हुआ स्मृति-चित्र दिखाई न दे । वह व्यक्ति जो अपने जीवन काल में इतना चुप रहता था, मृत्यु के बाद इमारत के हर कोने में बोलता दिखाई देगा, ऐसा कभी नहीं सोचा था ।''[४८] इस प्रकार निर्मल जी ने अज्ञेय के अविस्मरणीय व्यक्तित्व पर अपनी अन्तर्दृष्टि डाली है । हिन्दी साहित्य में मुक्तिबोध एक कवि के रूप में ज्यादा प्रसिद्ध हैं । लेकिन उनकी गद्य रचनाएँ भी विशिष्ट हैं । निर्मल वर्मा ने उनके गद्य लेखन पर प्रकाश डाला है । मुक्तिबोध के समूचे गद्य में यह प्रश्न उठता है कि ज़िन्दगी क्या है ? हिन्दी के बहुत से लेखकों ने कस्बाती या छोटे शहर की ज़िन्दगी के ऊब, निरर्थकता और हताशा के बारे में लिखा है । लेकिन मुक्तिबोध ऐसे अकेले लेखक हैं जिन्होंने कस्बाती भारतीय के आध्यात्मिक संकट को उसकी समस्त कमज़ोरियों एवं आत्मभ्रान्तियों के दु:स्वप्नों के बीच पकड़ लिया था । वह सिर्फ बाहरी यथार्थ नहीं था, उनके आत्म का निजी दस्तावेज़ था । वे व्यक्ति की आत्मकेन्द्रित सत्ता को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं, ''मुक्तिबोध जीवन भर प्रश्नों से घिरे रहे, किन्तु उनके साथ वह निरन्तर एक ऐसे 'केन्द्रीय दर्शन' की तलाश करते रहे, जो उनकी भटकन को कोई अर्थ, कोई दिशा दे सके ।''[४९]

मुक्तिबोध अपने वर्ग के यानि भारतीय मध्यवर्ग के सबसे बडे आलोचक थे । उनकी दृष्टि में मध्यवर्ग का व्यक्ति सबसे ज्यादा कृत्रिम, पीडित, खोखला और अहंग्रस्त है । वे ज़िन्दगी भर इस मध्यवर्ग की तपती झुलसती ज़मीन पर चलते रहे । उनकी कविताओं में जो बेचैनी और छटपटाहट दिखायी देती है उस में अपने वर्ग के प्रति प्रेम और वितृष्णा दोनों भाव वर्तमान हैं । वे मध्यवर्ग का होकर अपने नैतिक मूल्यों को झुठलाना नहीं चाहता । न ही उसे छोडकर अपने अनुभवों से विश्वासघात करना चाहते हैं । उन्होंने

---

४८. निर्मल वर्मा - भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र, पृ.११३

४९. निर्मल वर्मा - कला का जोखिम, पृ.८५

मार्क्सवाद को स्वीकार किया, भावना के स्तर पर नहीं, "मार्क्सवाद उनके लिए महत्वपूर्ण है तो कविता रचने के लिए नहीं बल्कि अपनी रचना प्रक्रिया में एक ऐसी वस्तुपरक और वैज्ञानिक संगति देखने के लिए जिसमें सांसारिक अनुभव एक कलाकृति के सत्य को प्राप्त करते हो ।"[५०] स्वतंत्रता के बाद संपूर्ण भारतीय समाज विश्रृंखलित स्थिति में था । परिवार, समाज, समुदाय, जाति व्यवस्था जैसी सामाजिक संस्थाएँ अर्थशून्य बन गयी थीं । उससे उभरने का रास्ता उन्हें कला की तरह वैज्ञानिक अनुशासन में भी दिखायी देता था । निर्मल जी के अनुसार - "मुक्तिबोध यदि एक लेखक की आत्मालोचना को इतना महत्व देते थे, तो इसलिए कि वह सबसे गहन अर्थ में आत्म-चेतन व्यक्ति थे - आत्म-संघर्ष का यह बोध ही उन्हें सार्थक रूप से आधुनिक कवि बनाता था ।"[५१]

मुक्तिबोध की कहानियों में बेकारी, गरीबी, संयुक्त परिवार की घुटन मृत्यु आत्महत्या आदि समस्याएँ मौजूद हैं । वे किस चीज़ की प्रतीक्षा कर रहे हैं इसका उत्तर हमें उनकी कहानियों में नहीं मिलता । मुक्तिबोध मूलत: कवि थे किन्तु उनका गद्य - चाहे कहानी हो, निबन्ध हो या डायरी उससे बहुत दूर है । उसे पढ़नेवाला कभी इस बात का अन्दाज़ा नहीं लगा सकता कि उसका रचनाकार मूलत: एक कवि है । इस प्रकार मुक्तिबोध जितने सफल कवि है उतने ही सफल गद्यकार भी हैं ।

मलयज निर्मल वर्मा की दृष्टि में आधुनिक समय के एक ऐसे लेखक हैं जिनमें कविता और आलोचना अनायास एवं सहजता से समन्वित होती थीं । इसीलिए निर्मल जी उन्हें सही अर्थों में आधुनिक मानते हैं, "मलयज की आधुनिकता उनकी निगाह में बसती थी, मांसल सजीव और साफ जिसके रहते वह आज की रचना को निरायास पिछली सब कृतियों से जोड लेते थे । वह रचना के साथ साथ चुपचाप उलटे पाँव उस अंधेरी माँद में

---

५०. निर्मल वर्मा - कला का जोखिम, पृ.८६

५१. वही, पृ.८७-८८

चले जाते थे, जहाँ वह सबकी आँखों से छिपकर जन्म लेती है ।''[५२] वे जितनी कविताएँ लिखते थे उतना उनको तौलते भी थे । इसके लिए सबसे अच्छा उदाहरण उनकी एकमात्र आलोचना-पुस्तक 'कविता से साक्षात्कार' है ।

इसी प्रकार निर्मल जी ने धर्मवीर भारती की कहानी कला पर भी प्रकाश डाला है । धर्मवीर भारती हिन्दी साहित्य के कहानीकार, नाट्य-लेखक, उपन्यासकार, कवि, निबन्ध-लेखक, जैसे सर्वतोमुखी प्रतिभा से संपन्न रचनाकार हैं । उनकी प्रारंभिक कहानियाँ ज़रूर रोमांटिक थीं । उत्तर भारत के कस्बाती जीवन के ताने-बाने से भारती ने अपनी कहानियों को बुना था । उनकी प्रारंभिक कहानियों में आदर्शवादिता का स्वर मुखरित है तो बाद की रचनाओं में उनकी दृष्टि ज्यादा वस्तुपरक हो गयी, ''यह चीज़ इसलिए भी उल्लेखनीय जान पडती है कि एक लेखक के रूप में भारती की दृष्टि सर्वथा 'आधुनिक' है । यदि आधुनिक से हमारा अर्थ उस 'स्वतन्त्र चेतना' से है जो बिना किसी पूर्व-निर्धारित मताग्रह अथवा आस्था की बैसाखी का सहारा लिए हर चीज़ को उसकी वस्तुपरक नग्नता से परखती-तौलती है । भारती जिस जीवन की अन्धेरी, टेढ़ी-मेढ़ी गलियों को बाहर से देखते हैं जो चीज़ उन्हें आधुनिक बनाती है - स्वयं उनके संस्कार और अनुभव इन्हीं गलियों के भीतर अपनी कलात्मक लय और लोच प्राप्त करते हैं, जो उनकी कहानियों को अनूठे ढंग से 'भारतीय गन्ध' प्रदान करती हैं । आधुनिकता और भारतीयता से इस संगम के भीतर ही 'अन्धायुग' और 'सूरज का सातवाँ घोडा' जैसी क्लासिक कृतियाँ जन्म ले सकती थी ।''[५३] इस प्रकार धर्मवीर भारती अपनी संपूर्ण रचनाओं में एक मौलिक दुष्टि लेकर हिन्दी साहित्य-जगत में उपस्थित हुए थे । वे अपने हर पात्र के साथ एकाकार होते हुए दिखायी देते हैं । इस प्रकार निर्मल जी ने 'रेणु : समग्र मानवीय दृष्टि', 'अज्ञेय : आधुनिक बोध की पीडा', 'प्रेमचन्द की उपस्थिति', 'लेखक की स्वतन्त्रता और स्वधर्म (अज्ञेय की स्मृति में)',

---

५२. निर्मल वर्मा - ढलान से उतरते हुए, पृ.५९
५३. निर्मल वर्मा - आदि अन्त और आरम्भ, पृ.१६९

'मलयज की मृत्यु पर', 'भारती की कहानियाँ (दुबारा पढने पर)' आदि निबंन्धों में रेणु, प्रेमचन्द, अज्ञेय, मुक्तिबोध, मलयज, धर्मवीर भारती जैसे हिन्दी के शीर्षस्थ रचनाकारों की सृजनात्मकता पर अपना मौलिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है ।

उपन्यास-संबन्धी दृष्टिकोण

आज हमारे हिन्दी समाज में हज़ारों उपन्यास लिखे जाते हैं । पर पहले उपन्यास की गति बहुत धीमी थी । पर फिलहाल उसका पुनर्जन्म ही हुआ है । समकालीन समय वास्तव में उपन्यास का है । अठारहवीं शताब्दी में उपन्यास को बहुत ही संकट-भरे रास्ते से गुज़रना पडा था । अधुनातन सन्दर्भ में उपन्यास में ही पहली बार अपना अस्तित्व खोते हुए मनुष्य को वाणी मिली थी । व्यक्ति की अंतरात्मा को उपन्यास ने अपना केन्द्रबिन्दु बनाया तो वह समस्त अन्य विधाओं से अलग हो गया । उन विधाओं में एक ही तत्व सामान्य रह गया था वह है कहानी । लेकिन उपन्यास सिर्फ कहानी सुनाने का काम नहीं करता । इसलिए उपन्यास में चित्रित मनुष्य किस्सागोई की दुनिया से कोसों दूर था, "उपन्यास भी कथ्यात्मक विधा है किन्तु यह कहानी कहने का शुद्ध माध्यम नहीं ।"[५४]

उपन्यास एक विदेशी विधा है पुरानी किस्सागोई शैली में आधुनिक मनुष्य की त्रासदी को अभिव्यक्त नहीं कर सकता । फिर भी इन उपन्यासों में महाकाव्यात्मकता की झलक है । लेकिन आधुनिक परिवेश में मनुष्य-जीवन खंडित हो गया । उस खंडित जीवन को समग्रत: चित्रित करने के लिए पुराने उपन्यास कभी कभी सफल नहीं हो पाते । इसीलिए युरोप में पहली बार उपन्यास की मृत्यु की अफवाह फैल गयी थी, "ध्यान से देखें तो पश्चिमी संस्कृति का यह क्षण ठीक वही था जब पहली बार यूरोपीय समाज में व्यक्ति की मृत्यु की चर्चा शुरू होने लगी थी - एक ऐसा व्यक्ति जो अकेला और आरक्षित होने के बावजूद अपनी भावनाओं और विचारों में स्वायत्त था, राजसत्ता और जन-समूह से अलग

५४.. निर्मल वर्मा - ढलान से उतरते हुए, पृ.२१

अपनी विशिष्ट इकाई पहचानता था; आत्मकेन्द्रित लेकिन स्वाभिमानी व्यक्ति जिसकी छवि को यूरोप के रोमैंटिक साहित्य में अनेक लेखकों ने उकेरा था । किन्तु उन्नीसवीं शती के अंतिम चरण में जिस औद्योगिक नगर सभ्यता का अभ्युदय हुआ, उसने एक ऐसी भीड को जन्म दिया .... जन के नाम पर जिस चेहराहीन दृष्टिहीन रुचिहीन व्यक्तियों की भीड ने भेडों की तरह यूरोपीय नगर को घेरा था, पहली बार कलाकार के स्वतन्त्र और स्वायत्त व्यक्तित्व पर संकट की छाया मँडराने लगी थी : स्वयं व्यक्ति का रोमैंटिक उज्ज्वल चरित्र एक औसत आदमी की सपाट और सतही और यंत्रचालित दुनिया में अपनी वैयक्तिक विशिष्टता खोने लगा था ।''[५५]

प्रथम विश्वयुद्ध की त्रासदी के बाद व्यक्ति का संकट और ज्यादा गहरा हो गया । तब तक उपन्यास में चित्रित व्यक्ति एक संवेदन शून्य प्राणी में बदल चुका था । इसी परिवेश ने कामू के 'आउटसाइडर' जैसे उपन्यास को जन्म दिया था । संबन्ध की परिकल्पना इन उपन्यासों में अपने आप नष्ट हो गयी । व्यक्ति अलगाव और अकेलेपन का शिकार हो गया । भले ही उपन्यास इस प्रकार पश्चिम की विधा हो या पश्चिम की मन:स्थिति को प्रकट करता हो लेकिन आज व्यक्ति की हैसियत हर जगह एक जैसी ही है । वह बिल्कुल आत्मशून्य बन गया है । आज उपन्यास में लेखक देखनेवाला सब्जेक्ट और दुनिया दिखायी देनेवाली ओब्जेक्ट नहीं है, ''यह बिल्कुल दूसरा संसार है, जहाँ कोई केन्द्र में नहीं है, क्योंकि सब केन्द्र में हैं, एक चमत्कारी, जादूई दुनिया, जिसका जादू सिर्फ इस छोटे से सत्य में है कि जीवन की प्राणवत्ता को सेक्युलर और धार्मिक में विभाजित नहीं किया जा सकता; जो है वह पवित्र है ।''[५६]

समय के इन चैखटों में ही यूरोपीय उपन्यास का विकास हुआ था । हम शब्दों द्वारा गद्य का निरूपण और व्याख्या करते हैं । इस व्याख्या के चौखटे में घटनाओं पात्रों

---

५५. निर्मल वर्मा - ढलान से उतरते हुए, पृ.२४
५६. वही, पृ.२८

और उनकी स्थितियों को जमा करने पर सिर्फ एक इतिवृत्तात्मक चौखटे में कहानी को शामिल करना हो जाता है । इससे एक सृजनात्मक विधा का जन्म नहीं हो सकता । क्योंकि सांसारिक यथार्थ का चित्रण उसमें किसी व्याख्या द्वारा निरूपित किया हुआ होता है । हमने उपन्यास की पश्चिमी विधा को ज्यों का त्यों स्वीकार किया उसमें अपनी तरफ से कोई परिवर्तन लाने की कोशिश नहीं की, "अगर हम पश्चिम से बनी बनायी उपन्यास की विधा उधार लेने की सुविधा उठाना चाहते हैं, तो हमें अपने अनुभव और यथार्थ को नष्ट करना होगा । यदि हम इस यथार्थ को जीवित रखना चाहते हैं तो हमें खुद 'उपन्यास' जैसी विधा का परीक्षण करने का जोखिम उठाना होगा, जिससे आज तक हम बचते आये हैं ।"[५७] आज तक हमारे लिए ऐसी एक कसौटी नहीं है जिसके आधार पर हम उपन्यास को समग्र रूप से मूल्यांकित कर सके । निर्मल वर्मा के अनुसार "उपन्यास की अर्थवत्ता 'यथार्थ' में नहीं, उसे समेटने की प्रक्रिया, उसके संघटन की अन्दरूनी चालक शक्ति में निहित है ।"[५८] उपन्यास जैसी विधा में भारतीय लेखक को भी पश्चिमी लेखक की भाँति अत्यन्त सजग होना पडता है । क्योंकि इस विधा की सीमा पर उसे एक निर्वैयक्तिक गैर-ऐतिहासिक स्मृतियों को उजागर करना होगा । इसका मतलब है कि एक उपन्यासकार को एक ही समय में वैयक्तिक होना पडेगा और निर्वैयक्तिक भी । उसे इतिहास की सीमा में रहना भी पडेगा और उसका अतिक्रमण भी करना पडेगा । तभी उसकी अभिव्यक्ति प्रामाणिक और अर्थपूर्ण बन सकती है ।

कहानी-संबन्धी अवधारणा

हिन्दी के नये कहानीकारों में निर्मल वर्मा का नाम विशिष्ट है । वे उन महत्वपूर्ण कथाकारों में हैं जिन्होंने हिन्दी की नयी कहानी विधा को एक नयी दिशा दी । निर्मल जी

---

५७. निर्मल वर्मा - शब्द और स्मृति, पृ.५५
५८. वही, पृ.५७

नयी कहानी के विषय में अपना मत यों प्रकट करते हैं कि - ''जब हम नयी कहानी की बात करते हैं तो हमें कहानी की मृत्यु से चर्चा आरम्भ करनी चाहिए । हमें इससे मदद मिल सकती है - कहानी को पुनर्जीवित करने के लिए नहीं बल्कि उसे अन्तिम रूप से छोडने के लिए ।''[५९] इस प्रकार निर्मल वर्मा परंपरा को तोडने की बात करते हैं । परंपरा को तोडकर निर्मल जी व्यक्ति मन की समस्याओं को 'आत्मा का डिटक्टिव'[६०] की तरह खोजते हैं, परखते हैं । उनके अनुसार यथार्थ हमेशा झाडी में छिपा होता है, ''जब कोई कहानी में 'यथार्थ' की चर्चा करता है, तो हमेशा दुविधा होती है - वह एक पक्षी की तरह झाडी में छिपा रहता है । उसे वहाँ से जीवित निकाल पाना उतना ही दुर्लभ है, जितना उसके बारे में निश्चित रूप से कुछ कह पाना, जब तक वह वहाँ छिपा है । अंग्रेज़ी में एक मुहावरा है - 'बीटिंग एबाउट द बुश' । कहानीकार सिर्फ यही कर सकता है - उससे अधिक कुछ करना असम्भव है । तुम अगर झाडी पर ज्यादा दबाव डालोगे, तो वह मर जायेगा या उड जायेगा । हम सिर्फ प्रतीक्षा कर सकते हैं, कभी-कभार झाडी को इधर उधर कुरेद सकते हैं - किसी अंजाने क्षण में जब वह हमारे प्रति उदासीन हो, उससे संपृक्त हो सकते हैं लेकिन हमेशा बाहर से । यह अभिशाप हर उस लेखक के लिए है, जो कलाकार भी है । जो सही मानी में यथार्थवादी है, उसके लिए यथार्थ हमेश 'झाडी में छिपा' रहता हैं ।''[६१]

निर्मल नयी कहानी को अत्यन्त प्रामाणिक मानते हैं, मुझे यह कहानी पुरानी कहानीकारों की दुनिया की तुलना में कहीं ज्यादा प्रामाणिक सही और कहीं ज्यादा ईमानदार जान पडती थी । और मुझे लगता था कि कहानी की बनावट में चाहे कोई मूलभूत अंतर न भी आया हो लेकिन एहसास में और अनुभूति के क्षेत्र में उस जमाने के जो लेखक लिख

---

५९. निर्मल वर्मा - हर बारीश में, पृ.४६
६०. वही, पृ.४६
६१. वही, पृ.५७.

रहे थे उनमें एक बुनियादी परिवर्तन आया था ।''[६२] निर्मल जी शब्द और भाषा को कहानी का माध्यम मानते हुए कहते हैं - ''एक कहानी बाहर की दुनिया की रपट को अपने सत्य की भाषा में परिणत करती है । ज़िन्दगी और कला के बीच मँडराते हुए कहानी का सत्य शब्द में बिंधा रहता है और यही शब्द वाक्यों में बिंधे रहते हैं, और एक वाक्य दूसरे वाक्य की तरफ जाता हुआ एक ऐसा जाल बुनता है जिसमें जीवन की धडकन को फाँस लिया जाता है, किन्तु एक लेखक मकडी नहीं है जो ज़िन्दगी को मक्खी की तरह बाहर से पकडकर भीतर लाता है, बल्कि वाक्यों के बनने के साथ-साथ कहानी का सत्य उद्‌घाटित होता रहता है और जाले में जो जीवन पकडा जाता है वह उन रेशों से अलग नहीं होता जिनसे जाला बुना जाता है । कहानी की कला में हम मक्खी को जाले से अलग नहीं कर सकते, जिस तरह हम उसकी फार्म को उसके कथ्य से अलग नहीं कर सकते; दोनों अविच्छिन्न हैं ।''[६३]

पहले कहानी एक मौखिक परंपरा में थीं । उसके कथा-वाचक का नाम भी कोई नहीं जानता था । आज की कहानी पुरानी कहानी से इस बुनियादी अर्थ में अलग दिखायी देती है, ''आधुनिक युग तक आते आते कहानी अपनी सामूहिक स्मृतियों के परिवार से बाहर निकलकर धीरे-धीरे एक व्यक्ति की निजी और प्राइवेट कल्पना को उद्‌घाटित करने लगी । अब उसकी जडें एक लेखक की निजी चेतना में रहती है और इस वैयक्तिक चेतना के हस्ताक्षर कहानी पर अंकित रहते हैं ।''[६४] उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में ही कहानी को अपनी विश्वसनीय आवाज़ मिली थी । कहानी और उपन्यास के बीच निर्मल वर्मा के अनुसार गहरा अंतर है, ''कहानी समय के दरिया में नहीं बहती जहाँ उपन्यास बहता है, बल्कि वह एक तालाब-सी जमी रहती है जो स्थिर हैं, स्मृति का स्थिर समय, जिसमें याद करना ही उसकी सतह को थोडा-सा हिलाना है । उपन्यास के माध्यम से स्मृति समय

---

६२. निर्मल वर्मा - मेरे साक्षात्कार, पृ.१३

६३. निर्मल वर्मा - शताब्दी के ढलते वर्षों में, पृ.६७-६८

६४. वही, पृ.६९

की शक्ति के खिलाफ संघर्ष करती है, किन्तु कहानी में ऐसा पुरातन तत्व कायम रहता है । जिसमें चीज़ें समय के खिलाफ नहीं बल्कि उसके सन्दर्भ में याद की जाती है ।''[६५]

आज हमारे समाज में जिस धर्म निरपेक्षता का आन्दोलन है, वह मुक्ति का आन्दोलन नहीं है । वह उन धार्मिक विश्वासों के विघटन को सूचित करता है जो भारतीय जनता को धरती पर रहने का आश्वासन देते थे । आज मनुष्य इन विश्वासों की धरती से निष्कासित हो गया है । अब उसके पास मदद के लिए कोई संस्कारगत मिथक या प्रतीक नहीं थे । इसलिए यह मनुष्य अपने आप को बिल्कुल अजनबी और आत्मनिर्वासित पाता है । भारतीय मध्यवर्ग की इस दुविधात्मक स्थिति को हिन्दी कहानी ने सशक्त ढंग से अभिव्यक्त किया है । इस प्रकार कहानी विधा ने कहानी कहने की पुरानी विधि को त्याग दिया और वह ज़िन्दगी के निकट आ गयी ।

आलोचना-संबन्धी मान्यताएँ

आज साहित्य जगत् में जो भी रचनाएँ लिखी जाती हैं समय समय पर उनकी समीक्षाएँ भी निकलती हैं । ये समीक्षाएँ रचना का वास्तविक मूल्यांकन करके उसकी समस्याओं को प्रस्तुत करती हैं । इस दृष्टि से कभी कभी समीक्षाएँ भी मूल रचना के समान पाठकों को उद्वेलित करती हैं । समीक्षा द्वारा रचना के विराट सत्य उद्घाटित हो जाते हैं । कलाकृति में जीवन का जो पक्ष संचरित होता है समीक्षा में वही आलोकित होता हुआ दिखायी देता है । इस अर्थ में रचयिता और आलोचक अनुवादक हो जाते हैं । लेखक अपने रचना संसार को एक टेक्स्ट बनाकर उसका अनुवाद करता है और दूसरी तरफ आलोचक उसी रचना को टेक्स्ट बनाकर उसका मूल्यांकन करता है । निर्मल जी के अनुसार यह रचना में वापस मुडने की प्रक्रिया है । 'कलाकृति और आलोचना की मर्यादा'

---

६५. निर्मल वर्मा - शताब्दी के ढलते वर्षों में, पृ.७१

में वे कहते हैं - ''यह वापिस मुडना महत्वपूर्ण है, क्योंकि महत्वपूर्ण आलोचना इसी मुडने की प्रक्रिया में जन्म लेती है ।''[६६] यही बात एक सामान्य पाठक को आलोचक से अलग करती है ।

आलोचक एक उत्सुक पाठक होता है । वह कति का रसास्वादन करता है । उसकी वह उत्सुकता उसे रचना का पुनरावलोकन करने के लिए विवश करती है । उसमें एक प्रकार की आलोचनात्मक जिज्ञासा भी होती है । वह उस कलाकृति की गहराई में डूबकर उस रचना के सत्य को ग्रहण करता है । आलोचना की पहली शर्त उस के अखंडित और स्वायत्त यथार्थ को पहचानना है । दूसरी शर्त उस कलाकृति के सत्य के साथ साथ उसके बाहर के यथार्थ को भी एक अविभाज्य खण्ड के रूप में स्वीकार करना है । यह यथार्थ अनन्तकाल तक अक्षुण्ण रहेगा । यह यथार्थ कभी भी समाप्त नहीं होता । जब तक आलोचक यथार्थ के इस सार्वभौमिक रूप को नहीं पहचानता तब तक वह रचना के मूल रहस्य को समझने में विफल रहेगा । इस अर्थ में एक महान आलोचक अपनी संस्कृति का भी आलोचक होता है । वह कलाकृति के अनुभव को अपनी संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में परिभाषित करता है ।

आज हमारे समाज में दुनियावी यथार्थ और कला के यथार्थ को दो इकाइयों के रूप में देखा जाता है । यह यथार्थ के प्रति एक खंडित दृष्टिकोण है । इसके कारण यथार्थ की समग्रता को प्रतिपादित करने का दावा करनेवाली मार्क्सवादी आलोचना भी अविश्वास की बिन्दु पर खडी हुई है । ऐसा होने पर कला का यथार्थ एक अवमूल्यित अवस्था पर पहूँच जाता है । इस विकट परिस्थिति में कलाकृति के मूल्यांकन की कसौटी यह बन जाती है कि वह मूल्यांकन अपने युग के सन्देह और अविश्वास को भेदकर एक ऐसे सत्य से साक्षात् करा पाती है या नहीं जो मनुष्य मन और उसके बाहर के यथार्थ में विभाजन को प्रश्रय नहीं

---

६६. निर्मल वर्मा - शताब्दी के ढलते वर्षों में, पृ.४३

देती । अगर किसी कलाकृति में इसका साक्षात्कार होता है तो वह मनुष्य का अपना खोया हुआ सत्य निकलता है । यही सत्य पहले मनुष्य के अनुभव लोक के केन्द्र में था । उसे आधुनिक मनुष्य उसकी खंडित अवस्था के बावजूद अपने मन में लेकर चलता था ।

आदमी उसी चीज़ का स्वप्न देखता है जो पहले कभी था और अब कहीं पर छिपा हुआ है । उस छिपी हुई चीज़ की याद हम एक ज़ख्म की तरह करते हैं । निर्मल जी कहते हैं - "हर सृजनात्मक आलोचना इस विश्वास को केन्द्रबिन्दु बनाकर कलाकृति का मूल्य आँकती है - कलाकृति जो खुद अपने में ज़ख्म है और ज़ख्मी विभाजित जीवन का अतिक्रमण करने का प्रयास भी ।"[६७] 'आलोचना के भटकाव' में निर्मल जी कहते हैं कि एक सार्थक आलोचना एक कलाकृति के साथ दोहरे स्तर पर मुठभेड करती है, "जिस तरह एक मीनार पर चढ़ते हुए हर मंजिल से नीचे का परिदृश्य कुछ बदल जाता है, उसी तरह एक नई महत्वपूर्ण रचना से गुज़रते हुए स्वयं कला का इतिहास थोडा-सा बदल जाता है । इस बदलाव को आँकने के लिए सिर्फ कलाकृति के नएपन को पहचानना ही काफी नहीं है, बल्कि उसके अस्तित्व मात्र ने स्वयं हमारे संस्कार, परंपराबोध और अतीत के परिदृश्य में जो एक नई अन्तर्दृष्टि और समझ दी है, उसे भी जानना ज़रूरी है । यह वही आलोचक कर सकता है जो संस्कार - संपन्न होते हुए भी नए अनुभवों के प्रति पूरी तरह चौकन्ना और संवेदनशील हो ।"[६८] इस दृष्टि से आलोचना करनेवाले हिन्दी के समर्थ आलोचकों में वे मलयज, रमेशचंद्र शाह, कुंवरनारायण, अशोक वाजपेयी आदि का नाम लेते हैं ।

निर्मल जी के अनुसार पिछले कुछ वर्षों से हिन्दी आलोचना का परिदृश्य उतना उत्साहवर्द्धक नहीं है । क्योंकि आज की आलोचना में आलोचक का आमाजिक आग्रह दिखायी देता है । उसकी परंपरा संस्कृति और कलात्मक अनुभव के संबन्ध अदृश्य रहते हैं । किसी कृति की आलोचना को पढ़ते हुए हम उसकी राजनीतिक सामाजिक विचारधारा

---

६७. निर्मल वर्मा - शताब्दी के ढलते वर्षों में, पृ.४८
६८. निर्मल वर्मा - भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र, पृ.१०६

से तो परिचित होते हैं लेकिन उसकी सांस्कृतिक परिवेश से बिल्कुल अनभिज्ञ रह जाते हैं । उस सांस्कृतिक परिवेश को जानना ज़रूरी है क्योंकि उसी विशिष्ट परिवेश में रचना का निर्माण होता है । आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ही एक ऐसे आलोचक थे जो सांस्कृतिक परिदृश्य में रचना की आलोचना करते थे । लेकिन आज की विडंबना यह है कि संस्कृति के विचारक और कला के आलोचक दोनों दो इकाइयों में बँट गए हैं । उनके विचारों का आदान-प्रदान नहीं होता । आज का आलोचक रचना के बहुआयामी पक्षों की तरफ जाना नहीं चाहता । वह उससे असंपृक्त रहता है । यह केवल हिन्दी आलोचना की दुर्भाग्य पूर्ण स्थिति नहीं है । वह एक कृति का मूल्यांकन करने के लिए कोई सीधा सादा रास्ता चुन लेता है और उससे एक खास अर्थ चुनकर उस एकांगी अर्थ को सूली पर टंगा देता है । ऐसा करने पर, "मुश्किल यह है कि खूँटे से उतारकर जो चीज़ हाथ आती है,वह कलाकृति नहीं, उसकी मुर्दा देह है, जिसकी प्राणवत्ता को आलोचक न जाने किस अँधेरी गली में फेंककर फरार हो जाता है ?"[६९] लेकिन समय समय पर हमारे साहित्य में इस अवमूल्यन की प्रक्रिया का विरोध किया गया है । मलयज, रमेशचन्द्रशाह, अशोक वाजपेई जैसे आलोचकों ने आलोचना की इस अवमूल्यित स्थिति को पहचाना और उसे मूल्यहीनता की त्रासद स्थिति से निकालकर एक सांस्कृतिक पीठिका प्रदान की । इसने हमारी चिंताओं और सरोकारों के समूचे परिवेश को आलोकित किया है ।

हर महत्वपूर्ण अलोचक का अपना एक दृष्टिकोण या दर्शन अनिवार्यत: होना चाहिए । इसे आइडियोलजी की संज्ञा से भी अभिहित किया जा सकता है । लेकिन इस में कला और संस्कृति के बारे में एक विशिष्ट दृष्टि होनी चाहिए । कोई आलोचक खाली हाथ किसी कलाकृति के पास नहीं जा सकता । अगर वह ऐसा जाए तो उसे खाली हाथ ही लौटना पडेगा । एक आलोचक अपने मूल्यों और आदर्शों को लेकर किसी कलाकृति का सामना करता है । अगर ये मूल्य और आदर्श उस कलाकृति के सत्य को आलोकित

---

६९. निर्मल वर्मा - शताब्दी के ढलते वर्षों में, पृ.५३

करने के बजाय उसे धुँधलाते हैं तो आलोचक को अपने औजारों को बदलना पडेगा । उसे नये मूल्यों और औजारों का निर्माण करना होगा जो उस रचना को नए रूप में उपयुक्त ढंग से परिभाषित करने में सहायक हो, "ज़रूरत पड़ने पर वह अपनी उन सब कसौटियों और मापदण्डों को त्याग सकती है, जो उस कलाकृति के सामने झूठी और अप्रासंगिक बन गयी हों । किन्तु यह वही आलोचक कर सकेगा, जिसके पास छोडने को कुछ है, जो खाली है, वह क्या कुछ छोडेगा ?"[७०] इस प्रकार निर्मल जी ने समकालीन आलोचना के परिदृष्य में आज की आलोचना की प्रामाणिक कसौटी और उसकी अर्थवत्ता पर अपना विचार प्रस्तुत किया है ।

संस्कृति-संबन्धी अवधारणा

संस्कृति की चर्चा के दौरान साहित्य, कला, समाज, धर्म जैसे वे सब कुछ आ जाते हैं जिनके साथ मनुष्य का सम्बन्ध है । संस्कृति इन सब में व्यापी हुई एक चेतना है । इससे मनुष्य की उन्नति, गरिमा, ऊँचाई आदि निर्धारित की जाती हैं । यह अमूर्त अवबोध है जो निरंतर बनता रहता है । इसका कोई अंतिम रूप नहीं । उदाहरण के लिए भारतीय कहने पर उनकी संस्कृति की विशेषताएँ उभर आती हैं । उन्हीं के तहत वह भारतीय बनता है । इसलिए संस्कृति एक ऐसी अवधारणा है जो समाज केन्द्रित है । एक खास रहन सहन विश्वास-अविश्वास, आस्था-अनास्था, साहित्य, कला, संगीत आदि से उसका अस्तित्व रूपायित होता है । वही उस समाज की संस्कृति है । ये सारे तत्व उसके साहित्य और कलाकृतियों में प्रत्यक्ष होते हैं । इस प्रकार संस्कृति में कला, भाषा, अन्तर्दृष्टि, सामूहिक विश्वास, रहन-सहन की प्रथाएँ, सामूहिक विश्वास की संहिताएँ आदि हैं । इनके साथ अनिवार्य रूप से जुडनेवाली एक और कडी है - भूगोल और परिवेश । इसके अन्दर रहकर एक मानाव समूह अपनी जैविक सत्ता प्राप्त करता है । इसी जैविक

---

७०. निर्मल वर्मा - शताब्दी के ढलते वर्षों में, पृ.५४

सत्ता से ही वह अपनी अस्मिता को गढ़ पाता है । कहने का मतलब यह हुआ कि संस्कृति का निर्माता सिर्फ मनुष्य ही नहीं है । उसके परिवेश, उसकी सारी मनुष्येतर वस्तुएँ सब कुछ इसमें आ जाते हैं । यही मनुष्य के अस्तित्व को रूपायित करनेवाले तत्व हैं । 'संस्कृति के आत्मबिंब' नामक निबंध में निर्मल जी कहते हैं - ''संस्कृति का यदि एक छोर मानवीय सृजनात्मकता में निहित है, तो दूसरा छोर उन अज्ञात और अँधेरी शक्तियों में जिन पर मनुष्य का कोई अधिकार नहीं । मनुष्य की सृजनात्मकता और सृजित होते हुए मनुष्य की प्रकृति - दोनों प्रक्रियाएँ एक साथ चलती हैं और किसी संस्कृति का रूपाकार इन दोनों प्रक्रियाओं के अंतर्गुंफित संबन्ध और तनाव द्वारा ही निर्मित होता है ।''[७१]

भारतीय संस्कृति और 'कल्चर' नाम से विकसित पाश्चात्य संस्कृति में अन्तर है । उनके कल्चर के उपमानों के रूप में संगीत, कविता, नाटक, चित्र, मूर्तियाँ वास्तुकला जैसे मनुष्य द्वारा सृजित सब कुछ आ जाते हैं । लेकिन प्रकृति नहीं, ''यूरोपीय संस्कृति का विकास प्रकृति से अपना पार्थक्य, अपना अलगाव, एक शब्द में कहे तो उसमें अपनी स्वायत्तता प्रतिष्ठित करने के प्रयास में निहित है संस्कृति की यह अवधारणा - स्पष्ट ही - उससे बहुत भिन्न है, जो हमने ऊपर दी थी, जहाँ मनुष्य की सृजनात्मक शक्ति प्रकृति के समकक्ष अथवा उसके विरोध में नहीं, उसके साथ जुडे अन्तर्गुंफित संबन्धों में अभिव्यक्त और उद्घाटित होती है ।''[७२] इस प्रकार एक में मनुष्य सृजनात्मक शक्ति का स्रोत है तो दूसरे में वह सिर्फ एक माध्यम बनकर आता है और विभिन्न कलाओं का सृजन करती है । लेकिन दोनों में समान रूप से एक तत्व आता है, वह है, मनुष्य का प्रकृति के साथ संबन्ध । दोनों संस्कृतियों में महाकाव्यों तथा कुछ आधुनिक कलाकृतियों के ज़रिए संस्कृति और जातीय साहित्य के बीच के संबन्ध को रेखांकित किया जाता है । भारतीय सन्दर्भ में महाभारत ऐसा एक महाकाव्य है । उसी प्रकार पाश्चात्य सन्दर्भ में ईलियड आ जाता है ।

---

७१. निर्मल वर्मा - भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र, पृ.६७
७२. वही, पृ.६८

इन दोनों में वे समस्त काव्यात्मक रस और गुण है जो हर समय और समाज के लिए शाश्वत रूप से प्रासंगिक होते हैं ।

आज हमारी संस्कृति एक प्रकार से संकट के समय से गुज़र रही है । इस संकट का कारण टेलिविज़न जैसे मासमीडिया का प्रचलन नहीं है । निर्मल वर्मा की राय में ''आधुनिक औद्योगिकीकरण की चोट से उस संस्कृति का विश्रृंखलित हो जाना है, जो एक समय में समाज के आत्मबिंबों को संयोजित करती थी । ये आत्मबिंब कहना न होगा कि, मनुष्य के आन्तरिक लगावों से अनुप्राणित होते थे । इनमें तीन लगाव प्रमुख थे - प्रकृति से लगाव, परंपरा से लगाव, और अंत में अपने आत्म से लगाव' आज जब प्रकृति स्वयं उपभोग की वस्तु बनकर तहस-नहस हो चुकी है और परंपरा वर्तमान से खंडित केवल अतीत की वस्तु, तो आश्चर्य नहीं कि व्यक्ति का 'आत्म' भी केवल उसके अकेले और निराश्रित 'अहम्' में सिकुडकर सीमित हो जाए ।''[७३] आज हमारा देश आतंक और दंगेफसाद में झूझ रहा है । इस स्थिति ने भारतीय समाज, संस्कृति और समस्त भौगोलिक परिवेश को खंडित और विश्रृंखलित कर दिया है ।

एक भारतीय को अपनी संस्कृति के साथ एक सहज संबन्ध था । अंग्रेज़ी सत्ता के हस्ताक्षेप से वह संबन्ध विघटित हो गया । उसने भारतीय समाज को अपने अतीत से अलग कर दिया । इस अतित के अलगाव ने हमारे समाज को उसकी पूरी थाती से अलग कर दिया, ''हमारी संस्कृति में पश्चिम का हस्तक्षेप इतिहास का हस्तक्षेप था जिसके परिणामस्वरूप एक भारतीय के भीतर एक अजीब उन्मूलन बोध और वीरानी की व्यथा उत्पन्न हुई एक भारतवासी होने के नाते मैं अपनी संस्कृति को बाहर नहीं देख सकता, इसलिए विदेशी सभ्यता के आक्रमण से जो विनाश हुआ वह कहीं बाहर नहीं, मेरे भीतर था । अपने भीतर ही मैं ने अपनी उस संलग्नता के सर्वव्यापी बोध को खो दिया है जो

---

७३. निर्मल वर्मा - भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र, पृ.७३

आज तक मुझे अपने समय, अपने परिवेश और अपनी संस्कृति से जोडे था ।''[७४] इसीलिए इतनी विराट संस्कृति के होते हुए भी व्यक्ति अपने को अपाहिज और अनाथ महसूस करने लगा है । इसका कारण यह है कि हर संस्कृति की अपनी एक लय होती है,वह प्रकृति के अनुकूल चलती है । पर जब भी कोई औपनिवेशिक शक्ति उसके जीवन की लय को भंग करती है तब उस संस्कृति से जुडे हुए लोगों का जीवन विश्रृंखलित हो जाता है । निर्मल जी 'शताब्दी के ढलते वर्षों में' नामक निबन्ध में कहते हैं कि ''भारतीय संस्कृति का धर्म हमेशा से मनुष्य और सृष्टि के अखंडित संबन्ध सार्वभौमिक संपूर्णता के आदर्श पर आधारित रहा है ।''[७५]

संपूर्णता का यह बोध आज कुछ धूमिल पड गया है । आज का मानव एक प्रकार की दुविधात्मक स्थिति में है । वह एक तरफ अपनी संस्कृति का प्रतिनिधि होने का दावा करता है । वह जीवन में संपूर्णता का स्वप्न पालता है । आधुनिक युग की मान्यताओं से एकीकृत भी हो जाना चाहता है । पर उसकी संपूर्णता के स्वप्न दिन-ब-दिन खोखला बनते जा रहे हैं, ''कोई राष्ट्र जब अपनी सांस्कृतिक जड़ों से उन्मूलित होने लगता है, तो भले ही ऊपर से बहुत सशक्त और स्वस्थ दिखाई दे .... भीतर से मुरझाने लगता है । स्वतन्त्रता के बाद भारत के सामने यह सबसे दुर्गम चुनौती थी ।''[७६] भारतीय संस्कृति हज़ारों वर्षों से अपने अन्दर कई जातियों, जनजातियों और धार्मिक समुदायों को लिए हुए चलती है, ''भारतीय संस्कृति सबको आत्मसात कर जाती है, यह इसकी बहुत बडी विशेषता मानते है । कितनी जातियाँ यहाँ घुली-मिली उनकी अलग पहचान नहीं रह गयी, गंगा की धारा में इतनी नदियाँ मिलीं, सभी गंगा हो गयी ।''[७७] भारतीय संस्कृति ने दो सौ वर्षों की लम्बी दासता के बावजूद अपनी अक्षुण्णता को बनाया रखा है, ''भारतीय संस्कृति का

---

७४. निर्मल वर्मा - ढलान से उतरते हुए, पृ.६९
७५. वही, पृ.७३
७६. निर्मल वर्मा - आदि अन्त और आरम्भ, पृ.१३
७७. विद्यानिवास मिश्र - नदी नारी और संस्कृति, पृ.१६

अद्वितीय लक्षण यह नहीं है कि कैसे वह शताब्दियों से होनेवाली निरंतर और हिंस्र विदेशी घुसपैठों में जीवित रही आई, बल्कि यह है कि वह उनकी प्रभु सत्ता के बावजूद किस तरह अपने को अक्षत रख सकी ।''[७८] इस प्रकार निर्मल जी ने भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति के मूलभूत अन्तर को स्पष्ट करते हुए भारतीय संस्कृति की अक्षुण्णता पर विशेष नज़र डाली है । यह साबित किया गया है कि संस्कृति वास्तव में प्रकृति और मनुष्य के लय से उद्भुत श्रेष्ठ गुणों पर निर्भर है । इसलिए भारतीय संस्कृति प्रतिकूलताओं के बावजूद अपनी अलग पहचान को बनायी रखती है ।

धर्म संबन्धी अवधारणा

सभी धर्मों के अपने अपने धर्मग्रन्थ होते हैं । सबमें समान रूप से विराजमान तत्व उसकी पवित्रता है । पवित्रता का यह भाव मनुष्य के विश्वास में निहित है । ऐतिहासिक रूप में धर्म की दो अवधारणाएँ हैं । एक में मनुष्य और संस्कृति के बीच के संबन्ध को पवित्र माना गया है । यह धर्म मनुष्य के दायित्व बोध से संबद्ध है । दूसरा धर्म भारतीय परम्परा के धर्मबोध से जुडा हुआ है । वह एक सार्वभौमिक सत्य का दायरा है । इस दायरे के बाहर जो लोग हैं उन्हें इसके भीतर के लोगों की आस्थाओं और विश्वासों को स्वीकार करने के लिए तैयार होना पड़ता है । आज हमारे समाज में जिस धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा है वह इसी पारस्परिक धर्म बोध से संबन्ध रखनेवाली है । स्वतंत्रता के बाद हमने एक धर्मनिरपेक्ष समाज का गठन तो किया था । लेकिन वह अधिक समय तक टिक नहीं पाया । क्योंकि वह सतही था । धर्म और धर्मनिरपेक्षता में लेखक कहते हैं - ''ऊपरी चिन्तन में हम भारतीय हैं, भीतर के (अंडर ग्राउंड) अंधेरे में हम हिन्दु, मुस्लिम और सिख हैं । अन्धेरे में कोई विश्वास पनपता नहीं सडता है इसलिए जब कभी वे बाहर आता है तो अपने सहज आत्मीय स्वरूप में नहीं बल्कि एक विकृत दमित

---

७८. निर्मल वर्मा - भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र, पृ.३०-३१

भावना के रूप में । समय समय पर होनेवाले सांप्रदायिक दंगे हमें इस अन्धेरे की झलक दिखाते हैं जहाँ एक सेक्यूलर समाज ने धर्म को फेंक दिया है ।''[७९]

स्वतंत्रता के बाद हमने अपने आपको यह छलावा दे दिया है कि अपने जीवन से धर्म को निष्कासित करने पर ही विकास के रास्ते पर हम आगे बढ़ सकते हैं । आज यह छलावा हमारे सामने अपने खोखलेपन का चेहरा दिखा रहा है । आज हिन्दुस्तान के लोगों के मन में जो धर्म की अवधारणा है उसे छद्म सांप्रदायिकता से अलग करना होगा । एक धर्मावलंबी हिन्दुस्तानी के लिए धर्म को सांप्रदायिकता में संकुचित करना एक अस्वाभाविक बात है । पश्चिमी राज्यों ने अनेक छोटी जातियों उपजातियों और लोकसंस्कृतियों को नष्ट करके अपनी अस्मिता स्थापित की थी । लेकिन भारत ने अपनी राष्ट्रीय अस्मिता का उपयोग दूसरों के विनाश केलिए नहीं किया । हमारी अस्मिता सभ्यता के विविध चरित्रों से बनी है, ''भारतीय सभ्यता में सैकडों देवी-देवता है, उपनिषद् और महाकाव्य हैं, साधु-सन्त और ऋषि-महात्मा हैं लेकिन कोई एकमात्र 'धर्म पुस्तक' या धर्म संस्था ऐसी नहीं है जो अपने सत्य को बलपूर्वक दूसरों पर आरोपित करने का दावा कर सके । ये एक ऐसी सभ्यता है जिसे अपनी लोकतांत्रिक मनीषा के लिए पश्चिम की सेक्यूलर व्यवस्थाओं पर निर्भर नहीं रहना पडता, यह सहज रूप से उसके स्वभाव में पहले से ही अन्तर्निहित है ।''[८०]

भारत के संविधान निर्माताओं ने पाकिस्तान की तरह किसी एक संप्रदाय की प्रधानता को स्वीकार नहीं किया । यहाँ किसी संप्रदाय को अन्यों की अपेक्षा कोई विशेषाधिकार नहीं दिया जाता । कानून और संविधान के आगे सभी छोटे-बड़े संप्रदायों को समान अधिकार प्राप्त हैं, ''धर्म तो व्यक्ति का, समाज का, राष्ट्र का और मानवता का पोषक है, संहारक नहीं । धर्म में संहार तत्व तो है, लेकिन यह संहार तत्व शिव के लिए है । जो शिव है वही दिव्य है । जिससे समाज का कल्याण हो अभ्युदय हो, वही धर्म

---

७९. निर्मल वर्मा - आदि अन्त और आरम्भ, पृ.८९
८०. वही, पृ.९६

है । कल्याण मानव मात्र का हो किसी धर्म विशेष का नहीं यही है भारतीय संस्कृति और भारतीय दर्शन की विशेषता ।''[८१] लेकिन आज स्थिति इतनी विकट हो गयी है कि भारतीय जनता धर्म के उद्देश्यों और आदर्शों को भूल गयी है । यहाँ धर्मनिरपेक्षता के नारे ही चल रहे हैं । आज भारत में होनेवाले ज्यादातर दंगे सांप्रदायिक दंगे ही हैं । जो लोग धर्म निरपेक्षता का ढ़िंढ़ोरा पीटते रहते हैं वे ही इन दंगों के पीछे भी सक्रिय है, ''आज हालत यह है कि हमारा समाज 'धर्मनिरपेक्ष नहीं इन सब मानवीय, आस्थावान, जीवनदायी मूल्यों के प्रति निरपेक्ष हैं जो भारतीय सभ्यता का मूल लक्षण था । जिस तरह धर्म का निकृष्ट रूप संकीर्ण सांप्रदायिकता है उसी तरह धर्मनिरपेक्षता का विकृत रूप सनकी स्वार्थपरक मूल्यहीनता ।''[८२]

इतिहास और परंपरा

बीती हुई घटनाओं की सिलसिलेवार श्रृंखला इतिहास है । अगर वह एक स्मृति मात्र बनकर रह जाए तो वह महज़ एक हादसा रह जाताहै, ''घटना जब तक स्मृति नहीं बनती, जब तक वह हमसे बिलकुल अलग नहीं हो जाती - बिना स्मृति के कोई घटना सिर्फ एक हादसा बनकर रह पाती है । हादसे में मनुष्य सिर्फ बदसवास हो जाता है - स्मृति का वह अवकाश उसमें नहीं होता, जिसके रहते ही हम घटनाओं को एक सिलसिलेवार श्रृंखलता में बाँधते हैं, जिसे हम 'इतिहास' कहते हैं ।''[८३] इतिहास के तथ्यों से ही हम जान सकते हैं कि विदेशी हस्तक्षेप किसी संस्कृति को कैसे संकट में डाल सकता है । इतिहास की हर क्रान्ति में हम मनुष्य के खोए हुए स्वप्न को देख पाते हैं । इससे वह अपने खोए हुए अतीत को भविष्य में पुनर्जीवित करने का प्रयास करता है । उसके भविष्य के समस्त युटोपिया अतीत की स्वप्न-कथाओं पर आधारित होते हैं । निर्मल जी के अनुसार

---

८१. नरेन्द्र मोहन - धर्म और सांप्रदायिकता, पृ.१२१
८२. निर्मल वर्मा - आदि अन्त और आरम्भ, पृ.९८
८३. निर्मल वर्मा - इतिहास स्मृति आकांक्षा, पृ.९

इतिहास की भारतीय और यूरोपीय अवधारणाएँ एक दूसरे से अलग हैं - "हम जिसे 'हिस्ट्री' कहते हैं, वह मानो एक अनलिखा उपन्यास है, जिसकी हर घटना मनुष्य को एक पूर्वनिर्धारित नियति की ओर ले जाती है जबकि भारतीय दृष्टि में इतिहास का कथ्य पहले से ही लिखा जा चुका है, जहाँ कोई घटना नयी नही है और हर घटना में मनुष्य अपने को दुहराता है ।"[८४.]

जब कभी हमें कोई नया अनुभव प्राप्त होता है तो हमें ऐसा लगेगा कि यह अनुभव पहले कभी हुआ है । दूसरी तरफ यह भी लगेगा कि यह अनुभव पहली बार हो रहा है । मृत्यु ऐसा ही अनुभव है । संसार की हर प्राणी की मृत्यु होती है । लेकिन हर एक को लगता है कि वह पहली बार झेल रहा है । इस प्रकार पुनरावृत्त अनुभव भी कभी कभी अत्यन्त अनोखे होते हैं । जब हर अनुभव और परिवर्तन नयी शुरूआत बन जाते हैं, तो वहाँ स्मृति नहीं रहेगी और इतिहास के लिए भी कोई गुजाइश भी नहीं, "इतिहास की यह अवधारणा जहाँ हर घटना अपने में विशिष्ट और अभूतपूर्व है, क्या अन्ततः मनुष्य के इतिहास बोध को ही नष्ट नहीं कर देती ?"[८५] अगर इस परिवर्तन को एक छलना मानकर उसे नज़रअन्दाज़ कर दिया जाए तो वहाँ भी स्मृति की गुंजाइश नहीं रहती । मनुष्य यह जान लेता है कि वह पहले जो था अब वह नहीं है । लेकिन इस परिवर्तन को वह ठीक रूप से बता नहीं पाता । स्मृति ही वह चीज़ है जो परिवर्तन के भीतर भी मनुष्य को जीवित रहने का सातत्य प्रदान करती है । मनुष्य का यही सातत्य स्मृति के लिए जगह छोडता है । ऐसा नहीं हुआ तो स्मृति और इतिहास के बीच का संबन्ध विच्छिन्न हो जाता है, "जब इतिहास स्मृति से विच्छिन्न हो जाता है, वहाँ इतिहास नहीं, इतिहास का आतंक प्रकट होता है - एक ऐसा आतंक, जिसमें मनुष्य भविष्य को बनाता नहीं, एक आँधी में उल्टे पैर

---

८४. निर्मल वर्मा - इतिहास स्मृति आकांक्षा, पृ.१८

८५. वही, पृ.१८

उसकी ओर घिसटता जाता है और वह अतीत जिसमें एक समय वह स्मृतियों को संजोता था, वहाँ खंडहरों का ढेर जमा होने लगता है ।''[८६]

इतिहास में संस्कृतियों की मृत्यु होती है किन्तु हर संस्कृति का अनुभव मनुष्य में बना रहता है । वह कभी स्मृति के रूप में है तो कभी मिथक के रूप में । इतिहास में जो परिवर्तन होते हैं चाहे वह अच्छी घटना हो या बुरी उसकी छाया मनुष्य की प्रकृति में दृष्टिगत होती है । इसी प्रकृति का रहस्योद्घाटन कथाकृतियों पुराणों, मिथकों, महाकाव्यों या उपन्यासों में होता है । स्मृति और परंपरा के संबन्ध को स्पष्ट करते हुए 'परंपरा और इतिहास बोध' नामक निबंध में कहा गया है कि - ''स्मृति की यह विशेषता है कि वह अपने पीछे कोई पद-चिह्न नहीं छोड़ जाती - वह स्वयं पदचिह्न बन जाती है, परंपरा का मतलब इन पद-चिह्नों पर चलकर उस वर्तमान को परिभाषित करना है जहाँ मनुष्य आज जीवित है ।''[८७]

मनुष्य को अपना भविष्य रूपायित करने केलिए एक ऐतिहासिक पीठिका की ज़रूरत होती है । मनुष्य की आत्मा की ज़रूरतों में अतीत की ज़रूरत सबसे अधिक शक्तिशाली है । सीमोन वेल के इन शब्दों को याद करते हुए निर्मल जी कहते हैं - ''मनुष्य अपना इतिहास खुद बनाता है, किन्तु वह 'कच्चा माल' जिससे इतिहास बनता है, वह अनुभव-राशि जिसकी मिट्टी से वह अपना भविष्य गढ़ता है कहीं और नही, उसके अतीत-बोध में सन्निहित है ।''[८८] इस प्रकार निर्मल जी ने आधुनिक सन्दर्भ में इतिहास स्मृति और परंपरा की सही पहचान करायी है ।

---

८६. निर्मल वर्मा - इतिहास स्मृति आकांक्षा, पृ.१९
८७. निर्मल वर्मा - कला का जोखिम, पृ.२६
८८. वही, पृ.२७

हडबडाकर बाहर आती है वह अभिन्न को भिन्न करती है, संलग्न को विलगित करती है,सुरक्षित को जोखिम में डालती है । वह एक फडफडाती प्राणवत्ता है, खंडित, उखडी हुई मिट्टी में अपनी छाया टटोलती हुई । भाषा के भीतर एक करंट, कुंडली - सी जगाती हुई, जिसका झटका खाते ही सब बिखरे हुए अनुभव खंड एवं तस्वीर, एक इमेज, एक पैटर्न में सिमटने लगते हैं । पाँचों इन्द्रियाँ जिस 'शिकार' को खून में लिसा क्षत-विक्षत लाई थी; वह अपनी आँखें खोलता है और पाता है, जिन तीरों से वह धराशायी हुआ था, वे उसके नहीं, शिकारी की देह में बिंधे हैं - कला का 'कथ्य' वह आईना है, जिसमें दुनिया का यथार्थ नहीं आत्म (सेल्फ) की दुनिया प्रतिबिम्बित होती है .... कला का 'कथ्य' वह अनूठा आखेट स्थल है,जहाँ शिकारी अपने लहू के चिह्नों का पीछा करता हुआ खुद अपना ही शिकार करने निकलता है ।''[९०]

निर्मल जी के अनुसार कथ्य की खोज असल में खाली पन्ने से शुरू होती है । लेकिन वह पूर्ण रूप से खाली नहीं होगा । क्योकि वह ऐसा पन्ना नहीं जिस पर अभी तक कुछ भी नहीं लिखा गया हो । वह पन्ना ऐसा होना चाहिए जिस पर अब तक लिखा हुआ मिट गया हो । इसका मतलब है खाली मन से कुछ नहीं लिखा जा सकता, ''हर कथ्य की तलाश खाली पन्ने पर शुरू होती है - वह खाली पन्ना नहीं, जिस पर अब तक का कुछ लिखा हुआ नहीं है, बल्कि वह, जिस पर अब तक लिखा हुआ मिट गया हो, स्मृति से ओझल हो गया हो .... हमें वही लिखना है, जो लिखा जा 'चुका' है, वह नहीं, जो अब तक लिखा नहीं गया हो ।''[९१]

निर्मल जी के लिए स्मृतियाँ समय की धारा में बहते संकेत सूत्र हैं । वे उनके मन के दरवाज़े पर अंतहीन प्रतीक्षा में बंद ताले के सामने पडे रहते हैं । जब भी कोई अनुभव या तनाव सामने आता है तो वह बन्द दरवाज़ा खोलकर उनके कच्चे-पक्के अनुभव

---

९०. निर्मल वर्मा - आदि अन्त और आरम्भ, पृ.१८४-१८५
९१. वही, पृ.१८७

सृजनात्मक क्षण

एक लेखक के सृजन कर्म में चेतन और अचेतन दोनों का नाज़ुक और दुर्लभ सन्तुलन होता है । लेखक का सृजनात्मक परिवेश उसके बचपन से ही रूपायित होता है । 'सृजन का परिवेश' में निर्मल अपने सृजनात्मक परिवेश पर यों कहते है - "जब अपने आरंभिक जीवन - जिसे बचपन का समय कहा जाता है - के बारे में सोचता हूँ, तो मुझे यह दुनिया ही याद आती है, स्कूल, परिवार, माँ-बाप और शहर जिनके बनाने या चुनने में मेरा अपना कोई हाथ नहीं था, जो हमेशा से वहाँ थे, मुझसे बाहर लेकिन हमेशा मुझे अपने में घेरे हुए-शिमला के उन पहाडों की तरह, जिन्हें मैं हर रोज़ देखता था, जो मुझसे दूर और अलग होते हुए भी मेरी स्मृति का अभिन्न अंग थे । जिसे हम लेखक का परिवेश कहते हैं, वह बाहरी दुनिया का यथार्थ नहीं है, जिसमें वह जीता है, उसका परिवेश तभी बन पाता है जब वह अपना बाहरीपन छोड़कर उसके भीतर जीने लगता है । यह वह ममेतर है, जो मेरे 'मम' का ही हिस्सा है, कोई अलग, कोई अजनबी प्रदेश नहीं, एक ऐसा अंदरूनी लैडस्केप जिसकी आडी-तिरछी छायाएँ उसके रचना-संसार पर पडी रहती है ।"[८९]

रचनाकार अपने परिवेश के प्रति हमेशा सजग रहता है । एक कलाकार के लिए उसका परिवेश रचना के कच्चे माल का खज़ाना होता है । एक लेखक के सैकडों अनुभव होते हैं, लेकिन हर अनुभव रचना में परिणत नहीं होता । वही क्षण या वही अनुभव रचना बनती है जो लेखक के संवेदन-तंत्र को स्पन्दित करता है और उसके मन में अपना एक परिदृश्य रचने में सफल होता है ।

कथ्य की खोज के सन्दर्भ में निर्मल जी कहते हैं - "जिस तरह पौधे को ज़मीन से उखाडते हैं और उसकी जडों पर मिट्टी का गीला, लिथडा अन्धेरा बाहर निकल आता है, वैसा ही होता है कला का कथ्य कोई भी चीज़ अचानक चटककर, उखडकर,

---

८९. निर्मल वर्मा - दूसरे शब्दों में, पृ.२०-२१

और सामान्य दैनिक अनुभूतियाँ मन के भीतर घुस लेते हैं । वही मन उनका रचनालोक बनता है । यह कोई ज़रूरी बात नहीं कि इस रचना-लोक के घेरे में आनेवाले हर अनुभव रचना में परिणत हो जाए । फिर भी रचना इन्हीं स्मृतियों के तहत संभव होती है । इस प्रकार निर्मल जी ने अपने सृजनात्मक जीवन के कुछ अन्तरंग अनुभव-क्षणों को अभिव्यक्ति दी है ।

गोया कि निर्मल जी के निबन्ध उनके सृजनात्मक सरोकारों बौद्धिक अन्तर्यात्राओं, समीक्षात्मक सचेतनताओं तथा उद्देश्यों की प्रामाणिक अभिव्यक्ति निकलते हैं । उन्होंने अपने समय और समाज की समस्याओं के गहन तथा सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया है । साथ ही वर्तमान साहित्य की विकट परिस्थिति का सही लेखा-जोखा भी प्रस्तुत किया है । दासता के जंजीरों से मुक्त देश की सांस्कृतिक अस्मिता की विकट परिस्थितियों पर भी गहन चिंतन किया है । संक्षेप में उनके निबंध अपने समय एवं समाज के प्रति सदा जागरूक सृजनात्मक प्रतिभा की अंतरंग प्रतिक्रियाएँ ठहरते हैं । ये प्रतिक्रियाएँ उनकी सृजनात्मकता की समग्र पहचान के लिए अनिवार्य स्रोत भी है ।

पाँचवाँ अध्याय

निर्मल वर्मा के यात्रावृत्त और डायरी

प्रतिभा के धनी रचनाकार अपनी अनुभूति की सार्थक अभिव्यक्ति के लिए नयी नयी अभिव्यक्ति पद्धतियों को अपनाते हैं । इसके परिणामस्वरूप साहित्य में नयी नयी विधाओं का जन्म होता है । इस प्रकार बहुप्रचलित साहित्यिक विधाओं जैसे उपन्यास, निबन्ध, नाटक आदि के साथ यात्रावृत्त, डायरी आदि का उद्भव एवं विकास हुआ है । यात्रावृत्त में रचनाकार का विभिन्न जगहों तथा लोगों से मिले अनोखे अनुभवों तथा स्मृतियों को ईमानदारी के साथ प्रस्तुत किया जाता है । इसमें कल्पना की गुंजाइश बहुत कम है । इसमें बीती हुई घटनाओं का यथार्थ वर्णन होता है । यात्रावृत्त में स्थान-विशेष की रीति-रिवाज़, रहन-सहन, आचार-व्यवहार, संस्कार, प्रकृति आदि आ जाते हैं । इसमें रचनाकार अपने जाने पहचाने हुए यथार्थ को कल्पना की झीनी चादरिया में प्रस्तुत करते हैं । यात्रावृत्त की यह विशेषता ही उसे सिर्फ पर्यटन गाइड बन जाने से बचाती है और उसे साहित्यिकता प्रदान करती है । यह कार्य कभी डायरी के रूप में कभी संस्मरण के रूप में और कभी बिलकुल स्वतंत्र यात्रावृत्त के रूप में किया जाता है, "यात्रावृत्त लिखते समय लेखक का उद्देश्य किसी स्थान-विशेष के संपूर्ण वैभव, प्रकृति सौन्दर्य, रस्मों रिवाज़, रहन-सहन, आचार-व्यवहार, मनोरंजन के तरीके, जीवन के प्रति दृष्टिकोण आदि का चित्रण होता है ।"[१]

हिन्दी में यात्रावृत्तों की संख्या अन्य साहित्यिक रचनाओं की अपेक्षा कम है । फिर भी हिन्दी के कुछ प्रसिद्ध यात्रावृत्त हैं - राहुल सांकृत्यायन के 'राहुल यात्रावलि' (१९४९), 'यात्रा के पन्ने', 'एशिया के भूखण्ड में' (१९५६), रामधारी सिंह दिनकर का 'देश-विदेश' (१९५७) 'मेरी यात्राएँ' (१९७०), अज्ञेय का 'एक बूँद सहसा उछली' (१९६०), विष्णु प्रभाकर का 'हँसते निर्झर : दहकती भट्टी' (१९६६), नरेन्द्र की 'अप्रवासी की यात्राएँ' (१९७२) , गोविन्द मिश्र का 'धुन्ध भरी सुर्खी ' (१९७९) और निर्मल वर्मा का

---

१. डॉ. माजदा असद - गद्य के विविध रूप, पृ.८

'चीडों पर चाँदनी' (१९६४) । 'चीडों पर चाँदनी' में निर्मल जी ने अपने यूरोप-प्रवास की लम्बी अवधि में समय समय पर जो अनुभव-सूत्र सँजोए थे, उनकी अभिव्यक्ति है । इससे आइसलैंड, स्कैण्डेनेविया, पेरिस, वियना, जैसे राज्यों तथा ब्रेख्त, काफ्का, सार्त्र, लैक्सनेस, जैसे मशहूर साहित्यिकों एवं चिन्तकों का जीवन्त चित्र मिलता है । यह उनके लिए भिन्न भिन्न संस्कृतियों से की गयी तीर्थयात्रा थी । उससे सम्बन्धित अनुभवों को दूसरों तक पहूँचाने के लिए संस्मरण ही उन्हें उपयुक्त लगा, "पहले जब मैं यूरोप गया था, तो मैं पहली बार हिन्दुस्थान के बाहर यूरोप के संपर्क में आया था और इसी उत्साह में मैं ने अपने यात्रासंस्मरण भी लिखे थे । मैं आइसलैण्ड गया था, तो वह बिल्कुल नई तरह का अनुभव था । एक नया लैण्डस्केप नई तरह के लोग - मेरी इच्छा होती थी मैं ने जैसा देखा अनुभव किया है उसे संस्मरण की विधा में लिखूँ .... मुझे हमेशा यात्रासंस्मरण की विधा अपने में बहुत अनुकूल जान पडती रही है ।"[२] उनके यूरोप प्रवास की स्मृतियों का लेखा जोखा है - 'हर बारिश में' और 'चीडों पर चाँदनी' । दरअसल ये लेखा जोखा नहीं बल्कि अनुभवों की जीवन्त स्मृतियाँ है; नहीं तो एक प्रकार का आत्म साक्षात्कार है । इसमें विभिन्न विषयों जगहों तथा व्यक्तियों के स्मृति चित्र अनावृत हो उठते हैं ।

युद्ध - स्मृतियाँ

'ब्रेख्त और एक उदास नगर' में निर्मल अपनी बर्लिन यात्रा का ब्योरा प्रस्तुत करते हैं । प्राग से बर्लिन जाते हुए उन्होंने कई ऐसे दृश्य देखे हैं जिनमें युद्ध ने अपनी भीषणता के स्मृति चिह्न छोडे हैं । उन रास्तों से गुज़रते हुए उन्हें युद्ध के अवसाद की ठंडी छुअन महसूस होती हैं - "किन्तु मैं, जो एक सुदूर देश से यूरोप आया हूँ - मुझे कई बार ऐसा लगता है कि जो समय सबके लिए, यहाँ के निवासियों के लिए, बीत गया है, वह मेरे लिए अभी तक जीवित है, प्रतीक्षारत है, और जब तक मैं उसे अन्य प्राणियों की तरह भोग नहीं

---

२. निर्मल वर्मा - मेरे साक्षात्कार, पृ.१८-१९

लूँगा, वह मुझसे छुटेगा नहीं । गडे मुरदे ? वे हर आदमी के भीतर है - जब कभी मध्य -यूरोप - से गुज़रता हूँ, मुझे उनका ठंण्डा स्पर्श महसूस होने लगता है । मैं पूर्वग्रह - ग्रस्त नहीं हूँ किन्तु आज भी मैं किसी जर्मन को देखता हूँ तो मेरे भीतर एक फिज़ूल, बेमानी-सी बेचैनी होने लगती है ।''[३]

बर्लिन की गलियों में घूमते समय निर्मल जी को प्राग और वियना के वे पुराने मकान याद आते हैं जो कि युद्ध के दौरान ढ़ह गए थे, ''गलियाँ, जहाँ एक कभी खत्म न होनेवाले दु:स्वप्न की मानिन्द आगे चलती जाती है .... कुछ मकान हैं, जहाँ लडाई से पहले यहूदी परिवार रहते थे । अब वे खाली और सूने पडे हैं । कुछ फासले पर जली हुई ईंटें और टूटी दीवारों का मलबा दिखायी दे जाता हैं लडाई को खत्म हुए मुद्दत बीती, किन्तु उसके मिटे-बुझे घाव जहाँ-तहाँ उभर आते हैं । कहीं-कहीं सडक के किनारे ऐसी अजीब इमारतें भी मिलती हैं जिनकी चारदीवारी साबुत और सम्पूर्ण हैं, किन्तु बीच में महज खोखल के अलावा कुछ भी नहीं - लगता है, जैसे हम किसी पूर्व-ऐतिहासिक नगर के खण्डहरों के बीच रास्ता टटोल रहे हो ।''[४]

आइसलैण्ड से वापस प्राग आते समय निर्मल जी कुछ दिन बर्लिन में ठहरे तो उन्हें लगा कि ''शीत-युद्ध की इतनी नंगी, बेलौस तस्वीर शायद यूरोप के किसी शहर में दिखायी नहीं देती कौन प्रभावित नहीं होगा, पश्चिमी बर्लिन की ऊँची भव्य दूकानों, होटलों और रेस्तराओं की तडक-भडक से ! कुरफुस्तैन्दाम अथवा हाँसा के इर्द-गिर्द घूमते हुए अनायास आधुनिक वास्तुकला की इमारतें हमें आकर्षित करती है । इन ऊँची, गगनचुम्बी इमारतों ने युद्ध के भद्दे अवशेषों को अपने में छिपा लिया है ।''[५] युद्ध का अवसाद इमारतों में ही नहीं वहाँ के लोगों में भी दृष्टिगत होता है । एक बार पश्चिमी

---

३. निर्मल वर्मा - चीडों पर चाँदनी, पृ.१७
४. वही, पृ.२२
५. वही, पृ.२५

बर्लिन की एक 'टूरिस्ट बस' में यात्रा कर रहे थे । उस बस में सभी जगहों के लोग थे - अमेरिकी, अंग्रेज़ी, जापानी तथा अन्य देशों के लोग । उनके साथ एक होशियार जर्मन 'गाइड' भी था - वह बहुत ही विनोदप्रिय व्यक्ति था । उसके शब्द बिल्कुल आकर्षक थे । फिर भी निर्मल जी को उसके शब्दों में युद्ध के अवसाद का अनुभव हुआ, "कभी-कभी उसकी आवाज़ बहुत उदास-सी हो जाती है । उस समय, जब हमारे सामने कुछ टूटी हुई इमारतों के खण्डहर दिखायी देते हैं ।"[६] इस प्रकार निर्मल जी ने बर्लिन की हर गली में, हर व्यक्ति के मुख में, प्रकृति में सब कहीं युद्ध की विभीषिकाओं से उभरी उदासी देखी है ।

जगहों के स्मृतिचिह्न

आइसलैण्ड

यूरोप प्रवास के दौरान निर्मल जी ने कई जगहों का भ्रमण किया है । चेक में वे थोर्गियेर और अन्य मित्रों के साथ रहते थे । थोर्गियेर एक सिनेमाटोग्राफी के छात्र थे । वे ही उनके बीच के सबसे बडे घुमक्कड थे । प्राग आने से पहले वे पेरिस में थे और उससे पहले स्पेन में । वे अब छुट्टियों में प्राग छोडकर जानेवाले थे । लेकिन अन्य मित्र जो आइसलैण्डी हैं - वे आइसलैण्ड जाकर वापस आनेवाले हैं । पर थोर्गियेर हमेशा के लिए जा रहा है । लेकिन, "कहीं भी ज्यादा दिनों तक टिके रहना उनके लिए असम्भव है ।"[७]

निर्मल जी के उपन्यास 'वे दिन' के पात्र थानथुन इस थोर्गियेर से मिलता जुलता पात्र है । क्योंकि वह भी एक सिनेमाटोग्राफी का छात्र हैं और हमेशा के लिए प्राग छोडकर बर्लिन जानेवाला है । यहाँ थोर्गियेर भी हमेशा के लिए प्राग छोडकर आइसलैण्ड जा रहा है । वह भी अपना कोर्स अधूरा छोडकर । थोर्गियेर निर्मल जी से आइसलैण्ड आने के

---

६. निर्मल वर्मा - चीडों पर चाँदनी,पृ.२७
७. वही, पृ.१४

लिए कहता है । निर्मल जी के लिए आइसलैण्ड जाना एक अनूठा अनुभव है - "भारत से यूरोप आना भी मुझे इतना असम्भव नहीं लगा था, जितना आइसलैण्ड जाने की कल्पना करना । मेरे लिए आइसलैण्ड की यात्रा 'अउटर स्पेस' को छूने से कम चमत्कारपूर्ण नहीं थी ।"[८] प्राग-बर्लिन की इंटरनेशनल ट्रेन में उन्होंने यात्रा शुरू की । आइसलैण्ड जाने के रास्ते में उनका पहला पडाव बर्लिन था । वहाँ जाते हुए वे बराबर प्राग के बारे में सोचते रहे । उस समय उन्हें तॉल्स्तॉय की याद आती है । उनके एक कथन की याद करते हुए निर्मल जी सोचते हैं - "जब हम किसी सुदूर यात्रा पर जाते हैं - आधी यात्रा पर पीछे छूटे हुए शहर की स्मृतियाँ मँडराती है, केवल आधा फासला पार करने के बाद ही हम उस स्थान के बारे में सोच पाते हैं, जहाँ हम जा रहे हैं । किन्तु ऐसे लमहे भी होते हैं जब हम बहुत थक जाते हैं - स्मृतियों से भी - और तब खाली आँखों से बीच का गुज़रता हुआ रास्ता ही देखना भला लगता है ।"[९]

बर्लिन

बर्लिन में वे सिर्फ एक दिन ही गुज़ार पाए । वहाँ पहूँचने पर थोर्गियेर की योजना के अनुसार वे लोग बर्लिन एन्सेम्बल जाने की तैयारी करते हैं । निर्मल जी कभी बर्लिन एन्सेम्बल जाने की बात सोच भी नहीं सकते थे । बर्लिन पहूँचने पर वे सीधे वहाँ जाते हैं । १९४९ में बर्लिन के महान नाटककार बर्तोल्त ब्रेख्त ने अपनी पत्नी हैलेन वेगेल के संग पूर्वी बर्लिन में ही बर्लिन-एन्सेम्बल की स्थापना की थी । ब्रेख्त अब जीवित नहीं है । लेकिन उनकी पत्नी हैलेन वैगेल के निर्देशन में वह चल रहा हैं । ब्रेख्त बीसवीं सदी के एक महान नाट्यकार हैं । उनकी तुलना अकसर शेक्सपियर के साथ की जाती है । जर्मनी में नात्सी सत्ता स्थापित हो जाने के बाद उन्होंने जर्मनी छोड दिया । अपने निर्वासन काल में गोलिलियो, मदर करेज जैसी महत्वपूर्ण नाट्यकृतियों की रचना की । निर्मल जी

---

८. निर्मल वर्मा - चीडों पर चाँदनी, पृ.१४
९. वही, पृ.१५

उन्हें एक कट्टरतावादी लेखक मानते हैं - "साहित्यिक बहसो और आलोचनाओं में जब-जब कम्यूनिस्ट लेखकों पर 'कट्टरता' या 'संकीर्णता' का आरोप लगाया जाता है, तब अकसर मेरा ध्यान ब्रेख्त पर चला जाता हैं । नाटक की समस्त मान-मर्यादाओं को तोडकर उसे - बीसवीं सदी के विशिष्ट प्रतीक के रूप में -सर्वथा नया मोड देनेवाला यह जर्मन लेखक एक फासिस्ट-विरोधी, कम्यूनिस्ट भी हो सकता है, पश्चिम के आलोचकों के लिए यह हमेशा एक विवादास्पद विषय बना रहा है ।"[१०]

वहाँ उन्होंने 'टेरर ऐण्ड मिज़री ऑव थर्ड रायख' देखा । वहाँ पहूँचने पर नाटक शुरू हो चुका था और उन्हें बॉक्स में बिठाया गया । उनके अलावा इस बॉक्स में एक और व्यक्ति था । वह एक औरत थी और चुपचाप सिमटी-सी एक कोने में बैठी थी - "वह चुपचाप सिमटी - सी बैठी थी इतनी तल्लीन और खोयी-सी कि कदाचित् उन्हें हमारे भीतर आने का आभास तक नहीं हुआ । अधेड उम्र, चेहरे पर हल्की-हल्की सी झुर्रियाँ, किन्तु आँखों में एक तीखी, तपती-सी आभा, एक अजीब, आकुल सी गरमाहट ये हैलेन वैगेल थीं । 'बर्लिन एन्सेम्बल' की प्रधान निर्देशिका हैलेन वेगेल ने हमारी ऐतिहासिक मुलाकात का ब्योरा भी यहीं खत्म होता है ।"[११] ब्रेख्त के नाटक निर्मल जी को बहुत ही समकालीन लगे हैं क्योंकि उन्होंने अपने तत्कालीन सभी विकल परिस्थितियों को अपने नाटकों द्वारा प्रस्तुत किया है । ब्रेख्त का यह नाटक देखनेका मौका निर्मल जी के लिए अत्यन्त सन्तोषजनक था । लेकिन वे ज्यादा दिन रह नहीं सकते थे । उनकी वीसा की अवधि सिर्फ उतनी ही थी । वह रात उन्होंने पश्चिमी बर्लिन में बितायी । दूसरे दिन वे बर्लिन छोडकर आगे निकले ।

---

१०. निर्मल वर्मा - चीडों पर चाँदनी, पृ.१८
११. वही, पृ.२०

कोपनहेगन

इसके बाद निर्मल जी कोपनहेगन गए । कोपनहेगन यात्रियों केलिए बडे आकर्षण का केन्द्र था । पर निर्मल जी के मन में कोपनहेगन के प्रति कोई विशेष लगाव नहीं हुआ । वे कहते हैं - ''कोपनहेगन मेरे लिए उन शहरों में से एक रहा है, जिसके संग आखिर तक मैं कोई गहरा आन्तरिक लगाव नहीं जोड पाया ।''[१२] फिर भी निर्मल जी कोपनहेगन की तिबोली नहीं भूल पाते । उस तिबोली के अन्दर सब कुछ है - सरकस, नुमाइश, नाइटक्लब, छोटी-छोटी झीलों के इर्द-गिर्द बिखरे रेस्तराँ, बियर पब, लम्बे लम्बे झूले आदि । इसीलिए लेखक के मन में तिबोली की स्मृतियाँ टंगी हुई है, ''कोपनहेगन का तिबोली एक जगमगाते, जादुई परी-देस की तरह मेरी स्मृति में टंगा है ।''[१३] वहाँ उनके रहने का कोई इन्तज़ाम नहीं किया गया था । थोर्गियेर और निर्मल जी बहुत थके हुए थे । वहाँ पर उनकी मुलाकात थोर्गियेर के दोस्त एंगुई से होती है । वह एक लम्बे कद का आदमी था और एक 'आइसलैण्डिक शिप कंपनी' में काम करता था । बाद में ही निर्मल जी को मालुम हुआ कि एंगुई की वजह से ही उनकी जहाज़ की टिकट रिज़र्व हो पायी है । उस रात होटल में रहने का इन्तज़ाम भी एंगुई ने ही किया । पर कुछ देर पहले जब थोर्गियेर और निर्मल जी ने उसी होटल में कमरे केलिए पूछा तो वहाँ के लोगों ने उनका पासपोर्ट देख कर रूम देने से इनकार कर दिया था । तब निर्मल जी यह नहीं समझ सके कि इसका माजरा क्या है । बाद में एंगुई से ही इसका कारण मालुम हुआ । पासपोर्ट देखने पर उन्हें पता चला कि निर्मल जी प्राग से आ रहे हैं । प्राग के लोगों को वे अपने होटल में रूम देना इसलिए नहीं चाहते क्योंकि प्राग एक कम्यूनिस्ट देश है । निर्मल जी के लिए यह बहुत ही कडवा लगा था । क्योंकि उसी होटल में दुबारा एंगुई के साथ जाने पर उन्हें

---

१२. निर्मल वर्मा - चीडों पर चाँदनी, पृ.३०
१३. वही, पृ.३०

कमरा मिला क्योंकि एंगुई कोपनहेगन का ही रहनेवाला था और उनका सन्देह भी मिट गया। इसीलिए उन लोगों ने उन्हें रूम भी दिया।

यह यूरोपीय देशों के बीच के शीतयुद्ध का नतीजा था। उस रात निर्मल जी ने एंगुई के साथ सारा कोपनहेगन घूम लिया। तब उन्हें ऐसा लगा कि वे कोपनहेगन में नहीं किसी अज्ञात रहस्यमय शहर में चल रहे हैं। उस शहर की एक छोटी सी झाँकी निर्मल जी यों प्रस्तुत करते हैं - "हर चीज़ जैसे कायाकल्प की अदृश्य प्रक्रिया से गुज़रकर एक विचित्र, मायावी मुखौटे में बदल गयी थी 'बार' की खिडकियों के पीछे झाँकते भावहीन चेहरे, अन्तहीन आवाज़ें नहर के पास सिकुडी मरी मछलियों की गन्ध, १८ वीं - १९ वीं शती के रंग-बिरंगे बक्सानुमा मकान, जो एक ज़माने में नाविकों के 'बैरक' थे- और गिरजों की बुर्जियाँ। बुर्जियाँ जो रात के नरम नीले अँधेरे में सूखी हड्डियों के ढाँचों- सी हवा में काँपती है। प्राग के गिरजों में एक अजीब-सा स्वप्निल अशरीरीपन है, पेरिस के गोथिक चर्चों को देखकर लगता है कि उनकी ईटों के बीच सिमेन्ट के स्थान पर केवल मोमबत्तियों का आलोक है, सेन के हरे पानी पर काँपता हुआ। किन्तु कोपनहेगन के गिरजे दोनों से अलग हैं - लगता है, वे भयावह,बेडौल मकबरे हों, जिनके भीतर मध्ययुग का बासी, भूरा, धर्म के कीचड में लिथडा अँधेरा जमा होता गया हो।"[१४]

अमस्टरडम

कोपनहेगन में रहते हुए निर्मल जी को बराबर अमस्टरडम की याद आती है। वे जब भी उन दोनों शहरों के बारे में सोचते हैं तब इन की तुलना भी करने लगते हैं। दोनों शहर पहले व्यापारी शहर थे। वहाँ यूरोप के प्रसिद्ध बन्दरगाह भी थे। वहाँ यूरोप के दूर-सुदूर कोनों से व्यापारी और नाविक अपनी यात्रा जारी करने से पहले कुछ दिन ठहरते थे। आमस्टरडम का वर्णन करते हुए निर्मल जी कहते हैं - "अमस्टरडम की अपनी एक आत्मा

---

१४. निर्मल वर्मा - चीडों पर चाँदनी, पृ.३४

है । नहरों से सटे हुए मकान इतने सन्तुलित और आत्मीय और कालजित् लगता है कि आदमी के हाथों ने उन्हें नहीं बनाया, खुद-ब-खुद फूलों से नहरों के किनारे-किनारे उग आये हैं । वे आईना हैं - जिनमें चहारदीवारी के भीतर रहनेवाले डच-निवासियों की जिन्दगी झलकती है - किन्तु वे महज़ आईना नहीं हैं, हर डच-निवासी का चेहरा-मोहरा, आचार-व्यवहार, वेश-भूषा उसके घर की चहारदीवारी का जुज़ है - दोनों अपने में एक दूसरे का अक्स प्रतिबिंबित करते हैं ।''[१५] निर्मल जी के मित्र थोर्गियेर भी बहुत घुमक्कड किस्म के आदमी थे । निर्मल जी की राय में ''मेरे मित्र थोर्गियेर अपने जीवन में सात से अधिक घाटों का पानी पी चुके हैं ।''[१६]

यूरोप में कम्यूनिस्ट और गैर कम्यूनिस्ट दोनों किस्म के देश शामिल हैं । नार्वे, स्वीडन, फिनलैण्ड जैसी जगहों में परंपरागत नैतिक रूढ़ियाँ यूरोप की अन्य देशों की तुलना में बहुत हद तक नष्ट हो चुकी हैं । वहाँ स्त्री पुरुष संबन्ध भी अन्य देशों की तुलना में स्वच्छन्द और कुण्ठामुक्त है । भौतिक दृष्टि से रहन-सहन का स्तर भी ऊँचा है और उसके साथ साथ वहाँ के लोग ज्यादा संस्कृति-सम्पन्न हैं । इसलिए इन देशों में वेश्यांवृत्ती सामाजिक व्यवस्था नहीं है । इन सब मामलों में अन्य स्कैण्डेनेवियन देशों की तुलना में ये अलग हैं । निर्मल जी काफ्का के बिना प्राग और किर्केगाद के बिना कोपनहेगन की कल्पना भी नहीं कर पाते, उस रात निर्मल जी कोपनहेगन के 'स्कारलेट पिम्परनल' नामक बियर घर गए । वहाँ का एक नियम यह था कि जो कोई वहाँ आये टाई पहनकर आाये,नहीं तो कमीज़ के ऊपर का बटन डाल कर आयें । वहाँ जाने पर थोर्गियेर ने अपने कमीज़ का बटन डाला । लेकिन निर्मल जी और एंगुई दोनों ने पहले ही टाई पहन रखी थी । इसलिए उन्हें उस रियायत का सदुययोग करने का अवसर नहीं मिला । उस बियर घर में आइसलैण्डियों के लिए अलग कोना था । जहाँ से भी आइसलैण्डी लोग

---

१५. निर्मल वर्मा - चीडों पर चाँदनी, पृ.३५
१६. वही, पृ.३५

आते हैं वहीं उस कोने में जाकर बैठते हैं । इसलिए एंगुई भी वहाँ जाकर बैठता हैं । वहाँ एक प्रसिद्ध स्थानीय गीत सुनने का मौका भी मिला । वह गीत डेनिश भाषा में था और काफी लम्बा भी । उस गीत के शुरू होते ही बियर घर के सारे लोग नाचने लगते हैं । उसके पीछे एक प्रसिद्ध कहानी भी थी । वह एंगई ने निर्मल जी को बता दी ।

पुराने ज़माने में किसी गाँव में एक धनी किसान था और उसकी एक सुन्दर पत्नी भी थी । जब वह किसान बियर पीने के लिए बाहर जाता है तो उसकी अनुपस्थिति का फायदा उठाकर एक युवा छात्र आकर उसे चूमता है । किसान ने दरवाजे की आड में रहकर सब कुछ देख लिया । गुस्से से तिलमिला कर उसने उन दोनों की हत्या कर दी और बियर पीने निकला । इस प्रकार कहानी यह सबक सिखा देती है कि जब भी बियर पीने जाओगे तो पत्नी को भी साथ लेकर जाना । नहीं तो अन्तिम परिणति यही निकलेगी । उनके आइसलैण्ड जाने का दिन आ गया । उनका जहाज़ बन्दरगाह पर आ टिका हुआ था। उस जहाज़ का नाम था गुल्फॉस । इसका अर्थ है स्वर्णप्रपात । यह नाम आइसलैण्ड के एक सुन्दर झरने का था । कोपनहेगन में दो दिन रहकर निर्मल जी और थोर्गियेर आइसलैण्ड के लिए अपना बोरिया बिस्तर लेकर रवाना हो गए । यात्रा आरम्भ होने के पहले ही वे जहाज़ में जाकर रहने लगे ।

दिन भर आर्ट-गैलारियों और म्यूज़ियमों का चक्कर लगाकर रात होने पर वे लोग जहाज़ में आ गए । वह उनके लिए बहुत ही अनूठा अनुभव था रात को जहाज़ में सोते हुए निर्मल जी को लगा कि अपने बचपन की इच्छाएँ और स्वप्न साकार हो उठे हैं, "लहरों की आवाज़ जैसे अपने में एक गीत हो और यद्यपि जहाज़ एक जगह ही टिका रहता, हमें लगता जैसे हम आइसलैण्ड से बहुत दूर नहीं हैं । रात को सोने लगता, तो बिस्तर बच्चे के पालने-सा मन्द-मन्द डोलता रहता । आँख खुलती, तो केबिन की खिडकी के बाहर अन्तहीन, अबाध नीलापन दिखाई देता, जहाज़ के मस्तूलों पर समुद्री-पक्षी उडते रहते ।

ध्यान आता हम किसी दिन वहाँ होंगे समुन्दर के बीचोबीच बचपन के पुराने स्वप्नों की गाँठे एक-एक करके खुलने लगती ।''[१७] इस प्रकार समुद्र में धीरे धीरे तैरते हुए जहाज़ में सोते हुए निर्मल जी को हैन्स क्रिश्चियन एडर्सन का स्मरण आता था । उन्होंने कई विश्वविख्यात परिकथाओं की रचना की थीं । वे सब उन्होंने कोपनहेगन में ही लिखी थी । एडसॅन की कहानी में जो रोती हुई मर्मेड है उसकी झलक निर्मल जी को समुन्दर में दिखाई देती है । शायद इसीलिए उन्होंने कोपनहेगन पर लिखते हुए रोती हुई मर्मेड का शहर संज्ञा दी है ।

कोपनहेगन में निर्मल जी को स्केण्डेनीवियन चित्रकारों की कलाप्रदर्शनी देखने का भी मौका मिला । लेकिन उन्हें उसमें कुछ खासियत महसूस नहीं हुई । उनके अनुसार वास्तुकला और मूर्तिकला में स्कैण्डनेवियाई लोगों की कोई खास महत्वपूर्ण देन नहीं है । वहीं पर उन्हें जापानी कलाकार कित्तो की प्रदर्शनी देखने का मौका भी मिला । निर्मल जी कित्तो के बहुत बडे प्रशंसक थे । सबसे पहले 'म्यूज़ियम ऑफ मॉडर्न आर्ट में ही उन्हें उनके दो चित्र देखने का अवसर मिला था । वे उनसे बहुत प्रभावित हुए । गुल्फॉस जहाज़ में अपनी यात्रा के अनूठे अनुभवों और उसमें रात के सुन्दर दृश्यों को निर्मल जी यों अंकित करते हैं - ''यहॉ रात नहीं होती, शाम और सुबह के दो धुँधले बिन्दुओं के बीच रात का महज हल्का-सा भ्रम होता है - जैसे एक झीना-सा सफेद परदा हो, जो रात होते ही गिर जाता है और सुबह होने पर फिर उठ जाता है ।''[१८]

जहाज़ में सैर करते हुए निर्मल को अपने बचपन की याद आयी, ''मुद्दत पहले घर की छत पर मछलियों का खेल खेलते हुए क्या कभी सोचा था कि एक दिन सचमुच लहरें हमारे सिर पर से गुज़र जायेंगी और हम, जो अब बडे हो गये हैं, बच्चों से डरते, ठिठुरते हुए

---

१७. निर्मल वर्मा - चीडों पर चाँदनी, पृ.४४
१८. वही, पृ.४७

डेक पर बैठे रहेंगे ?''[१९] कोपनहेगन से आइसलैण्ड तक छह दिन का रास्ता है । समुद्री लहरों में धीरे धीरे हिलोरे लगाते जानेवाले जहाज़ में समय का हिसाब रखना मुश्किल का काम था । उस जहाज़ में विभिन्न देशों के यात्री थे, जैसे स्विस, जर्मन, स्वीडेन और भारतीय । मौसम अच्छा होने पर सब लोग अपना अपना कम्बल ओढ कर धूप सेंकने के लिए बैठ जाते थे । रात के समय ज्यादातर लोग बार में जाते थे क्योंकि रात की ठंड कोई भी बरदाश्त नहीं कर पाते थे । सब लोग अपनी दुनिया में मस्त रहते थे । लोग दुनिया को ही भूल बैठते थे - ''इस दुनिया का आभास उसी समय होता जब कोई अलहड-सी लहर पूरी निर्ममता से हमारे जहाज़ को धकेल देती है और अचानक हमारे सामने मेज़ पर रखा बियर का गिलास लुढ़कता हुआ नीचे गिर पडता, और तब 'बार' में हर मेज़ पर अपने- अपने गिलासों को बचाने की बचकानी-सी भगदड मच जाती ।''[२०]

निर्मल जी जहाज़ के तहखाने में रहते थे। वह एक सेकेण्ड क्लास सामूहिक कैबिन था । उसमें सब लोग मिल-जुल कर रहते थे । किसी के लिए अलग केबिन नहीं था । जहाज़ में यात्रा की आधी मंज़िल पार करने पर खुद-ब-खुद तीन वर्गों में बँट गए । पहले में वे लोग थे जिनके लिए समुद्र का होना या -न-होना बराबर था । वे लोग अपनी दुनिया में हमेशा मस्त रहते थे, सोकर बियर पीकर या आइसेलैण्ड का नक्शा देखकर या चिट्ठियाँ लिखकर वे अपना समय गुज़ारते थे । उन्हें कोई डर या चिन्ता नहीं थी । दूसरे वर्ग में वे डेकवासी हैं जो हमेशा किसी न किसी झंझट में रहते । केबिन में जाने पर सब लोगों को एक साथ देखने पर उनका सिर चकराने लगता था, भोजन देखते ही उनको मितली आती थी और अपनी ऊब और परेशानी के कारण वे लोग बार में बैठकर चैन से पी भी नहीं पाते थे । रात भर ठंड से ठिठुरते हुए वे लोग जहाज़ के डेक पर पडे रहते थे । और तीसरा वर्ग वह था जो एक प्रकार से मृत्यु-शय्यावासी लग रहे थे । वे हमेशा डर के

---

१९. निर्मल वर्मा - चीडों पर चाँदनी, पृ.५१
२०. वही, पृ.५२

कारण अपने-अपने बिस्तर पर सिमटे पडे रहते। उन्हें देखकर निर्मल जी को युद्ध में घायल सैनिकों की याद आती थी । निर्मल जी इनमें से दूसरे वर्ग में आते थे । उत्तरी सागर के खुले नग्न विस्तार में उनका जहाज़ भयानक लहरों से लिपटा जा रहा था । इसीलिए निर्मल जी की हालत ऐसी हो गयी थी ।

स्कॉटलैण्ड

तीसरे दिन स्थिति कुछ बदलने लगी । वहाँ लीथ बन्दरगाह में उन्हें पाँच सात घण्टे विश्राम भी करना था । इस समय कोई भी जहाज़ में रहना पसन्द नहीं करता । हर एक उससे छुटकारा पाने के इच्छुक बने रहते थे । इस प्रकार कई दिनों के बाद किसी जगह पर उतरने पर उन्हें लगा कि "ज़मीन, दूकाने लोगों की परिचित आवाज़ें और पुराने गिरजे - लगा जैसे हम एक लम्बी मुद्दत के बाद सभ्यता की दुनिया में वापस लौट आये हैं । यद्यपि हम जहाज़ से उतरकर ठोस धरती पर चलने लगे थे, हमें देर तक यही महसूस होता रहा जैसे हम शराबियों की मानिन्द किसी डोलती, डगमगाती चीज़ पर चल रहे हैं । समुद्र अब भी हमारे संग था ।"[२१] वहाँ कुछ देर ठहरने का मौका मिला । उसके बाद पता चला कि वह जगह स्कॉटलैण्ड है । वहाँ की डबल डेक्कर लाल बसें एल और ड्राफ्ट के बियर-घर, घरों के दरवाज़े के सामने रखी दूध की बोतलें, 'गार्डियन' और 'टाइम्स', हेम्बर्गर हॉट डॉग आदि देखकर निर्मल जी को बराबर लन्दन की याद आ रही थी । उस समय ही निर्मल जी ने धरती पर चलने में जो सुख है जो चैन है, उसे पहचाना था, "पहली बार पूरी शिद्धत से महसूस हुआ कि धरती, महज़ ठोस धरती पर चलने का भी अपना अलग सुख है । वह पैरों के नीचे काँपेगी नहीं, हिले- डूलेगी नहीं, यह खयाल मन को अजीब सान्त्वना-सी देता है ।"[२२]

---

२१. निर्मल वर्मा - चीडों पर चाँदनी, पृ.५४
२२. वही, पृ.५५

उस शहर का नाम था एडिनबोरो । वहाँ के लोग अंग्रज़ों के समान आभिजात औपचारिकता में लिपटे हुए नहीं लगे । वे काफ़ी खुशमिज़ाज़ लगे क्योंकि वे रास्ते से ठठाकर हँसते हैं । वहाँ चलते हुए निर्मल जी को लगता है - "शायद यह है - और ऐसा मैं सोचता हूँ, कि हम यात्री किसी भी जगह पहली बार नहीं जाते; हम सिर्फ लौट-लौट आते हैं उन्हीं स्थानों को फिर से देखने के लिए, जिसे कभी, किसी अजाने क्षण में हमने अपने घर के कमरे में खोज लिया था । क्या यह कभी संभव है कि हम ओसलों में घूमते रहें और अचानक गली के नुक्कड पर इब्सन के किसी पात्र से भेंट न हो जाये ! या पहली बार आइफल - टावर के सामने फैले पेरिस की छतों को देखकर हमें 'अपने' पेरिस की याद न हो आये जिसे हमने बाल्ज़क के उपन्यासों और रजिस्ताँ की कविताओं से चुराकर खास अपनी निजी अल्बम में चिपका लिया था ।"[२३]

शाम को चार बजे तक जहाज़ पर वापस पहूँच जाना था । इसलिए जल्दी ही निर्मल जी थोर्गियेर के साथ एडिनबोरो आर्ट गैलरी देखने गए । वहाँ उन्होंने तितियान के चित्र देखे जिन्होंने उन्हें बहुत ज्यादा प्रभावित किया, "जब कभी एडिनबोरो की 'आर्ट गैलरी' के बारे में सोचता हूँ, आँखों के सामने घूम जाते हैं तितियान के चित्र .... लगता है, जैसे मानव - आत्मा अपने सब बन्धनों को तोडकर सुनहरे असीम आलोक के ज्वलंत रंगों में फैल गयी है । तितियान के देवदूत असीम दूरियाँ लाँघते हुए एक ऐसे मांसल आनन्द को खींच लाते हैं जिसमें रहस्यमय अथवा अशरीरी कुछ भी नहीं है, धरती के ऊपर उडते हुए भी जो धरती की गन्ध और आत्मीयता को नहीं छोड पाते ।"[२४] वहाँ उन्हें रेम्ब्राँ हालास स्टील पूसाँ आदि के चित्र भी देखने को मिले । उस रात जहाज़ में बैठकर लोग देर तक पीते रहे । सभी वर्गों के लोग आपस में बहुत ज्यादा घूल-मिल गए । किसी में किसी भी प्रकार का डर यां आशंकां नहीं थी । सभी लोगं समान रूप से खुश थे ।

---

२३. निर्मल वर्मा - चीडों पर चाँदनी, पृ.५६

२४ वही, पृ.५७

रिक्याविक

फिर वे आइसलैण्ड की राजधानी रिक्याविक पहूँच जाते हैं । इसका अर्थ है - 'धुँए का शहर' । निर्मल जी इस शहर के ऐसे नामकारण के कारण को यों स्पष्ट करते हैं । नार्वे से पहले पहल वाइकिंग्स यहाँ आये थे । तब गरम पानी के झरने से उठते हुए धुँए को देखकर ही उन्होंने इस शहर का नामकरण किया था । लेकिन निर्मल जी को इस शहर का धुएँ से दूर का भी रिश्ता महसूस नहीं हुआ । उनके अनुसार वहाँ की हवा भी साफ हल्की और सफेद है । उनके अनुसार आइसलैण्ड नाम भी भ्रामक है । क्योंकि वहाँ के कुछ उत्तरी भागों में बर्फ ज्यादा पडती है । लेकिन सभी जगहों पर समान रूप से नहीं पडती । उसकी राजधानी रिक्याविक एक ऐसी जगह है जहाँ कभी कभी बर्फ पडती ही नहीं ।

रिक्याविक में जहाज़ है मछली पकडने की नौकाएँ हैं, बन्दरगाह हैं, पहाडी कस्बा है, रंगबिरंगे मकान है । लेकिन निर्मल जी को रिक्याविक के बारे में सोचते समय इन सबकी याद नहीं आती । याद आती है सिर्फ वहाँ की हवा की । वे कहते हैं - "आइसलैण्ड आने से पहले मुझे नहीं मालुम था कि हवा का असली जादू क्या होता है ।"[२५] निर्मल जी के अनुसार आइसलैण्डी लोग आत्मीयता का प्रदर्शन नहीं करते । वे किसी से भी कोई भी चीज़ खुले में व्यक्त नहीं करते । आइसलैण्ड की आबादी दिल्ली की आबादी की एक चौथाई है । इसीलिए उस देश की अपनी एक सेना भी नहीं है । लोग अपनी भाषा से बहुत प्याार भी करते हैं, "आइसलैण्डी का दो चीज़ों के प्रति गहरा लगाव अद्भुत है - बियर और अपनी भाषा । अपनी भाषा के प्रति ललक और प्यार मैं ने अपने देश में बंगालियों में, और यूरोप में आइसलैण्ड निवासियों से अधिक और कहीं नहीं देखा, कुछ ऐसा संयोग है कि भारत में मेरे सबसे स्नेही और

---

२५. निर्मल वर्मा - चीडों पर चाँदनी, पृ.६९

आत्मीय मित्र बंगाली और यूरोप में आइसलैण्डी रहे हैं - दोनों की मण्डलियों में घण्टों गुज़ारने का अवसर मिला है और गो वे हमेशा आपस में अपनी भाषा में बातचीत करते हैं, मैं ने कभी उनके बीच अपने को अकेला महसूस नहीं किया ।''[२६] निर्मल जी आइसलैण्डी भाषा के दो शब्द भी जाने थे । एक शब्द है 'संबन्ध' । इस 'सबन्ध' शब्द का अर्थ हिन्दी का संबन्ध ही है । उसी प्रकार दूसरा शब्द है - 'स्काउल' । यह 'स्काउल' शब्द अंग्रेज़ी चियर्ज़ का पर्यायवाची शब्द है ।

उन्होंने 'रोती हुई मर्मेड का शहर' में आइसलैण्ड के राजनीतिक वातावरण का भी ज़िक्र किया है, ''१३ वीं १४ वीं शताब्दियों में आइसलैण्ड में अनेक श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण साहित्यिक और ऐतिहासिक ग्रन्थों की सर्जना हुई, जिनमें 'सागा-ग्रन्थों' को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है । यह एक सर्वविदित तथ्य है कि मध्यकालीन यूरोप में आइसलैण्ड ही ऐसा देश था, जहाँ कमोबेश हर व्यक्ति लिख-पढ़ सकता था : अन्य देशों में ज्ञान और शिक्षा के साधनों पर चर्च का आधिपत्य था, किन्तु आइसलैण्ड में चर्च और ईसाई संघों के नियन्त्रण के बाहर, एक शुद्ध धर्म-निरपेक्ष संस्कृति का विकास हुआ । आश्चर्य नहीं कि 'सागा-ग्रन्थ' निरे 'अ-धार्मिक' ईसाई-दर्शन और चिन्तन से बिल्कुल अछूते हैं - इस दृष्टि से एक हद तक उनकी तुलना यूनानी नाटकों से की जा सकती है । डेनमार्क के आधिपत्य में आने के बाद धीरे-धीरे आइसलैण्डी संस्कृति का केन्द्र कोपनहेगन बन गया । अनेक आइसलैण्डी विद्वानों और कलाकारों ने अपने श्रेष्ठ ग्रन्थों की रचना कोपनहेगन में रहकर ही की । इन ग्रन्थों की पाँडुलिपियाँ आज डेनमार्क के संग्रहालयों तथा पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं । स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद आइसलैण्ड-सरकार ने डेनमार्क से इन पाण्डुलिपियों को वापस लौटाने की माँग की है, जिसे आज तक स्वीकार नहीं किया गया । आज पाण्डुलिपियों का यह विवाद आइसलैण्ड में एक 'राष्ट्रीय प्रश्न'

---

२६. निर्मल वर्मा - चीडों पर चाँदनी, पृ. २२

बन गया है - उतना ही गम्भीर और उत्तेजनापूर्ण - जितना आइसलैण्ड से अमरीकी अड्डों को हटाने का प्रश्न ।''[२७]

एक बार सिर्फ सडक पर चलते हुए निर्मल जी और थोर्गियेर की भेंट आइसेलैण्ड के कई महान व्यक्तियों से हुई । पहली बार एक अभिनेत्री, से हुई जो साग सब्जी लेकर घर वापस लौट रही थी । कुछ कदम और चलने पर एक प्रसिद्ध युवा कवि आबॉगार्द से मुलाकात हुई । कुछ और आगे चलने पर प्रसिद्ध आइसलैण्डी पत्रिका 'संस्कृति और भाषा' के संपादक सिग्फूस दादालॉन से मुलाकात हुई, उन्हें आज आइसलैण्ड का सबसे योग्य आलोचक भी माना जाता है । जोहान्स कियरवाल नामक आइसलैण्ड के महान चित्रकार से भी भेंट हुई । उसके दो दिन पहले ही निर्मल जी ने उनके चित्र 'नाशनल गैलरी' में देखे थे और उनके सबसे बडे प्रशंसक बन चुके थे । इस प्रकार दस मिनट रास्ते पर चलने से कई महान और विशिष्ट लोगों से उनकी मुलाकात हुई । यह अन्य किसी भी देश में कभी भी संभव नहीं ।

ये आइसलैण्डी लोग कहीं भी अपना डेरा लगा लेते हैं । आइसलैण्ड में रिक्याविक से कुछ दूरी पर थिंगविल्यिर नाम की एक जगह है । वह एक निपट उजाड धरती है । वहाँ दूर दूर तक एक भी बस्ती दिखायी नहीं देती । वर्षों पहले ज्वालामुखी विस्फोट से वहाँ बीच की धरती धँसती गयी और सिर्फ लम्बी-लम्बी चट्टानें ही बाकी रह गयी । यहीं पर यूरोप की सबसे पहली पार्लामेण्ट की नींव डाली गयी थी । वहाँ के लोग उसे सबसे गौरवपूर्ण तीर्थस्थान मानते हैं । ''हर देश के अपने तीर्थ-स्थान, अपने पावन स्मारक होते है मैं सोचता हूँ .... किसी-न-किसी रूप में उनका धर्म, ईश्वर, देवी-देवताओं से संबन्ध होता है .... शायद इसीमें उनकी पवित्रता निहित है और एक यह 'तीर्थ-स्थान' है, थिंगविलियर, जिसकी पवित्रता किसी धर्म से नहीं जुडी - जो

---

२७. निर्मल वर्मा - चीडों पर चाँदनी, पृ.४१

महज़ इसलिए पुनीत है कि पहली बार यहाँ मनुष्य ने स्वाधीनता को धर्म (सिर्फ 'अधिकार' नहीं) माना था ।''[२८]

वहाँ एक मशहूर बावडी है 'निकुलासारगया' । उसका जल अत्यन्त गहरा और पारदर्शी है । वर्षों पहले ओक्सारा नदी के किनारे के घास पर वहाँ लोगों की 'एल्थिंग' (आइसलैण्डी पार्लामेण्ट) की बैठक होती थी । वहाँ के लोग भी यूनानियों की तरह न्याय पर अटूट विश्वास रखनेवाले थे । इस प्रकार वहाँ कई जगहों में घूमने पर निर्मल जी आइसलैण्ड की धरती के कन कन से परिचित हो गए । उन्होंने आइसलैण्ड की संस्कृति को लोक संस्कृति की संज्ञा दी है । रिक्याविक के मौसम वहाँ की हवा आदि ने उन्हें बहुत ज्यादा प्रभावित किया । वे वहाँ के ईगिल्स हिल की घास पर लेटे हुए और भी उत्तर जाने की साध मन में दबाये रहते हैं । इस प्रकार निर्मल जी ने 'ब्रेख्त और एक उदास नगर', 'रोती हुई मर्मेड का शहर', 'उत्तरी रोशाीयों की ओर' तथा 'सफेद रातें और हवा' में प्राग से ले कर आइसलैण्ड तक की अपनी यात्राओं के अनोखे अनुभवों का पर्दाफाश किया है ।

चेकोस्लोवेकिया

लिदीत्से चेकोस्लावेकिया का एक छोटा सा गाँव है । निर्मल जी जब छोटे थे तो एक दिन स्कूल से आते हुए उन्होंने एक पोस्टर देखा । वह पोस्टर अन्य पोस्टरों से कुछ अलग किस्म का था । इसलिए वह आज भी उनकी याद में बनी रही है । उसमें लिखा था कि लिदीप्से विल लिव । निर्मल जी ने घर आकर चेकोस्लोवेकिया का नक्शा छाँट लिया । लेकिन कहीं भी ऐसा कोई नाम नहीं दिखाई दिया । बडे होने पर वे उस गाँव को देख पाए । निर्मल जी चेक में बहुत साल रहे हैं । इसलिए वहाँ की बियर - पब्ज़ में पीते हुए और साहित्यिक मसलों में बहस करते हुए वे देखने को मिलते हैं । निर्मल

---

२८. निर्मल वर्मा - चीडों पर चाँदनी, पृ.७५

जी जब लिदीत्से गए तो उनके साथ फिलॉलॉजिकल फॅकल्टी के डीन डॉ. फ्रीड भी थे । वह गाँव एक मरी हुई बस्ती का प्रतीक था । यह गॉव लिदीत्से प्राग के निकट है । वहाँ से सिर्फ बीस-पचीस मील के फासले पर। बहुत साल पहले १० जून १९४२ को प्राग से कुछ मिलिटरी ट्रंकें लिदीत्से आयी थीं । क्योंकि कुछ दिन पहले एक बडे जर्मन अफसर को वहाँ पर किसी ने मार डाला था । बहुत छान बीन हुई धमकियाँ दी गयी लेकिन हत्या के संबन्ध में कोई ठोस सबूत नहीं मिला । तब लिदीत्से पर शक हुआ कि हत्यारा वहाँ पर है । वहाँ पर छानबीन करने पर भी कुछ पता नहीं चला । लेकिन फासिस्ट लोग जानते थे कि हत्यारा वही पर है । इसलिए उन लोगों ने हर बालिग व्यक्ति को जो सोलह वर्ष से ऊपर है, मार डालने का निर्णय लिया । १० जून १९४२ के दिन ही जर्मन सेना लिदीत्से आयी थी और उसे चारों तरफ से घेर डाला था । फिर कुछ दिन के बाद वहॉ सिर्फ आग की लपटें ही बची रह गयी थीं । आज वहाँ पर सिर्फ टूटी दीवारों के मलबे हैं और जली हुई ईंटों का ढेर है । वहाँ इस उजाड बस्ती में जब निर्मल जी और डॉ. फ्रीड चलने लगे तो उन्होंने वहाँ पर दीवारों और छत से घिरी एक इमारात देखी जो सचमुच एक आश्चर्यजनक घटना थी । पास आने पर ही उन्हें पता चला कि वह लिदीत्से म्यूज़ियम है । वह उस युद्ध के बाद ही बनाया गया था । उसके कारण वह बिना किसी क्षति के आज भी जीवित है ।

लिदीत्से की हर छोटी बडी चीज़ जो युद्ध के बाद बाकी रह गयी थी वह सब उस म्यूज़ियम में रखे हुए थे । उसमें सब कुछ था - बच्चों के पैराम्बुलेटर अधजली गुडियाएँ, झीने परदे, शराब की बोतल, शेष का सामान आदि । म्यूज़ियम की अलग दीवार पर अकबारों के कुछ कटिंग भी देखने को मिले । ये सब एक मरी हुई संस्कृति की याद उजागर करने के लिए काफी थे । निर्मल जी कहते हैं, "यूरोप के शहरों में घूमते हुए मुझे अकसर यह महसूस हुआ है कि इन लोगों के बीच मैं महज़ 'आउटसाइडर' हूँ - एक बाहर का आदमी । यूरोप के लिए फासिज़्म का जो अर्थ रहा है, क्या मैं उसे कभी

सही-सही समझ सकूँगा, महसूस कर पाऊँगा ? आज वह उसकी आत्मा का हिस्सा है - पूरे अर्थ में एक 'पाप जो सिर्फ अतीत की विरासत ही नहीं है, किन्तु जिसे हर व्यक्ति कमोबेश अपने में लिए जीता है । और तब लिदीत्से के खण्डहरों के बीच भटकते हुए मुझे पहली बार अपने लिए 'आउटसाइडर' शब्द अजीब-सा बेमानी लगा है । टूटी हुई दीवारों के मलबे के निचे हम सबकी आत्मा का अंश दब गया है .... क्योंकि जिस सदी में हम जीते हैं, हममें से हर व्यक्ति उसका गवाह है, और गवाह होने के नाते जवाबदेह भी .... ।'' [२९] 'बर्त राम्का : एक शाम' में मोत्सार्ट की स्मृतियाँ हैं । उनके घर का नाम है - बर्त राम्का । अब मोत्साार्ट नहीं रहे । उनका घर एक म्यूज़ियम है । एक लायब्रेरी है जिसमें उस अधेड व्यक्ति की आवाज़ सुनायी देती है । उनकी आत्मा का संस्पर्श उस घर में होता है । मोत्सार्ट प्राग निवासियों के लिए बहुत ही प्रिय थे । इसमें निर्मल जी ने मोत्सार्ट से संबन्धित कुछ बातों को याद करने की कोशिश की है । 'पेरिस : एक स्टिल लाइफ' में पेरिस और वहाँ की स्मृतियों को उजागर करते हुए वे कहते हैं, ''मुझे हमेशा दु:ख रहेगा कि पेरिस में मैं इतने कम दिन रह सका । आज याद करता हूँ, तो उससे जुडी हुई या उससे अलग - कुछ अपनी ही बिम्ब-छवियाँ इकट्ठा कर पाता हूँ - लेकिन बहुत कोशिश करने के बावजूद उसकी एक 'इमेज', एक पूरा चेहरा नहीं पकड सकता, जैसे कोई व्यक्ति सिर्फ एक रात किसी के संग गुज़ारकर आगे चला जाये और बाद में सोचने पर केवल याद कर सके - सिर्फ आँखों का रंग, बालों की एक खास खुशबू, देह की खोजती-कांपती, मूक आवाज़ और चन्द फिज़ूल के शब्द ।''[३०] 'वियना' में निर्मल जी ने वियना के ऑपेरा क्लबों में बिताए शाम का वर्णन किया है । 'चीडों पर चाँदनी' में शिमला की यादें हैं । इसलिए शिमला के पहाडों का सौन्दर्य हमेशा उनकी रचनाओं में भरा है ।

---

२९. निर्मल वर्मा - चीडों पर चाँदनी, पृ.९९

३०. वही, पृ.१२१

पहाड सिर्फ सौन्दर्य वर्णन की वस्तु बनकर नहीं बल्कि एक ठोस आधार बनकर आता है । उनके मन में अपने परिवार और अपने आप को लेकर जो भी परेशानियाँ थीं वे सब उन पहाडों की आधारभूमि पर ही ज्यादा स्पष्ट हो पाई हैं । अब तक निर्मल जी दुनिया की कई जगहों पर घूम चुके हैं । पर पहाड उनके अवचेतन में अब भी वैसा ही विद्यमान है जैसा वह पहले था, "शिमले का वह घर बरसों पहले छूट चुका है, उसके वाद न जाने कितने छोटे-बडे हिल-स्टेशनों के होटलों में रहना पडा है, किन्तु आज भी जब किसी अकेली, निर्जन पगडण्डी पर चढ़ता हुआ घास के किसी अनजाने द्वीप पर साँस लेने टिटक जाता हूँ तो आँखें असीम विस्मय से भर उठती है । पहाडों की अलंघ्य, अभेद्य ऊँचाइयों की तरह इस प्रश्न की रहस्यमयता आज भी वैसी ही बनी है, जैसी कभी बरसों पहले बचपन में थी ।"[३१] इसलिए निर्मल जी की रचनाओं में पहाड एक मिथ बन कर पूरे वातावरण में छाया हुआ दिखाई देता है ।

प्रतिभाओं की सहस्थिति

लैक्सनेस

'लैक्सनेस एक इन्टरव्यू' में निर्मल जी लैक्सनेस नामक आइसलैण्डी कवि के सृजनात्मक व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हैं, "वही लैक्सनेस थे, हालदौर विलियन लैक्सनेस । किन्तु आइसलैण्ड में शायद ही कोई उन्हें इस नाम से पुकारता है । सब लोग स्कूल के बच्चों से लेकर टैक्सी-ड्राइवर तक - उन्हें विलियन के नाम से ही जानते हैं । 'श्री' और 'जी' के बोझ से मुक्त उनका यह छोटा हल्का-सा नाम कुछ इस खुले, आत्मीय ढंग से पुकारा जाता है कि लगता है जैसे वह साहित्य के नोबेल-पुरस्कार सम्पन्न लेखक न होकर कोई गली के पास-पडोसी है, जिनसे किसी भी क्षण गप-शप की जा सकती

---

३१ निर्मल वर्मा - चीडों पर चाँदनी, पृ.१३०

है ।''[३२] निर्मल जी ने लैक्सनेस से साक्षात्कार करते हुए समूचे आइसलैण्डी साहित्य पर भी प्रकाश डालने का प्रयास किया ।

काफ्का और चापेक

'काफ्का और चापेक : समकालीन चेकसाहित्य' में निर्मल जी ने इन दोनों के साहित्य पर समान रूप से दृष्टि डाली है क्योंकि उनके अनुसार ''दोनों का साहित्य एक ऐसी मानवीय (?) स्थिति से उत्पन्न हुआ है जो आत्यन्तिक रूप से एबसर्ड है - तर्कसंगत किन्तु अर्थहीन । आस-पास की दुनिया उनके लिए न केवल बहुत बडी थी, बल्कि बहुत संकीर्ण भी ।''[३३] इन दोनों के साहित्य पर प्रकाश डालने से चेकोस्लोवेकिया की विडंबनाग्रस्त स्थिति की झलक मिल जाती है । वहाँ का साहित्य सदियों से उस एक छोटे देश की विकट स्थिति से जुडी है । वह पूर्व और पश्चिम के बीच दबा रहकर सदियों से अपने व्यक्तित्व की खोज में संघर्षरत है । पिछले कई वर्षों से चेक संस्कृति पर रूसी प्रभाव दिखायी देता है । इसका कारण यह है कि चेक लेखक और दार्शनिक बौद्धिक चेतना और आध्यात्मिक सम्बल के लिए रूस को एक तीर्थस्थान मानते आये है । अत: चेक साहित्य पर तत्कालीन परिस्थितियों का विशेष प्रभाव पडा है, ''हर मानवीय स्थिति ने चेक साहित्यकारों के भीतर एक विशेष प्रतिक्रिया उजागर की है और हर प्रतिक्रिया ने चेक साहित्य को एक मूल्य, एक चरित्र प्रदान किया है ।''[३४]

सन् १६२० का समय चेक संस्कृति और जाति का अंधायुग कहा जाता है । उस समय 'सफेद पर्वत' में जो युद्ध हुआ उसमें चेक सेनाएँ पराजित हुईं और चेकोस्लोवेकिया अपनी स्वाधीन सत्ता खोकर तीन सौ वर्षों के लिए हैप्सबर्ग संस्कृति का महज़ एक प्रान्त बनकर रह गया । इस दौरान चेक संस्कृति का जर्मनीकरण करने और चेक भाषा का जर्मन

---

३२. निर्मल वर्मा - चीडों पर चाँदनी, पृ.१४१-१४२
३३. वही, पृ.१५०
३४. वही, पृ.१५३

भाषा द्वारा उन्मूलन करने का सतत प्रयास भी जारी रहा । उस समय बडी संख्या में चेक पुस्तकों को भी नष्ट कर दिया गया । इससे पता चलता है कि हिटलर के पहले ही चेक संस्कृति को नष्ट करने का प्रयत्न शुरू हो चुका था । हिटलर ने उसको सिर्फ अन्तिम सिरे तक ले जाने का कार्य ही किया है । प्रथम महायुद्ध की समाप्ति और द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ के बीच का समय कई दृष्टियों से चेक साहित्य का स्वर्णकाल है । क्योंकि इसी समय चेक लेखकों और कवियों की एक ऐसी पीढ़ी सामने आयी थी जिसने चेक साहित्य को अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर प्रतिष्ठित करने का स्तुत्य प्रयास किया । काफ्का और चापेक का नाम इस सन्दर्भ में बहुत उल्लेखनीय है । कारेल चापेक ने क था-साहित्य की नयी संभावनाओं को अपनी रचनाओं द्वारा खोजने की चेष्टा की । इसलिए कोई भी लेखक उनके प्रभाव से मुक्त होकर लिख नहीं पाता । निर्मल जी की दृष्टि में काफ्का बहुत महान लेखक हैं - "वास्तव में आज काफ्का को किसी देश या भाषा की सीमाओं में बाँधना उतना ही अवांछनीय होगा जितना उनके विकास और व्यक्तित्व को विशेष चेक परिस्थिति से अलग करके परखने की चेष्टा करना । काफ्का की डायरी, पत्रों और उपन्यासों में हमें अनेक प्रतीक मिलेंगे जिनका प्राग की गलियों, चौराहों और गिरजों से अन्तरंग संबन्ध है ।"[३५]

चेखॅव

'देहरी के भीतर : चेखॅव के पत्र' में निर्मल जी चेखॅव के पत्र पर प्रकाश डालते है । चेखॅव अपने पत्रों में अत्यन्त अलमस्त मौजी व्यक्तित्व लेकर आते हैं लेकिन उनकी कहानियों में अवसाद भरा वातावरण है । वे अपने पत्रों में अपने बारे में बहुत ही कम लिखते थे । इसलिए उनके पत्रों में उनकी बीमारी का जिक्र बहुत कम किया गया है । लेकिन उनमें अपने जीवन को पूर्ण रूप से निचोडकर जीने की लालसा विद्यमान है, "उनके

---

३५. निर्मल वर्मा - चीडों पर चाँदनी, पृ.१५७

पत्रों को पढकर लगता है कि वह अपनी ज़िन्दगी के हर क्षण को पूरी तरह निचोडकर भरपूर जी लेना चाहते थे । मानों उन्हें पहले से ही मालुम हो कि उनकी ज़िन्दगी ज्यादा लम्बी नहीं चलेगी ।''[३६] अपनी पत्नी ओल्गा से भी उन्होने अपने बारे में पूर्ण रूप से नहीं बताया है । वे उनके सामने भी पूर्ण रूप से खुल नहीं पाते थे । निर्मल जी मानते है कि जिन चीज़ों के प्रति चेखॅव के मन में तीव्र संवेदना और सहानुभूति होती थी उनके बारे में वे बहुत कम ही लिखते थे,''चेखॅव अपने पत्रों में हमेशा एक 'केज़्युअल' सा भाव रखते थे - जैसे कोई बर्फ की पतली-सी परत पर स्केट करता हुआ एक को छूकर दूसरे खम्बे की ओर बढ़ जाता है । आहत अभिमान, किसी गलतफहमी का दुःख, घरेलु परेशानियाँ, आलोचकों की निन्दा - भर्त्सना - ये सबकुछ ऐसे ऊँचे-नीचे तट हैं, जिन्हें छूकर उनके पत्रों का क्षणिक ज्वार अनेक पत्थरों को गीला करके अपने पुराने रत्तर पर लौट आता है ।''[३७] 'प्राग - एक स्वप्न' 'अँधेरे के खिलाफ' आदि में निर्मल जी ने चेक संस्कृति और जनता की त्रासद स्थिति को ही उजागर किया है । निर्मल जी के अनुसार चेक संस्कृति एक महान संस्कृति है जिसने अनेक विकट परिस्थितियों के बावजूद अपने अस्तित्व को बनाए रखा, ''यह चेक संस्कृति है, जो संकट की घोर निराशामय घडियों में भी अपना हथिरार खोज लेती है । जब तक हम इसे नहीं समझेंगे, चेक जाति हमेशा हमारो लिए परायी रहस्यमय और अभेद्य जान पडेगी ।''[३८] इस प्रकार निर्मल जी ने अपने यूरोप प्रवास के दौरान जिन जगहों की यात्रा की है जिन लेखकों, कलाकारों से मुलाकात की है उन सबसे रचनात्मक ऊर्जा ग्रहण की है । इसीकी वजह से उनकी रचनाएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण बन गयी हैं ।

---

३६. निर्मल वर्मा - चीडों पर चाँदनी, पृ.१६९
३७. वही, पृ.१७३
३८. निर्मल वर्मा - हर बारिश में, पृ.६७

डायरी

गद्य साहित्य की नई विधाओं में डायरी साहित्य का अपना महत्वपूर्ण स्थान है । इसमें समय और स्थान के अनुसार घटनाओं का वर्णन किया जाता है । ये घटनाएँ लेखक के व्यक्तित्व विश्लेषण में सहायक हो जाती हैं । इसमें लेखक किसी जगह, नगर, गाँव या व्यक्ति के बारे में लिखता है तो सचमुच शब्द चित्र ही निकल आते हैं । एक अच्छी डायरी में स्पष्टता, संक्षिप्तता, संगठितता, रोचकता आदि गुणों का समावेश होता है । डायरी में लेखक दिन, तिथि आदि के आधार पर अपने जीवन में घटित होनेवाली घटनाओं के साथ-साथ समकालीन धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियों का ज़िक्र भी करता है । यह लेखक की अपनी निजी संपत्ति होती है । इसलिए इसमें अभिव्यक्त भावनाओं और अनुभूतियों में निजता का अंश ज्यादा होता है । डायरी का प्रमुख उद्देश्य आत्मविवेचन और आत्मविश्लेषण होता है । इसीलिए इसमें लेखक का व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित होता है । हिन्दी की कुछ प्रमुख डायरियाँ है - इलाचन्द्र जोशी की 'डायरी के नीरस पृष्ठ', रामकुमाार वर्मा की 'वाराणसी की डायरी' गजानन माधव मुक्तिबोध की 'एक साहित्यिक की डायरी', अज्ञेय की 'भवन्ती', 'अन्तरा' और 'शाश्वती' निर्मल वर्मा की 'धुंध से उठती धुन' आदि । निर्मल जी के ही शब्दों में - ''डायरी में हमें लेखक की ऐसी आंतरिक अनुभूतियों की परतें खुलती दिखायी देती हैं, जो शायद उनके अपन्यासों - कहानियों में नही आ पाती ।''[३९]

अकेलेपन का अनुभूति स्तर

निर्मल जी अपनी रचनाओं में अकेलेपन के हिमायती लगते हैं । इस अकेलेपन को वे बाहर से थोपते नहीं । यह उनकी मूल मानविकता है । 'पीडा में पक्षी' में वे कहते हैं- ''अकेले रहने की तसल्ली है कि हमारे पास सिवा अपने के कुछ नहीं है, और मैं

---

३९. निर्मल वर्मा - मेरे साक्षात्कार, पृ.९०

अपने से सिवा लिखने के - कुछ भी नहीं कर सकता ।''[४०] वे अपने जीवन में अकेलेपन का सामना नहीं कर पाते - ''जिस दिन मैं अपने अकेलेपन का सामना कर पाऊँगा - बिना किसी आशा के - ठीक तब मेरे लिए आशा होगी, कि मैं, अकेलेपन में जी सकूँ ।''[४१] रील्के जैसे महान लेखकों की रचनाओं को पढ़कर उनके प्रभाव से ही निर्मल जी में भी अकेलेपन जैसी अनुभूति का समावेश हो गया है । उनके मन की आदिम अनुभूतियों को रील्के जैसे रचनाकारों की रचनाओं ने ज्यादा निखार प्रदान किया है - ''मैं रील्के के पत्र पढ़ता हूँ । वे इन दिनों मेरा एकमात्र संबल, सहारा हैं । मैं उन्हें 'पाठ' की तरह हर दिन पढ़ता हूँ, जैसे कोई रोगी समय के अनुसार औषध लेता है, अपनी पीडा से छुटकारा पाने के लिए नहीं बल्कि उसे साफ-सुथरा बनाने के लिए, जैसे हम किसी जंगल की झोंपडी बुहारते हैं, कुछ दिन वहाँ रहने के लिए,वहाँ से दुनिया को देखने, सहने के लिए । ये पत्र कहीं परोक्ष रूप से मेरे लिखने के साथ भी जुडे हैं इन दिनों अपने बारे में यह परम सत्य पाया है, कि मेरा अकेलापन वह यथार्थ है, जो मेरी 'फैन्टेसी' को रूपायित करेगा, सिर्फ उसे फार्म नहीं देगा, बल्कि उसकी त्वचा के नीचे अर्थ को खोजेगा, जो सिर्फ मेरा है और जिसे मैं 'यज्ञाहुति' की तरह उस पर चढा सकूँगा, जो मैं ने सृजित किया है, अर्थ जो चढ़ाया हुआ भोग भी है और बचा हुआ प्रसाद भी ।''[४२]

मानव जीवन में अकेलेपन की भावना उसके मूलभूत रूप में हमेशा जुडी रहती है । निर्मल का जीवन भी निरन्तर इस अकेलेपन की पीडा को झेल रहा है - ''एक घुटा दबा हुआ अवसाद, जिसका कोई कारण नहीं है, सिवाय इसके कि हर चीज़ मुझे किसी आतंक के घेरे में घसीट लाती है और मैं किसी धुन्धले से घर के कुए में बैठा रहता हूँ । आज सुबह साढे चार बजे मैं जाग गया; अकेलापन मैं ने पहले भी अनुभव किया है लेकिन ऐसा नहीं, मानों यह उसकी संपूर्ण और चरम स्थिति हो; क्या इससे कोई मुक्ति नहीं ? मैं उससे

---

४०. निर्मल वर्मा - धुंध से उठती धुन, पृ.१३
४१. वही, पृ.१९
४२. वही, पृ.४०

इस तरह बँधा हूँ जैसे कोई कुत्ता किसी जंजीर से बँधा होता है और जंजीर किसी खम्भे से । वह भौंकता है, भौंकता है, फिर थककर रिरियाने-सा लगता है, अपने भीतर एक घायल पशु की तरह पीडा भोगना, पीडा भोगता हुआ एक पीडित जानवर ....।''[४३] यही वह अकेलेपन की अनुभूति है जो निर्मल जी की कहानी और उपन्यासों में निरन्तर कायम रहती है ।

निर्मल जी अपनी रचनाओं में अकेलेपन को ही प्रमुखता देते हैं - ''मैं हमेशा अकेलेपन पर शोक करता रहा हूँ इसका छोटा-सा किंतु संपूर्ण अनुभव आज शाम हुआ सर्दियों का अंधेरा और तीन तरफ से बंद मेरा कमरा - सिर्फ दरवाज़े के परे कुछ तारे दिखाई दे जाते हैं, बाहर बिल्कुल शांति है और मैं प्रूस्त पढ रहा हूँ । न बच्चे, न कोई गृहस्थी, न कोई मित्र - कोई नहीं ।''[४४] इस प्रकार निर्मल जी अकेलेपन में पढना और लिखना चाहते है । यह अकेलापन उनके व्यक्तित्व का अंग बन गया है - ''मैं एक रेस्ट हाउस में ठहरता हूँ - जो एक उठान पर स्थित है । रेस्ट हाउस के सारे कमरे खाली पडे हैं । अकेला एक मैं हूँ । यह शायद मेरी नियति है - इंस्टीट्यूट के अकेलेपन से बचकर यहाँ के अकेलेपन में आना । मैं यह भी भूल गया हूँ कि मुझे अब अकेलेपन में कैसा लगता है । अब मैं उसके बारे में सोचता भी नहीं मानो वह मेरे 'होने' का ही अंग है, एक छाया जो हर जगह मेरे पीछे चलती है, एक अवसन्न छाया, आत्मा से जुडी हुई ।''[४५]

निर्मल जी अपने अकेले क्षणों को अत्यन्त स्वतंत्रता का क्षण मानते हैं - ''मैं जब अकेले में सोचता हूँ - यह मैं हूँ, यह क्षण मेरा है,यह मेरी जगह है; कोई मुझे इससे नहीं छीन सकता .... तो एक गहरी राहत और खुशी होती है - मैं स्वतंत्र हूँ और पूरी तरह

---

४३. निर्मल वर्मा - धुंध से उठती धुन, पृ.५९-६०
४४. वही, पृ.१९१
४५. वही, पृ.१८

अपनी स्वतंत्रता चख सकता हूँ । किन्तु जिस दिन कोई ऐसा क्षण आएगा, जब मैं यह सोच सकूँगा कि न यह मैं हूँ और न यह क्षण मेरा है, न मेरी अपनी कोई जगह है, न मैं जीवित हूँ , न मनुष्य हूँ .... इसलिए जो नहीं हूँ, उसे कौन मुझसे छीन कर ले जा सकता है ? जिस दिन मैं यह सोचूँ, उस दिन मैं मुक्त हो जाऊँगा, अपनी स्वतन्त्रता से मुक्त जो अन्तिम गुलामी है .... ।''[४६]

आत्मनिरीक्षण

कहीं कहीं इसमें निर्मल जी का आत्मनिरीक्षण भी झलकता है - ''अधिकांश समय यह बात मुझे सालती रहती है, कि जो मैं लिखता हूँ और जैसी ज़िन्दगी जीता हूँ उनके बीच कितनी गहरी खाई है । अगर मैं इन दो खण्डित टुकडों को अपने में नहीं जोड सकता तो कम-से-कम यह तो कर ही सकता हूँ कि मेरे 'सेल्फ' का वह भाग जो लिखता है, उसके लिए दु:ख उठा सके, जो जीता है ।''[४७]

मृत्यु-दर्शन

मृत्यु के बारे में वे कहते हैं - ''जब हम जवान होते हैं, हम समय के खिलाफ भागते हैं, लेकिन ज्यों-ज्यों बूढ़े होते जाते हैं, हम ठहर जाते हैं, समय भी ठहर जाता है, सिर्फ मुत्यु भागती है, हमारी तरफ ।''[४८] इस मृत्यु और मनुष्य की अस्मिता को जोडकर निर्मल जी एक महत्वपूर्ण सत्य की ओर इशारा करते हैं - ''जब तक तुम्हारा संपूर्ण अस्तित्व अर्थ की कामना नहीं करता, तब तक तुम एक मृत व्यक्ति हो । मुश्किल यह है कि जब तक मृत्यु का स्पर्श नहीं मिलता, तब तक हम अर्थ की कामना नहीं करते ।''[४९] साहित्य एक ऐसी वस्तु है जो पिछले कई वर्षों से निर्मल जी को उद्वेलित

---

४६. निर्मल वर्मा - धुंध से उठती धुन, पृ.१९८
४७. वही, पृ.७५-७६
४८. वही, पृ.१३
४९. वही, पृ.६०

करती रही हैं । राजनीती और धर्म से उन्हें जो आत्मशून्यता की अनुभूति होती है वह साहित्य के द्वारा दूर हो जाती है - "जब मैं पीछे मुडकर देखता हूँ तो लगता है, पिछले अनेक वर्षों से साहित्य मेरे ध्यान के केन्द्र में रहा है; दो और चीज़ें जो मुझे गहरे में उद्वेलित करती रही हैं वे राजनीती और धर्म रही हैं लेकिन वे मुझे उद्वेलित तभी करती हैं जब किसी-न-किसी रूप में साहित्य के क्षेत्र से टकराती है । मैं राजनीती में बहुत दूर नहीं जा सका, क्योंकि एक सीमा के बाद वह मुझे आत्मशून्यता के खोखल में धकेल देती है और धर्म की गहराई में उतरने से अपने को रोकता रहा, क्योंकि अंततोगत्वा उसकी 'अंतिमता' (एण्डनेस) मुझे एक गहरी वीरानी में डाल देती है, हालाँकि जब यही शून्यता और वीरानी राजनीति और धर्म से उठकर साहित्य में प्रवेश करती है तो कहीं गहरे आत्मानुभव का अंग जान पडती है ।"[५०]

प्रतिबद्धता

निर्मल वर्मा एक ऐसे लेखक हैं जो किसी विचारधारा के प्रति प्रतिबद्ध नहीं सिर्फ अपनी रचना के प्रति प्रतिबद्ध रहते हैं- "मैं शायद मनुष्य को उसकी यातना से छुटकारा दिलाने के लिए कुछ न कर सकूँ किंतु मुझे उन झूठी विचारधाराओं के भीतर अपनी आत्मा को स्वच्छ रखने का कोई अधिकार नहीं जो मनुष्य को उसकी यातना से मुक्ति दिलवाने का दावा करती हैं और उसे भी लंबा करती जाती हैं ।"[५१] इससे निर्मल जी की लेखकीय ईमानदारी झलकती है । क्योंकि वे अपनी रचनाओं के द्वारा किसी को कोई झूठी दिलासा नहीं देते । इस कारण लिखना निर्मल जी के लिए किसी विचारधारा को प्रश्रय देना नहीं बल्कि अपने अनुभवों और अनुभूतियों को उसकी पूरी प्रामाणिकता के साथ अभिव्यक्त करना है । इसीलिए उनकी रचनाओं में कोई आदर्श थोपा हुआ नहीं लगता । सब कुछ स्वाभाविक रूप से चलता रहता है ।

---

५०. निर्मल वर्मा - धुंध से उठती धुन, पृ.५६

५१. वही, पृ.५४

इस पुस्तक में कहीं कहीं उनके अपने अनुभव भी आते हैं जो उनके वैयक्तिक जीवन को उजागर करता है - "यूरोप में गरीबी की कितने यादे हैं। वियना से लंदन आते हुए जब मैं ने दो दिन से कुछ नहीं खाया था, सिर्फ ब्लैक कॉफी पीकर सारी यात्रा पूरी की थी। चैनल पार करते हुए स्टीमर पर लोगों को बियर पीते, सैंडविच खाते हुए देखता था तो वह दुनिया का सबसे अलौकिक और दुर्लभ आनन्द जान पडता था। नॉर्वेजियन कथाकार नुट हैम्सन का उपन्यास भूख पढ़ते हुए मेरा विश्वास और भी पक्का हो गया, कि बिना भूखे रहे कभी भूख को नहीं जाना जा सकता, जैसे बिना फैक्टरी के काम किए मज़दूर की थकान को नहीं जाना जा सकता, जिसका सत्य सीमोन वेल ने जाना था।"[५२]

लिखने के पीछे

लिखने के पीछे के लक्ष्य की ओर इशारा करते हुए निर्मल जी कहते हैं - "एक दिन हम मर जाएँगे। फिर उस 'पूँजी' का क्या होगा, जिसके बारे में हमें भ्रम है, कि हमने उसे लिखने से अर्जित की है। हम जो अपनी ज़िन्दगी में एक मील खो देते हैं, उसे एक इंच पा लेना चाहते हैं, अपने लिखने के कागज़ पर - और यह ईमानदारी से खोई हुई ज़मीन को पाने का प्रयास भी नहीं है। क्योंकि हमारा - मेरा - जीना न तो मृत्यु के आतंक से संचालित होता है, न उस पश्चाताप से जो टॉलस्टॉय को लिखने के लिए प्रेरित करता था। मैं एक बर्फ-सी जमी हुई उदासीनता में जीता हूँ। जो ऊपर से काव्यात्मक दिखाई देती है, किंतु जो असलियत में गति का ड्रामा अवरोधित कर देती है, जहाँ फैसला लिया जाता है, पाप किया जाता है और उसकी असहनीय पीडा भोगनी होती है। मैं इससे बचकर निकलना चाहता हूँ। जो आदमी कीचड से बचकर निकलना चाहता है, कविता उसके पास नहीं आती, क्योंकि कविता अपने भीतर के नाटक और दुःस्वप्नों से उत्पन्न होती है, उदासीनता से नहीं। उदासीनता मृत्यु है। एक दिन ऐसा

---

५२. निर्मल वर्मा - धुंध से उठती धुन, पृ.५०

आएगा कि हम अपने को बचाते-बचाते अचानक देखेंगे कि बचाने की कोशिश में सब कुछ गंवा दिया है । यह ज़िन्दगी का हमारे लिखने से सही प्रतिशोध होगा - न कम, न ज्यादा । सही । ।''[५३] काफ्का की डायरी के कुछ अंशों के सन्दर्भ में निर्मल जी की लेखन सम्बन्धी मान्यता और स्पष्ट हो उठती है । '' लिखने का मतलब है, अपने को अतिरेक में दिखाना, इसलिए लिखते समय कितना ही अकेलापन हो, वह काफी अकेलापन नहीं है, कितनी ही खामोशी हो, वह काफी खामोशी नहीं है, कितनी ही रात हो, वह काफी रात नहीं हे, लिखते समय सारा समय भी कम समय है क्योंकि सडकें लंबी है - और कभी भी रास्ते से भटका जा सकता ।''[५४] कहानी लेखन के अनुभव को वे यों व्यक्त करते हैं - ''कहानी लिखते समय महसूस होना कि तुम मृत्यु के इस ओर से ज़िन्दगी को देख रहे हो, इन समस्त खंडित टुकडों को याद करते हुए जिनसे तुम्हारी ज़िन्दगी की 'संरचना' बनी है - उन्हें तरतीब देना, जो दरअसल जीने के क्षणों की तरतीब नहीं है, बल्कि एक ऐसा प्राइवेट पैटर्न है, जो तुमसे पहले के चारों तरफ फैले संसार को एक अनूठी अर्थवत्ता में बाँधता है, एक आर्किटाइप छवियों का जाला, जिसे हर कहानी अपने भीतर तानती है । मैं उस जाले के भीतर हूँ, जितना भीतर हूँ, उतना सच है । मेरा सच नहीं, उस कहानी का सच, जिसके भीतर मैं हूँ ।''[५५]

उपन्यास लेखन के बारे में उनका दृष्टिकोण 'हार्वर्ड डायरी' में व्यक्त हुआ है - ''मेरा उपन्यास (?) एक महीना पहले - जब मैं यहाँ आया था - इसी, ऐसी ही धुँधली आकांक्षा में जन्मा था । वह हर रोज़ हर पन्ने पर अपनी शक्ल गढ़ता है - बिना अपना भेद खोले - कि उसका अन्तिम आकार कैसा होगा ।''[५६]

---

५३. निर्मल वर्मा - धुंध से उठती धुन, पृ.७१
५४. वही, पृ.४२
५५. वही, पृ.६७
५६. वही, पृ.१६५

एक दूसरी जगह पर वे कहते हैं - "इस उपन्यास के बारे में एक अजीब बात हुई इसे लिखते हुए न मुझे कोई चिंता होती है न खुशी । हर सुबह सिर्फ मैं अपनी मेज़ पर रखी नोटबुक की खाली स्पेस के सामने निस्संग भाव से बैठ जाता हूँ । यह कुछ वैसा ही है जैसे कोई बच्चा एक कदम लेता है, फिर दूसरा, कुछ-कुछ डोलता, डगमगाता हुआ, न जानता हुआ कि उसका अगला कदम कहाँ टिकेगा अपनी बेडौल लय से बँधा हुआ । मैं पीछे मुडकर जो लिखा है, उसे पढ़ते हुए घबराता हूँ, डरता हूँ कि एक विराट मरुस्थल में कही रास्ते से भटक तो नहीं गया हूँ या - एक भूखंड के इर्द-गिर्द ही तो चक्कर नहीं लगा रहा हूँ, जहाँ बदलते हुए दृश्य गतिमयता का लक्षण नहीं, सिर्फ उसका भ्रम उत्पन्न करते हैं ।"[५७]

उपन्यास के बारे में वे लिखते हैं - "उपन्यास लिखना एक तरह से आँख - मिचौनी का खेल है - किंतु उसके नियम उस खेल से बिल्कुल उलटे हैं, जो हम बचपन में खेलते थे; लिखते हुए हम घंटों इधर-उधर भटकते रहते हैं, जो ढूँढ रहे हैं, वह कहीं दिखायी नहीं देता; सिर्फ अचानक वह किसी झाडी की ओट में, किसी चट्टान के पीछे बैठा दिखाई दे जाता है, किन्तु यह वह नहीं है जिसे हम ढूँढ रहे थे, यह वह है, जो हमारी तलाश में बैठा था .... ।"[५८]

संगीत और चित्रकला

निर्मल जी सिर्फ लिखते ही नहीं उनको संगीत और चित्रकला से भी गहरा लगाव है - "चित्र-गैलरियों और संगीत समारेहों में जाने पर, मुझे धुँधला-सा बोध हुआ कि कलाकृति सिर्फ आन्तरिक अनुभूतियों को स्फुरित करने का साधन नहीं है, वह उससे कुछ अधिक है, वह उस वस्तुगत सच्चाई से हमारा साक्षात् कराती है, जो एक चित्र या

---

५७. निर्मल वर्मा - धुंध से उठती धुन, पृ.१७८-१७९

५८. वही, पृ.१९७

संगीत-रचना में मूर्तिमान होती है, जिस पर हमें अपनी अन्तर्मुखी भावनाओं को प्रक्षेपित नहीं करना चाहिए । इसी में एक कलाकृति का सौन्दर्य और उसके सत्य का रहस्य निहित है । दूसरे शब्दों में वह सीधे अपना सत्य हम तक संप्रेषित कर सके, इसके लिए हमें अपने अंतर्मुखी आग्रहों और अवरोधों को रास्ते से हटाना होगा ।''[५९]

निर्मल संगीत भी पसन्द करते हैं । संगीत उनके अन्तर्मन में हमेशा विद्यमान रहता है । इसलिए उनकी हर रचना में संगीत का प्रभाव दिखाई देता है - ''कल रात मैं ध्रुपद संगीत सुनकर रवीन्द्र भवन से बाहर निकला । मेरा मन एक चीखती, बुलाती हुई विह्वलता से भरा हुआ-देह, स्वर, आत्मा के बीच खिंची, तनी उठती हुई व्याकुलता जो मैं ने ध्रुपद से पायी है, इन दिनों, और मैं भीतर ही भीतर चमत्कृत हो उठता हूँ कि जिस संगीत का 'व्याकरण' मैं बिल्कुल नहीं जानता, वह मुझे इतना झटके से झिंझोड सकती है और तब मैं सोचने लगता हूँ कि 'जातीय स्मृति' - जहाँ तक इस देश का प्रश्न है - सबसे ज्यादा भारतीय संगीत में धँसी है मैं प्रार्थना कर रहा था कि भोपाल - आवास में मुझे कुछ ऐसी ही एकाग्र, एकनिष्ठ स्थिरता प्राप्त हो सके, जो अभी कुछ देर पहले संगीत सुनते हुए मिली थी, समय की समयहीन गति, तलहीन ताल जो ईश्वर की लय है, मनुष्य के भीतर ।''[६०]

आस्था

निर्मल एक ऐसे लेखक है जो हमेशा अपनी आस्था और मृत्यु के बीच झूलते रहते हैं - ''जब हम अपनी आस्थाओं की धरती से मृत्यु को देखते हैं - तो वह कितनी सह्य और सहज जान पडती है; जब हम मृत्यु - अपनी मृत्यु की ज़मीन से - अपनी आस्थाओं को देखते हैं, तो वे कितनी गरीब और संदिग्ध दिखाई पडते हैं मैं चूँकि

---

५९. निर्मल वर्मा - धुंध से उठती धुन, पृ.२२

६०. वही, पृ.६८

हमेशा अपनी आस्था और मृत्यु के बीच भटकता रहता हूँ, न मुझमें आस्थावान का सुख उपलब्ध है, न आस्थाहीन व्यक्ति की साहसपूर्ण पीडा - मैं केवल सुत्र हो सकता हूँ, जब हर चीज़ अर्थहीन जान पडती है अथवा दुर्लभ क्षणों में एक्स्टेसी का अनुभव - जब सब चीज़े सहसा एक अलौकिक आलोक में सही और सच्ची दिखायी देने लगती है इन दो चरम क्षणों के बीच सन्देह ही ऐसा है, जो शाश्वत रहता है - और मुझे नहीं छोडता ।''[६१] वे अपने बिताई गयी ज़िन्दगी को बिल्कुल अर्थहीन समझते हैं - ''जब मैं अपने विगत जीवन के बारे में सोचता हूँ - तो वे सब घर याद आते हैं, जहाँ मैं रहा था, नए शहर और लम्बी यात्राएँ और पुराने मित्र, लोगों के चेहरे, जो बरसों पहले इस दुनिया को छोडकर चले गए और वे लोग, जो अब भी इस दुनिया में हैं, लेकिन जो हमारी ज़िन्दगी में कभी नहीं आएँगे - पढ़ी हुई किताबें, छोडे हुए घर, छूटे हुए रिश्ते ....कोई अंत है ? उनके बारे में सोचता हूँ, तो अपनी ज़िन्दगी कितनी लंबी जान पडती है लेकिन जब मैं अपने से पूछता हूँ, कि इतनी लम्बी ज़िन्दगी ने मुझे क्या सिखाया - तो लगता है, कि मैं ने अपना जीवन अभी शुरू नहीं किया .... मैं उन लोगों में हूँ, जो मृत्यु के क्षण तक अपने जन्म की प्रतीक्षा करते रहते हैं ।''[६२]

डायरी लेखन निर्मल वर्मा के लिए सबसे प्रिय काम है । क्योंकि डायरी में वे एक तरह से अपने अन्तरतम को, सृजनात्मक क्षणों के अनोखे सन्दर्भों को अनावृत कर देते हैं - ''अभी उपन्यास लिखते हुए - आधे वाक्य के बीच -मेरी नज़र डायरी पर पड गयी । एक अजीब-सा सुख और कृतज्ञता का भाव उमग आया । यह डायरी मेरी कितनी यात्राओं और यातनाओं के साथ रही है; अच्छे-बुरे समय में मेरा साथ निभाती रही है; पिछले कई दिनों से मैंने इसे छुआ भी नहीं, फिर भी आँखों के सामने पडते ही एक आत्मीय, अवसाद-भरा रिश्ता जाग जाता है; कौन कहता है, अचर चीज़ें अजीवन्त होती

---

६१. निर्मल वर्मा - धुंध से उठती धुन, पृ.१९९

६२. वही, पृ.१८५

है । हमारी पुरानी कॉपियाँ, टाइमपीस, फाउण्टेन पेन, ग्रामफोन - हमारी एश-ट्रे और पुराना स्वेटर - इन सबके भीतर उनकी वफादारी एक स्नेह - सिक्त दीये-सी जलती रहती है । वे अपने अकेलेपन को हम पर शहीद कर देती है, ताकि उनके साथ रहकर हम सुरक्षित महसूस कर सके ।''[६३] इस प्रकार डायरी में निर्मल वर्मा का अंतरंग रिश्ता खुल जाता है । डायरी उनका जीवन साथी है । अच्छे बुरे दिनों की परवाह किये बिना सदा साथ देनेवाला जीवन साथी ।

जाहिर है कि निर्मल जी का जीवन एक लंबी यात्रा है । इन यात्राओं में उन्होंने मानव जीवन की विविधता को पहचान लिया, उसकी सांस्कृतिक, राजनीतिक, भौगोलिक अंतर्धाराओं का निरीक्षण किया । इन सबसे ऊर्जा ग्रहण करते हुए उन्होंने देश-काल के सरहदों के परे के मानव चरित्र का चित्र प्रस्तुत किया है । अत: संस्मरणों एवं डायरियों में उन्होंने अपने ढंग से मनुष्य को तलाशने का जोखिम भरा कार्य निभाया है ।

---

६३. निर्मल वर्मा - धुंध से उठती धुन, पृ.१८५

उपसंहार

उपसंहार

रचना रचनाकार की जीवन्तता का लक्षण है । उन्होंने अपने जीवन में जो कुछ अनुभ किया है, उसको संप्रेषित करने का सशक्त माध्यम है रचना । निर्मल वर्मा की रचनाएँ उन जीवन के अनुभवों का सही दस्तावेज हैं । साहित्य की ऐसी कोई विधा नहीं है जिसमें निर्मल ने अपनी लेखनी न चलायी हो । वे चिन्तक तथा सृजनकार हैं । वे एक ऐसे रचनाकार हैं अपनी रचना के प्रति पूर्णत: प्रतिबद्ध हैं । बचपन से ही उन्हें प्रतिभाधनी रचनाकारों व रचनात्मकता का सतत संपर्क प्राप्त हुआ था । उनके रचनात्मक व्यक्तित्व के रूपायन में इनव योगदान कम नहीं है ।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में जिस आधुनिक भावबोध का जन्म एवं पल्लवन हुआ था उसको निर्मल वर्मा ने अपने उपन्यासों के ज़रिए शिखरता प्रदान की है । जीवन की प्रतिकूलताएँ ह मनुष्य को अपने जीवन की वास्तविकता के बारे में सोचने-विचारने के लिए विवश कर डालत हैं । भारत की जनता ने स्वाधीनता प्राप्ति की खुशी तथा तदुपरान्त की त्रासद स्थिति को झेला है इसलिए वे नए सिरे से जीवन को देखने एवं परिभाषित करने के लिए विवश हुए । इसका परिणा है स्वाधीनता परवर्ती उपन्यास । निर्मल वर्मा ने इस जीवन यथार्थ को गहरे में संप्रेषित किया है उन्होंने पहचान लिया कि भारतीय जनता मोहभंग के कारण अपने को नितांत बेसहारा पाती है युद्ध ने मानव जीवन को इतना ध्वस्त कर डाला कि व्यक्ति जीवन को ढ़ोने की स्थिति में पहूँच गय है । यह अलगाव वास्तव में उसकी सच्चाई है, उसकी संरचना के साथ जुडी हुई अनिवार्यता है लेकिन वह निरन्तर इससे छुटकारा पाने की कोशिश करता रहता है । इस विसंगत स्थिति ने स्त्री पुरुष संबन्धों में अनेक दरारें पैदा की हैं । इस खास परिस्थिति में विवाह जैसी संस्था संदिग्ध र गयी । स्त्री-पुरुष संबन्धों की पुरानी नैतिकता का ह्रास होने लगा । इस प्रकार स्त्री-पुरुष संबन्ध

के नए यथार्थ को भी निर्मल जी ने अपने उपन्यासों में अभिव्यक्त किया है । इस प्रकार अनिश्चितता के वातावरण में डँवाडोल होनेवाला मनुष्य जीवन को एक अभिशाप मानकर जिन्दगी के पग पग पर मृत्यु का एहसास करता है । वह मृत्यु को ही अन्तिम सत्य मानने लगता है । निर्मल वर्मा के पात्रों में यह मानसिकता ज़ोरों पर है । इस प्रकार निर्मल जी के उपन्यासों में मानवीय अस्तित्व की उन इकाइयों को अभिव्यक्ति मिली है जिनसे जूझकर मनुष्य दिन-ब-दिन अपनी ज़िन्दगी को झेलता रहता है ।

मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर आदि के उपरान्त निर्मल वर्मा भी नयी कहानी आन्दोलन से जुड जाते हैं । 'नयी कहानी' आन्दोलन का उदय भी स्वतंत्रतापरवर्ती परिवेश में हुआ था । इसलिए उसमें भी तत्कालीन समाज के मोहभंग की स्थिति का प्रभाव पडा है । इस कारण निर्मल वर्मा की कहानियों के पात्र भी अपने उपन्यासों के पात्रों के समान ज़िन्दगी से एक प्रकार का रुखापन महसूस करते हैं । इसके पात्र भी अपने-अपने अकेले कोनों में जीवन व्यतीत करने में ज़्यादा तत्पर दिखायी देते हैं । इनका अकेलापन इन्हें सालता रहता है । लेकिन वे चाहकर भी किसी से जुड नहीं पाते । क्योंकि मानवीय संबन्ध इतने ढ़ीले पड चुके हैं कि उनमें किसी से जुडकर जीने की लालसा खत्म हो गयी है । आज संबन्धों की अर्थवत्ता खो चुकी है । इसलिए मनुष्य इस परिस्थिति में पूर्ण रूप से विसंगत जीवन झेल रहा है । लेकिन हमेशा ये पात्र इस विसंगति से उभर आने की कोशिश करते हैं । यह कोशिश दरअसल उसकी अस्मिता की तलाश ही है । इस नये कथ्य की अभिव्यक्ति के लिए निर्मल ने उपयुक्त शैली का भी प्रयोग किया है ।

निर्मल वर्मा ने कथासाहित्य के साथ-साथ चिन्तन प्रधान निबन्ध लिखकर अपनी बौद्धिकता का परिचय दिया है । उनके इन चिन्तन प्रधान निबन्धों ने साहित्य, कला, समाज, राजनीति, संस्कृति, धर्म, इतिहास, परंपरा आदि के संबन्ध में अपने सुस्पष्ट विचार व्यक्त किए गए हैं । पूर्व और पश्चिम की संस्कृति की समानताओं तथा विभिन्नताओं को दर्शाते हुए उन्होंने

भारतीय संस्कृति की अक्षुण्णता को प्रतिपादित करने का स्तुत्य प्रयास किया है । उनके अनुसार भारतीय संस्कृति की सबसे बडी विशेषता उसका आत्म-बोध है । निर्मल जी ने अपने इन निबन्धों के ज़रिए वर्तमान सन्दर्भ में लेखक की स्वतंत्रता पर भी विचार किया है । यह साहित्य के प्रति उनके गहरे सरोकार का परिचायक भी है ।

यात्रावृत्त और डायरी के ज़रिए निर्मल जी ने अपनी यात्रा के अनुभवों तथा जीवन के बिलकुल निजी क्षणों को भी अभिव्यक्त किया है । लन्दन, बर्लिन, चेक, प्राग जैसी जगहों से उन्होंने जो अनुभव प्राप्त किया था उसका प्रभाव ही वास्वत में उनके कथासाहित्य पर पडा है । उन जगहों की संस्कृति, राजनीति, भाषा, जनता, धर्म, साहित्य आदि से उनका निकट संपर्क हुआ है । इसने उनके निबन्धों को काफी गंभीर बना दिया । उसी प्रकार उन्होंने अपनी जिन्दगी के अनुभव क्षणों को डायरी के पन्नों में समेटकर अपनी सृजनात्मकता को ज़्यादा निखार प्रदान किया है । इनमें उनका अपना व्यक्तित्व ही झलकताहै । इसको पढने पर पाठकों को उनके जीवन के विभिन्न परतों की खुली छवि नज़र आती है। इसमें बिना किसी काल्पनिक पात्र के अपने अनुभवों को व्यवस्थित रूप में अभिव्यक्त किया गया है । इसमें कुछ ऐसे प्रसंग भी हैं जिनसे लेखकीय जीवन के अन्तरंग क्षणों का पता चलता है । संक्षेप में निर्मल जी एक ऐसा रचनाकार है जिन्होंने अपने जीवन के अनुभूत एवं ज्ञात क्षणों को पुन:सृजित करके अपने समय के साथ सार्थक संवाद किया है ।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

निर्मल वर्मा की रचनाएँ

उपन्यास

१. वे दिन — राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पाँचवाँ सस्करण, १९८९

२. लाल टीन की छत — राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, तृतीय संस्करण, १९८९

३. एक चिथडा सुख — राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७९

४. रात का रिपोर्टर — राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, तृतीय संस्करण, १९९२

५. अंतिम अरण्य — राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला संस्करण, २०००

कहानी संग्रह

६. परिन्दे — राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पाँचवाँ संस्करण, १९८९

७. जलनी झाडी — राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, चतुर्थ संस्करण, १९७९

८. पिछली गर्मियों में — राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६८

९.	बीच बहस में	राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण, १९९१
१०.	कव्वे और कालापानी	राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, तृतीय संस्करण १९८९
११.	मेरी प्रिय कहानियाँ	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली,
१२.	प्रतिनिधि कहानियाँ	राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, तृतीय संस्करण, १९९०
१३.	सूखा तथा अन्य कहानियाँ	राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण १९९५

निबन्ध संग्रह

१४.	शब्द और स्मृति	राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, द्वि. सं. १९७९
१५.	कला का जोखिम	राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, द्वि.सं.१९८४
१६.	ढ़लान से उतरते हुए	राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, दू. सं.१९८८
१७.	इतिहास स्मृति आकांक्षा	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, दू.सं.१९९६
१८.	भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र	राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र. सं. १९९१
१९.	शताब्दी के ढ़लते वर्षों में	राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र. सं. १९९५
२०.	दूसरे शब्दों में	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र.सं.१९९७
२१.	आदि अंत और आरम्भ	राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र.स. २००१

यात्रावृत्त और डायरी

२१.	चीडों पर चाँदनी	राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, ती. सं. १९८८
२२.	हर बारिश में	राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र. सं. १९७०
२३.	धुंध से उठती धुन	राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प. सं. १९९७

गद्य संकलन

२४.	दूसरी दुनिया	संभावना प्रकाशन, हापुड, प्र. सं. १९७८

साक्षात्कार

२५.	मेरे साक्षात्कार	किताब घर, नयी दिल्ली, प्र. सं. १९९९

आलोचनात्मक ग्रन्थ

२६.	अधूरे साक्षात्कार	नेमीचन्द्र जैन वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, द्वि. सं. १९८९
२७.	आत्मनेपद	अज्ञेय भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्र.सं.१९६०
२८.	आखिर रचना क्यों	गजानन माधव 'मुक्तिबोध' राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र. सं. १९८२
२९.	आधुनिक हिन्दी साहित्य	सच्चिदानन्द वात्स्यायन राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, प्र. सं. १९७६
३०.	आधुनिक हिन्दी उपन्यास	नरेन्द्र मोहन दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड,दिल्ली, प्र. सं. १९७५

३१. आधुनिक हिन्दी साहित्य मूल्य और मूल्यांकन
निर्मला जैन
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र. सं.१९८०
३२. आधुनिक हिन्दी कहानी सं. गंगाप्रसाद विमल
दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड,
प्र. सं. १९७८
३३. आधुनिकता और हिन्दी उपन्यास इन्द्रनाथ मदान
३४. आधुनिक हिन्दी उपन्यास सृजन और आलोचना
चन्द्रकान्त बांदिवडेकर
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली,
प्र.सं.१९८५
३५. आधुनिकता और समकालीन रचना सन्दर्भ
डॉ. नरेन्द्र मोहन
आदर्श साहित्य प्रकाशन, दिल्ली,
प्र. सं. १९७३
३६. आधुनिकता के प्रतिरूप धनंजय वर्मा
विद्याप्रकाशन मन्दिर, नयी दिल्ली,
प्र. सं. १९८६
३७. आधुनिकता के बारे में तीन अध्याय धनंजय वर्मा
विद्याप्रकाशन मन्दिर, नयी दिल्ली,
प्र. स. १९८४
३८. आधुनिकता और सृजनात्मक साहित्य इन्द्रनाथ मदान
राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली,
संस्करण १९७८
३९. आज और आज से पहले कुंवर नारायण
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली,
प्र.सं. १९९८
४०. आज का हिन्दी साहित्य प्रकाशचन्द्र गुप्त
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली,
प्र. सं. १९६६
४१. आज की हिन्दी कहानी डॉ. धनंजय
अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद,
प्र. सं.१९६९

४२.	आज का साहित्य संवेदना-दृष्टि	रामदरश मिश्र अभिनव प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं.१९७५
४३.	उपन्यास का पुनर्जन्म	परमानन्द श्रीवास्तव वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र. सं.१९९५
४४.	उपन्यास स्थिति और गति	डॉ.चन्द्रकान्त बांदिवडेकर वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण १९९३
४५.	उपन्यास की शर्त	जगदीशनारायण श्रीवास्तव किताबघर, नयी दिल्ली, प्र. सं.१९९३
४६.	ऊहापोह : साहित्य समाज और संस्कृति-	गिरिधर राठी राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र.सं.१९९८
४७.	एक दुनिया समानान्तर	राजेन्द्र यादव अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, ती.सं.१९७४
४८.	औरों के बहाने	राजेन्द्र यादव अक्षर प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र. सं.१९८१
४९.	कथा पुरुष	मदन सोनी वाग्देवी प्रकाशन,बीकानेर, प्र.सं.२०००
५०.	कथारंग	सुरेन्द्र तिवारी किताबघर, दिल्ली, प्र.सं.१९८७
५१.	कहना न होगा	संकलन संपादन समीक्षा ठाकुर वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण १९९४
५२.	कहानी अनुभव और अभिव्यक्ति	राजेन्द्र यादव वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली,प्र.सं.१९९६
५३.	कहानी संवाद का तीसरा आयाम	बटरोही नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, प्र.सं. १९८३
५४.	कहानी : नयी कहानी	डॉ. नामवर सिंह लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद,प्र.सं.१९६६
५५.	कहानी की बात	मार्कण्डेय लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद,प्र.सं.१९८४

५६.	कहानी स्वरूप और संवेदना	राजेन्द्र यादव नेशनल पबिलर्शिंग हाउस,नयी दिल्ली,
५७.	कहानी - अनुभव और अभिव्यक्ति	रानेन्द्र यादव वाणी प्रकाशन, नयीदिल्ली, प्र.सं.१९९६
५८.	गद्य की नई विधाओं का विकास	माजदा असद ग्रंथ अकादमी, नयी दिल्ली,प्र.सं.१९९१
५९.	देश धर्म और साहित्य	विद्यानिवास मिश्र राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र.सं.१९९२
६०.	द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास	डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली,
६१.	धर्म और सांप्रदायिकता	नरेन्द्र मोहन प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं.१९९६
६२.	नदी नारी और संस्कृति	विद्यानिवास मिश्र राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र.सं.१९९३
६३.	नयी कहानी संदर्भ और प्रकृति	डॉ. देवीशंकर अवस्थी राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र.सं.१९७३
६४.	नयी कहानी दशा दिशा संभावना	सुरेन्द्र अपोलो पब्लिकेशन, जयपूर, सं.१९६६
६५.	नयी कहानी की भूमिका	कमलेश्वर शब्दकार प्रकाशन, दिल्ली, सं.१९७८
६६.	नये उपन्यासों में नये प्रयोग	डॉ. दंगल झाल्टे प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, सं.१९९४
६७.	निर्मल वर्मा	संपादक अशोक बाजपेयी राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र.सं.१९९०
६८.	निर्मल वर्मा : सृजन और चिंतन	संपादक डॉ. प्रेमसिंह साहित्य सहकार, दिल्ली, प्र.सं.१९९५
६९.	परंपरा का मूल्याङ्क न	रामविलास शर्मा राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र.सं.१९८१
७०.	बकलमखुद	मोहन राकेश राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, प्र.सं.१९७४
७१.	बीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध - हिन्दी कहानी	डॉ. नरेन्द्र मोहन कादम्बरी प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं.१९९६

७२.	भारतीय संस्कृति	नरेंद्र मोहन प्रभात प्रकाशन, नयी दिल्ली,सं.१९९९
७३.	मोहन राकेश की डायरी	राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, सं.१९९२
७४.	रचना के सरोकार	विश्वनाथ प्रसाद तिवारी वाणी प्रकाशन, दिल्ली, द्वि.सं.१९९६
७५.	रचना का पक्ष	नंदकिशोर नवल, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र.सं.२०००
७६.	राकेश और परिवेश पत्रों में	संपादक : जयदेव राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र.सं.१९९५
७७.	विद्रोह और साहित्य	संपादक : नरेन्द्र मोहन, देवेन्द्र इस्सार साहित्य भारती, दिल्ली, प्र.सं.१९७४
७८.	विवेक के रंग	देवी शंकर अवस्थी वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, सं.१९९५
७९.	विषादयोग	कुबेरनाथ राय नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, प्र.सं.१९७३
८०.	शब्द और कर्म	मैनेजर पाण्डेय वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, परिवर्द्धित संस्करण १९९७
८१.	समकालीन कहानी की पहचान	डॉ.नरेन्द्र मोहन प्रवीण प्रकाशन नयी दिल्ली, सं.१९८७
८२.	समकालीन साहित्य : एक नई दृष्टि	इन्द्रनाथ मदान लिपि प्रकाशन, दिल्ली,
८३.	समकालीन हिन्दी उपन्यास की भूमिका	डॉ. रणवीर रांग्रा जगतराम एण्ड सन्स, दिल्ली, सं.१९८६
८४.	समकालीन हिन्दी उपन्यास	डॉ. विवेकी राय राजीव प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं.१९८७
८५.	सर्जन और संप्रेषण	संपादक : सच्चिदानन्द वात्स्यायन नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, प्र.सं. १९८४
८६.	साहित्य का खुला आकाश	विद्यानिवास मिश्र प्रभात प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र.सं.१९९६

८७. साहित्य पहचान और पहूँच — भगवतीचरण सिंह
प्रभात प्रकाशन, नयी दिल्ली, सं.१९९८

८८. साहित्य और संस्कृति — मोहन राकेश
राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र.सं.१९७५

८९. सिक्का बदल गया — नरेंद्र मोहन
सीमान्त पब्लिकेशन, दिल्ली, सं.१९७५

९०. सिलसिला — मधुरेश
प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, प्र.सं.१९७९

९१. सोबती एक सोहबत — कृष्णा सोबती
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली,
प्र.सं.१९८९

९२. संवाद और एकालाप — मलयज
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली,
प्र.सं.१९८४

९३. सृजनशीलता का संकट — डॉ.नित्यानन्द तिवारी
राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र.सं.१९९१

९४. हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा — रामदरश मिश्र
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली,
पुनर्मुद्रित संस्करण १९९२

९५. हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियाँ — डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, सं.१९७०

९६. हिन्दी कहानी : उद्भव और विकास — डॉ.सुरेश सिन्हा
अशोक प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं.१९६७

९७. हिन्दी कहानी (अपनी ज़बानी) — डॉ. इन्द्रनाथ मदान
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं.१९६८

९८. हिन्दी कथा साहित्य - समकालीन संदर्भ
डॉ. ज्ञान अस्थाना
जवाहर पुस्तकालय, नयी दिल्ली,प्र.सं.१९८१

९९. हिन्दी साहित्य का इतिहास — डॉ. नगेन्द्र

१००. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास — डॉ. बच्चन सिंह
राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, सं.२०००

१०१. हिन्दी साहित्य संवेदना का विकास — रामस्वरूप चतुर्वेदी
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.

English Reference Books

102. Modernity and contemporary Indian literature
Indian Institute of Advanced Study,
Simla, First Edition 1968

103. The Myth of Sysyphus Albert Camus

104. Indian literature since Independence - A Symposium
K.R. Srinivasa Iyengar
Sahitya Akademy publication, 1973

पत्र-पत्रिकाएँ

१.	अक्षरा	जूलाई-सितम्बर, १९९९
२.	आजकल	जूलाई, २०००
३.	आलोचना	जूलाई-सितम्बर, २००१, अंक -६
४.	तत्भव	अक्तूबर, २००१
५.	दस्तावेज़	जूलाइ-सितम्बर, १९९९
६.	**दस्तावेज़**	**अंक - ८८**
७.	दस्तावेज़ - ९५	अप्रैल-जून, २००२
८.	पूर्वग्रह - ६८	मई-जून, १९८५
९.	पूर्वग्रह	मार्च-अप्रैल, १९९०, अंक - ९७
१०.	प्रकर	मई जून १९७३ अंक - ३
११.	मधुमती	मई २००२, अंक - ५
१२.	माया	मई, २०००
१३.	वसुधा - ५१	अंक, जूलाई-सितम्बर, २००१
१४.	वागर्थ	जूलाई २००१